ब्रह्मसूत्र

(शारीरक भाष्य) प्रवचन • 2

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

ॐ

ब्रह्मसूत्र प्रवचन

(ब्रह्मसूत्रके शारीरक भाष्यपर प्रवचन)

द्वितीय भाग

[समन्वयाधिकरण]

•

प्रवचनकर्ता :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रस्तुत कर्ता : 'विष्णु'

•

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

द्वितीय संस्करण : जुलाई 1988
तृतीय संस्करण : 1100
संन्यास जयन्ती, माघ शुक्ल एकादशी, सं. 2060
2 फरवरी 2004
चतुर्थ संस्करण
संन्यास जयन्ती, 14 फरवरी 2011
पंचम संस्करण : होली 2014
षष्ठ संस्करण : 1100
दिसम्बर 2016

© सर्वाधिकार सुरक्षित

●

मूल्य : रु. 100/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

प्रकाशकीय

षष्ठ संस्करण

ब्रह्मसूत्र-प्रवचनके द्वितीय भागके षष्ठ संस्करणको आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। ब्रह्मसूत्र प्रवचनका यह भाग अनुपलब्ध था–पाठकोंकी सुविधाको ध्यानमें रखते हुए इसका प्रकाशन किया गया है। अब सत्साहित्य द्वारा इसके तीनों खण्ड उपलब्ध करा दिये गये हैं।

परमपूज्य महाराजश्रीकी कृपा एवं आपके सहयोगसे ट्रस्ट पाठकोंको पुनर्प्रकाशनके साथ-साथ नूतन प्रकाशन भी उपलब्ध कराता रहेगा, जिससे विज्ञजन लाभान्वित होंगे।

प्रकाशक :

–सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

प्रकाशकीय

प्रथम संस्करण

ब्रह्मसूत्र-प्रवचनके यह द्वितीय भाग आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। अभी चार माह पूर्व ही इसको प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है। उसमें जिज्ञासाधिकरण भी देनेका ख्याल था और भूमिकामें इसका उल्लेख भी कर दिया गया था किन्तु वह न जा सका। अब इस भागमें हम उसे दे रहे हैं।

पुस्तकका कलेवर अधिक बड़ा न हो इसलिए समस्त चतुःसूत्रीके शारीरक भाष्यका प्रवचन हम इस भागमें भी समाविष्ट नहीं कर पा रहे हैं। इस भागमें केवल जिज्ञासाधिकरण सूत्र-1—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायका प्रथम पाद) जन्माद्यधिकरण सूत्र-2, 'जन्माद्यस्य यतः', शास्त्रयोनित्वाधिकरण सूत्र-3, 'शास्त्रयोनित्वात्' मात्रके प्रवचन प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

आशा है विज्ञ पाठकजन इससे लाभ उठायेंगे। और अगले भागकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करेंगे।

इस द्वितीय भागके प्रकाशनमें पहले भागकी ही भाँति श्री डी.एम. दहानुकर चैरिटेबुल ट्रस्ट, मुम्बईके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिसने 15000/- रुपयेका अनुवाद इसे प्रकाशित करनेमें दिया है।

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

(ब्र० सू० अध्याय १, पाद १, सूत्र १)

इसके अनन्तर अब सम्पूर्ण अनर्थोंसे मुक्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिके लिए हम ब्रह्मका विचार करते हैं।'

विषय-सूची

अनुच्छेद	विषय	पृष्ठ-संख्या
६.०	जिज्ञासाधिकरण-भाष्य (ब्रह्मविचार-भाष्य–१) ('अथ' पदका विचार)	१
६.१	वेदान्तमीमांसा,शास्त्र	४
६.२	'अथ' पद दिचार–१ (अथ = आनन्तर्य)	१३
६.३	'अथ' पद विचार–२ (ब्रह्म जिज्ञासासे पूर्व धर्मजिज्ञासा अनिवार्य नहीं है)	२५
६.४	'अथ' पद विचार–३ (साधन-चतुष्टयके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा)	४८
७.०	जिज्ञासाधिकरण-भाष्य ब्रह्मविचार-भाष्य–२ (अतः पद विचार)	६६

१.० ब्रह्मविचार-भाष्य–३ ७७
(ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार)

१.१ ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–१ ८१
जिज्ञासा किसकी ?

१.२ ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–२ ९४
ब्रह्मजिज्ञासा पदके समासपर शास्त्रार्थ ।

१.३ ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–३ १००
ब्रह्मकी जिज्ञासा क्यों ?

१.४ ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–४ १२४
ब्रह्मके जिज्ञास्य स्वरूपपर आक्षेप तथा उसका समाधान ।

१.५ ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–५ १४२
आत्माके विशेष स्वरूपके प्रति विवाद—नास्तिकमत ।

१.६ आत्माके विशेष स्वरूपके प्रति विवाद—आस्तिक मत १६४

१.७ ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–६–उपसंहार १८४
विचारकी महिमा ।

२.० जन्माद्यधिकरण । सूत्र–२ जन्माद्यस्य यतः । २०३

२.१ ब्रह्मका लक्षण २०३

२.२ ब्रह्मका लक्षण—जगत्कारणत्व २२२

२.३ 'जन्माद्यस्य यतः'के पदोंका अर्थ २३०

२.४ जगत् और ब्रह्म २४६

२.५ कारणत्व अद्वितीयताका साधन २५७

२.६ सूत्रार्थ २६४

२.७ भावविकार और जन्मादि २७२

२.८ सृष्टि किससे शक्य नहीं है ? २७९
२.९ अनुमान एवं श्रुति-प्रमाण २८६
२.१० ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासामें श्रुति-प्रमाणका अन्तर ३०१
२.११ जन्माद्यधिकरण-भाष्यका उपसंहार ३१८
३.० शास्त्रयोनित्वाधिकरण । सूत्र—३ शास्त्रयोनित्वात् ३२८
३.१ पूर्वसूत्रोंके साथ सम्बन्ध ३३१
३.२ ज्ञान-बीज ईश्वर ३४०
३.३ शास्त्रयोनि भी ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है ३४९
३.४ अद्वितीयताके साधक—'जन्माद्यस्य यतः ।' और 'शास्त्रयोनित्वात्' ३५९
३.५ शब्दमूल ईश्वर ३६८
३.६ वेदमूल ईश्वर ३८१
३.७ क्या ईश्वर वेदकी रचना करता है ?—१ ३९१
३.८ क्या ईश्वर वेदकी रचना करता है ?—२ ४०४
३.९ वेद परमेश्वरके निःश्वास हैं ४१५
३.१० शास्त्र ब्रह्मकी योनि हैं ४२७
३.११ केवल शास्त्र ही ब्रह्ममें प्रमाण हैं ४४२
३.१२ ब्रह्मज्ञानकी प्रक्रिया ४५२
३.१३ प्रमाण-प्रक्रिया— ४६२
३.१४ प्रमाण-प्रक्रिया—२ ४७४
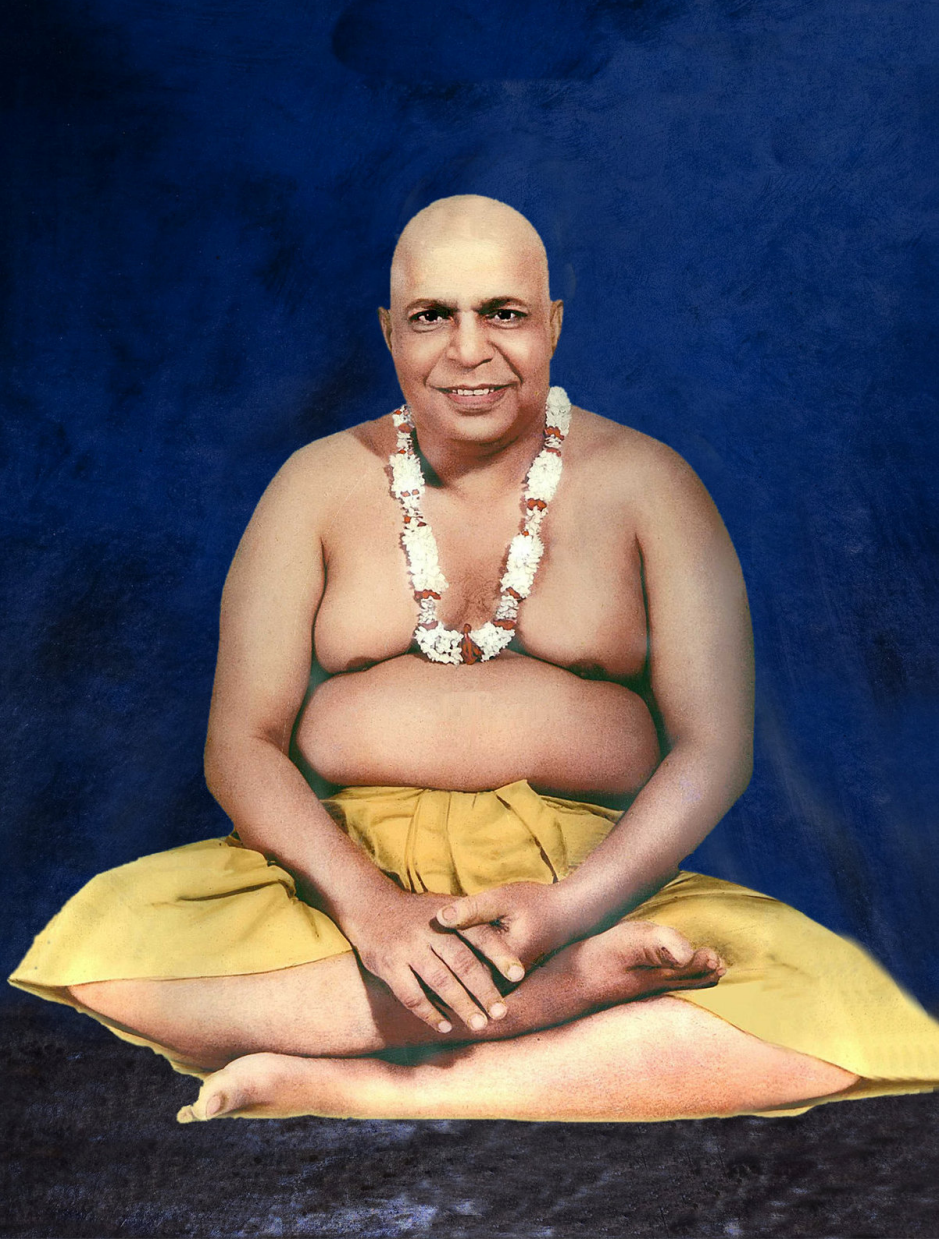
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

ब्रह्मसूत्र-प्रवचन (२)

(६.०)

जिज्ञासाधिकरण-भाष्य (ब्रह्मविचार-भाष्य)-१

('अथ' पदका विचार)

मूलभाष्य—

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १.१.१ ॥

तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्म-जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वया-भावात् अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्।

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः। न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीत-वेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः।

यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षि-तत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं, तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्।

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति।

उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्मजिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्त साधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

(शारीरक भाष्य-ब्रह्मविचार भाष्यांश)

अर्थ—व्याख्यानके विषयीभूत वेदान्तमीमांसा-शास्त्रका यह आदि सूत्र है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१.१.१.)

सूत्रमें 'अथ' शब्द आनन्तर्य-अर्थमें परिगृहीत है, आरम्भके अर्थमें नहीं, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ नहीं किया जा सकता और मंगलका वाक्यार्थमें समन्वय नहीं होता, इसलिए आनन्तर्य अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ 'अथ' शब्द मंगलरूप प्रयोजनवाला होता है। विचाररूप फलको कारणभूत पूर्वप्रकृतके साथ जो अपेक्षा है उसका आनन्तर्यसे भेद नहीं है।

तो 'अथ' शब्दके आनन्तर्थक होनेपर जैसे धर्मजिज्ञासा पहिले नियमसे होनेवाले कारणभूत वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखती है वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा भी पहले नियमसे होनेवाली जिस वस्तुकी अपेक्षा रखती हो, उसको कहना चाहिए। इस सम्बन्धमें स्वाध्याय और वेदाध्ययन तो दोनोंमें (धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासामें) समान है। यदि कहो कि ब्रह्मजिज्ञासामें धर्म जिज्ञासाकी अपेक्षा

कर्मज्ञानका आनन्तर्य विशेष है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्त पुरुषको भी धर्मजिज्ञासासे पहले ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है।

और जैसे हृदयादिके अवदानों (छेदन) में आनन्तर्य क्रमका नियम है, क्योंकि वहां क्रम विवक्षित है, वैसे यहां ब्रह्मजिज्ञासामें क्रम विवक्षित नहीं है। धर्म जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें अंगांगो-भाव अथवा अधिकृताधिकार माननेमें कोई प्रमाण नहीं है एवं दोनोंके फल और जिज्ञास्यमें भी भेद है। धर्मज्ञान अभ्युदय फलवाला है तथा वह अनुष्ठानको अपेक्षा रखता है। ब्रह्मज्ञान तो मोक्षरूप फलवाला है और वह अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं रखता।

धर्मजिज्ञासाका विषय धर्म भव्य (साध्य) है और धर्मज्ञानके कालमें नहीं है, क्योंकि वह पुरुष-व्यापारके अधीन है। यहाँ ब्रह्म-मीमांसामें सिद्ध ब्रह्मजिज्ञासा है और वह नित्य होनेसे पुरुष-व्यापारके अधीन नहीं है। बोधक प्रमाणकी प्रवृत्तिके भेदसे भी भेद है। जो विधि धर्मका बोध कराती है वह पुरुषको स्वविषयमें नियुक्त करती हुई बोध कराती है। परन्तु ब्रह्मबोधक प्रमाण पुरुषको केवल बोध ही कराता है, अवबोध ब्रह्मप्रमाणसे जन्य है। इसलिए ब्रह्मप्रमाण पुरुषको ज्ञानमें नियुक्त नहीं करता, जैसे इन्द्रिय विषयके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञानमें नियुक्त नहीं होती। इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है, ऐसा कोई असाधारण हेतु कहना चाहिए।

कहते हैं—नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहलौकिक, पारलौकिक विषय-भोगोंसे विराग, शमदमादिसाधनसम्पत्ति और मुमुक्षता। उन साधनोंके होनेपर ही धर्मजिज्ञासासे पूर्व तथा पश्चात् भी ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए अथ शब्दसे पूर्वोक्त साधन सम्पत्तिके आनन्तर्यका उपदेश किया जाता है। ●

(६.१)

वेदान्तमीमांसा-शास्त्र

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासि तस्येदमादिम् सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

(भाष्य)

वेदान्तमीमांसाशास्त्रका जिसका हम व्याख्यान करेंगे यह आदि सूत्र। है क्या ? अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।

ब्रह्मज्ञान वेदान्त-शास्त्रैकगम्य है, अन्यथा नहीं। उसीकी मीमांसा ब्रह्मसूत्रमें है जिसका भाष्य भगवान् श्रीशंकराचार्य करने जा रहे हैं।

वस्तु-ज्ञान प्रमाणके अधीन होता है। जैसे रूप-विषयका ज्ञान नेत्रेन्द्रियके अधीन है; रूपके सम्बन्धमें नेत्र जो ज्ञान बताता है यह न तो किसी अन्य इन्द्रियसे झूठा सिद्ध हो सकता है और न रूप किसी अन्य इन्द्रियसे जाना ही जा सकता है। अतः रूपके विषयमें नेत्र प्रमाण है। प्रमाण अर्थात् प्रमाका करण अर्थात् यथार्थज्ञान जिस यन्त्रसे प्राप्त हो वह। प्रमाण माने लिखन्त या दस्तावेज नहीं होता, अदालतमें भले ही उसका वह अर्थ होता हो। विषय (वस्तु) और प्रमाणका ठीक-ठीक सन्निकर्ष होनेपर अन्तःकरणमें जो यथार्थ ज्ञानकी वृत्ति होती है वह 'प्रमा' कहलाती है। तब वस्तुको प्रमेय बोलते हैं और उक्तज्ञानके अभिमानीको 'प्रमाता'।

ब्रह्मका ज्ञान किस प्रमाणके अधीन है ? तो कहा—वेदान्त शास्त्रके। नपी-तुली भाषामें कहें तो वेदान्तोक्त महावाक्यजन्य

प्रमाके। प्रमाणान्तरसे, अर्थात् वेदान्त शास्त्रके अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाणसे ब्रह्मज्ञान शक्य नहीं है।

यदि ब्रह्म अन्तःकरणसे बाहर कोई विषय होता तो वह इन्द्रियादि प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय बन सकता है। परन्तु जो अन्तःकरणका साक्षी-अधिष्ठान है उस ब्रह्मको प्रत्यय प्रमाणसे कोई कैसे जानेगा ?

आओ तो फिर अनुमान करें! परन्तु अनुमान भी प्रत्यक्ष-मूलक एवं प्रत्यक्षफलक होता है। आजकल अनुमानको बहुत बड़ा प्रमाण मानते हैं। दर्शनकार भी अनुमान प्रमाण मानते हैं। जिन बौद्धोंने शास्त्रको प्रमाण नहीं माना वे भी प्रत्यक्षके साथ अनुमानको प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक भी, जो शास्त्रको गौण-प्रमाण मानते हैं (तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्) वे भी प्रत्यक्ष और अनुमानको प्रमाण मानते हैं। नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (शास्त्र)। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) छः प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और शब्द। इनमें शब्द और प्रत्यक्षको छोड़कर शेष चार अनुमानके ही कच्चे-बच्चे हैं। ऐतिहासिक लोग एक ऐतिह्यप्रमाण और मानते हैं, पौराणिक लोग 'सम्भव प्रमाण' और मानते हैं और नाट्यशास्त्री चेष्टाको भी प्रमाण मानते हैं। परन्तु इन सबमें अनुमान ही आधार है। चार्वाक अनुमानको यों स्वतन्त्ररूपसे नहीं मानते हैं परन्तु प्रत्यक्षके अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार अनुमान प्रत्यक्षका बच्चा है तथा शेष प्रमाण (शब्दको छोड़कर) अनुमानके बच्चे-कच्चे हैं।

तो पहिले रसोई घरमें आग और धुएंके सहसम्बन्धका (आग-का लिंग धुंआ है, इसका) ज्ञान हो तब वनमें धुएंको देखकर

आगका अनुमान लगाया जा सकता है। उसपर भी पास जाकर देखनेमें जब प्रत्यक्ष अग्निका ज्ञान हो जाय तब ही अनुमान प्रमाण होगा अन्यथा तो वह अनुमानाभास ही होगा। इस प्रकार अनुमान प्रत्यक्षका पिछलगुआ है—मान = प्रत्यक्ष; अनु = पीछे चलनेवाला। अनुमान = प्रत्यक्षके पीछे चलनेवाला। अनुमान पहले और पीछे प्रत्यक्षसे बँधा हुआ है।

अब जब ब्रह्म प्रत्यक्ष ही नहीं है तब उसमें अनुमानकी भी पहुंच कहां होगी ? यदि अनुमान कर भी लें तब भी प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमानका कोई अर्थ नहीं होता।

ब्रह्मका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार होना चाहिए। पञ्चदशीकारने कहा—'घटवत् किं न भासते ?' ब्रह्मके सिवाय जब कुछ है ही नहीं तब ब्रह्म घटवत् प्रत्यक्ष क्यों नहीं भासना चाहिए ? वह घटकी तरह प्रत्यक्ष भी भासता है, अग्नि-धूपकी तरह अनुमानसे भी भासता है, ललरीवाली गौकी तरह उपमानसे भी भासता है—माने सारे प्रमाणोंसे ब्रह्म भासता है। ब्रह्मज्ञान हो जाय तो सारा प्रमाण-प्रमेय मात्र ब्रह्मके अन्तर्भूत हो जाता है और ब्रह्मज्ञान न हो तो किसी भी खण्डप्रमाणसे अखण्डका साक्षात्कार नहीं हो सकता, यह बड़ी अद्भुत लीला है।

ब्राह्मज्ञानके सम्बन्धमें प्रमाण क्या ? परिच्छिन्नत्वकी निवृत्तिमें प्रमाण क्या ? ब्रह्मप्रमाके लिए प्रमाण क्या? यह बड़ी उत्तम जिज्ञासा है, अन्यथा तो लोग 'यह सत्य है, यह मिथ्या है' इस प्रमाभ्रमसे तप रहे हैं—'प्रमाभ्रमाभ्यां लोको तप्यते।'

तो बोले कि ब्रह्मनिरूपण करनेवाला जो वचन होगा (शब्द प्रमाण) वही हमारे अतःकरणमें ब्रह्मप्रमा उत्पन्न करेगा। वह आंख, नाक, कान आदि प्रत्यक्ष और न इनके आधारपर कल्पित आनुमानिक ज्ञान ब्रह्माकार-वृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। केवल

'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' आदि जो ब्रह्मनिरूपक वचन हैं वे ही हमारे अन्तःकरणमें ब्रह्मप्रमा उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं। वे ब्रह्म-निरूपक 'शब्द' ही वेदान्तके नामसे जाने जाते हैं।

वेदान्तको वेद क्यों नहीं बोलते ? बोल सकते हैं, परन्तु प्रत्येक वेदवाक्य वेदान्त नहीं होता। वेद सामान्य है और वेदान्त प्रकृष्ट। वेद सब प्रकारके अधिकारियोंके लिए है जबकि वेदान्त एक विशेष अधिकारी (ब्रह्मजिज्ञासु) के लिए है।

वेद सबके पहले रागी अधिकारीको देखता है। रागीको धन भी चाहिए, भोग भी चाहिए और भोगके प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए क्रोध भी। रागीको केवल धनसे सुख नहीं होता क्योंकि प्रतिबन्ध रहते न तो धनका भोग होता है और न सुख।
एक बार हम कोई २५ साधु एक सेठके घर गये। वह सेठ तो बहुत उदार था। साधु लोग कोई एक-एक सेर खीर खा गये। किन्तु उधर उस सेठको सूखी रोटी चौबीस घण्टोंमें मुश्किलसे हजम होती थी।

तो रागवश सब लोग धन, भोग और प्रतिबन्ध-निवृत्तिके लिए प्रयत्नशील होते हैं। ऐसे लोगोंके लिए वेद कहता है—'बाबू, तुम लोग स्वर्ग चले जाओ! वहाँ धन भी खूब है और भोग भी ज्यादा मिलेगा; प्रतिबन्ध भी वहाँ नहींके बराबर है। क्यों धरतीपर धन और भोगके लिए लोगोंको तकलीफ देते हो ?

लोगोंने आपत्ति की कि 'क्या वेद लोगोंमें स्वर्गकी अप्सरा, स्वर्गका अमृत, स्वर्गका भोगानुकूल दिव्य-देह इत्यादिकी वासना पैदा नहीं करता ?' तो कहा कि यह विहित भोगकी वासना अतः अधर्म नहीं है। इसमें आश्चर्य यह है कि स्वर्गके सुखभोगके लिए मनुष्यको इस लोक और इस जीवनके राग-प्राप्त जो विहित भोग है उसमें भी त्यागभावसे भोग करना पड़ता है अथवा

उनका परित्याग करना पड़ता है। इस प्रकार वेद अनजानेमें ही रागी हृदयमें वैराग्यका आधान कर देता है। यह शास्त्रकी हित-कारिता है और यहाँ शास्त्रमें स्वर्ग-वर्णनका अभिप्राय है।

स्वर्गकी प्राप्ति केवल वेद-शास्त्रमें ही वर्णित है, इसलिए विहित है। जब विहितके लिए प्रयत्न करोगे तो रागमूलक जो तुम्हारी निषिद्ध प्रवृत्ति है—धनके लिए, भोगके लिए, प्रतिबन्ध-निवृत्तिके लिए, वह मिट जायेगी। इसीलिए वेदमें शत्रु-मारणके प्रयोग मिलते हैं, जैसे कि—'श्येन-याग' करो; शत्रुकी हत्या मत करो, उसको डंडा मत मारो अपितु उसके मूलोच्छेदके लिए 'श्येन-याग' करो। अब देखो, रोक लिया न ? भोग यहाँ मत करो, वहाँ करना। माने न केवल यहाँ भोगके नियन्त्रण करके वैराग्यका आधान हुआ, बल्कि साथ ही देहातिरिक्त आत्मापर विश्वास दृढ़ हुआ। यहाँ शरीर व्यापारमें संयम, मनमें श्रद्धा-त्याग-वैराग्य-का आधान और बुद्धिमें देहातिरिक्त आत्मामें आस्था—इतने लाभ हो गये केवल स्वर्गादिका वर्णन करनेसे! शास्त्रको कोई बच्चोंका निर्माण मत समझना!

नरककी प्राप्ति रागकी प्राप्ति नहीं है। स्वर्गकी तारीफ सुनकर स्वर्ग तो जाना चाहेंगे, परन्तु नरकके दुःख सुनकर नरक जाना नहीं चाहेंगे। यह जो विधि है वह राग-प्राप्त कर्मोंका रूपान्तरण है, लेकिन जो शास्त्रीय निषेध है (कि यह नहीं करना, वह नहीं करना) वह श्रद्धालुके लिए नहीं है, अश्रद्धालुके लिए है। स्वर्गके यज्ञ-यागादिक साधनोंका वर्णन श्रद्धालु अधिकारीके लिए है और नरकके दुर्गुण तथा अधर्मका वर्णन अश्रद्धालु अधिकारीके लिए है। कोई भी जो बुरा कर्म करेगा, उसे बुरा फल मिलेगा, नरक मिलेगा। श्रद्धासे नरक नहीं मिलता। परन्तु यदि श्रद्धालु भी बुरा काम करेगा तो उसे भी कीट-पतंगादिकी निम्नयोनियाँ प्राप्त

होंगी। ऐसा वेदशास्त्रका प्रतिपादन है। जो कानून नहीं मानता उसे सजा मिलती है। और जो कानून मानता है उसे पुरस्कार भी मिलता है। कानून न माननेकी छूट नहीं है और जान बूझकर न माननेका दण्ड कड़ा है।

अब विरक्त अधिकारीपर वेदकी दृष्टि गयी। आप विरक्त हैं और ब्रह्मको देखना चाहते हैं? मगर अपने 'मैं' को आप कहाँ रखकर ब्रह्मको देखना चाहते हैं? सीधा सवाल है! आप फोटो लेते समय अपने कैमरेको किस कोणपर रखना चाहते हैं? कहाँ बैठेंगे आप कि आपको अनन्त ब्रह्मका दर्शन हो?

जब तक आप मरनेवाली चीजमें मैं करके बैठेंगे और देखना चाहेंगे अमृतको, तो कैसे देख पायेंगे? भला मृतसे तादात्म्यापन्न 'मैं', परिवर्तनशीलसे तादात्म्यापन 'मैं', परिवर्तनके पूर्व और उत्तरके साक्षीका साक्षात् कैसे करेगा? आप देशके कोनेमें बैठकर देशातीतका साक्षात्कार कैसे करेंगे? जिद्द या बेवकूफीसे इसमें काम नहीं चलता। आप देहको 'मैं'-करके बैठ जायें तो ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे करेंगे? आप यदि मानापमानके चक्करमें पड़ जायें तो सत्संग तक भी नहीं कर सकेंगे। अहंकारके घोड़ेपर बैठकर सत्यके स्वरूपका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

तो विरक्त अधिकारी अपने मैंको कहाँ बैठावे? देश कितना लम्बा-चौड़ा है, इसकी कल्पना अन्तःकरणमें है और इसी प्रकार काल कितना लम्बा-चौड़ा है, इसकी कल्पना भी अन्तःकरणमें है तथा सर्व (व्यष्टियोंका कुल, वस्तु-समष्टि) कितना लम्बा-चौड़ा है उसकी कल्पना भी अन्तःकरणमें है। इसकी कल्पना भी अन्तःकरणमें है, ये हैं या नहीं या तो भगवान् ही देखता है (अर्थात् केवल इनकी दृष्टि-प्रतीति होती है, समष्टि-प्रतीति शक्य नहीं है)। इन कल्पनाओंके तुम साक्षी हो। इसका अर्थ है कि देश-

काल-वस्तु, वस्तुमें कार्य-कारण-भाव, देशमें संक्षेप-विस्तार, कालमें परिवर्तन, इन सबके, (इन सबकी कल्पनाओंके) तुम साक्षी हो और इन कल्पनाओंका जो उदय-विलय हो रहा है उसके भी तुम साक्षी हो। अब इस साक्षीको नापो जरा! साक्षीकी लम्बाई-चौड़ाई-कितनी? साक्षीकी उम्र कितनी? साक्षीका वजन कितना? अरे भाई! तुमने तो सारी लम्बाई-चौड़ाई वजन, उम्र पहिलेसे ही एक ओर रख दिया था; क्योंकि इनकी कल्पना अन्तःकरणमें है और तुम उस कल्पनाके साक्षी हो। फिर साक्षीके बारेमें ये प्रश्न ठीक नहीं। साक्षी इन सबका साक्षी होता है और इसलिए इनसे न्यारा ज्ञानस्वरूप है। उसको देखा। वही तुम हो।

अब प्रश्न यह है कि अन्तःकरणमें जो देश-काल-वस्तुकी कल्पना होती है वह क्यों होती है? अर्थात् देश-काल-वस्तु अन्तः-करणके बाहर हैं इसलिए उनकी कल्पना अन्तःकरणमें होती है अथवा देश-काल-वस्तुकी स्थिति और उनकी कल्पना अन्तःकरणमें होती है अथवा देश-काल-वस्तु हैं ही नहीं फिर भी उनकी कल्पना अन्तःकरणमें होती है?

यदि ये बाहर हैं तो किसमें हैं? माने वाह्य देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान क्या है? तो वेद कहता है कि कल्प्य देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान है अदेश-अकाल-अवस्तु-रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म। वही 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें तद्-पद लक्ष्यार्थ है। यह जो साक्षी है वह त्वं-पद लक्ष्यार्थ है।

यदि तत्-पदार्थ भी अपने चेतन-स्वरूपसे अलग होगा तो उसमें अदृश्यत्व या दृश्यत्वकी कल्पना होगी। तब तत्-पदार्थ चेतन नहीं होगा। जो अधिष्ठान हमसे जुदा है वह चेतन नहीं है और यदि हम उससे जुदा हैं तो हम पूर्ण नहीं हैं। हमारे बिना ईश्वर बेहोश है और ईश्वरसे अलग होकर हम कटे-पिटे परिच्छिन्न

हैं। जब दोनोंकी एकताका बोध होता है हमारी परिच्छिन्नता और उसकी बेहोशी मिट जाती है और बीचमें जो माया-काया प्रपञ्चका बखेड़ा था वह सब मिट जाता है, दोनोंके एकत्व-बोधसे बीचकी माया पिस जाती है।

विरक्त अधिकारीके लिए वेदका यही तत्त्वज्ञान आदेश है, उपदेश है, अभिप्राय है। यह तत्त्वज्ञान न संस्कारजन्य है और न संस्कारजनक! परिच्छिन्न वस्तुमें प्रिय-अप्रियका भान संस्कार-जन्य होता है, प्रिय-अप्रिय वस्तुका ज्ञान संस्कारजनक होता है। परन्तु यह जो अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान है वह संस्कारजन्य नहीं है और स्मृतिरूप भी नहीं है, क्योंकि अनन्तका पहिले अनुभव नहीं हुआ; हुआ होता तो मुक्त हो गये होते, बद्ध क्यों अनुभव करते ? यह संस्कारजनक नहीं है क्योंकि द्वैत न होनेपर इसमें प्रियका भोग अथवा अप्रियसे परहेज नहीं है। जब कोई वस्तु परोक्ष रह ही नहीं गयी, अज्ञात सत्ता ही कट गयी, तो संस्कार किसका ? यहाँ तो संस्कारका आधारभूत करण ही उच्छिन्न हो गया मानो संस्कारका लिंगशरीर ही भंग हो गया।

वेदके इसी आशयको प्रकट करनेवाले भागका नाम वेदान्त या उपनिषद् है। उस वेदान्तकी मीमांसा क्या ? वेदान्तमें जो मन्त्र कर्मपरक या उपासनापरक मालूम पड़ते हैं उनका वेदान्तकी दृष्टिसे समन्वय करना, विचर करना, इसीका नाम वेदान्त-मीमांसा है। यही ब्रह्मसूत्र है।

शास्त्र विधि-निषेध वाक्योंसे शासन करता है और वेदान्त वाक्यों द्वारा सत्यका शंसन करता है। जहाँ अन्यका वर्णन होता है वहाँ शासन होता है और जहाँ अपने आपे (आत्मा) का वर्णन हो वहाँ विधि-निषेधको आवश्यकता नहीं होती, केवल इस कथनको आवश्यकता होती है कि 'तुम ऐसे हो, वैसे नहीं हो।'

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि इस वेदान्त-मीमांसा-शास्त्रका आदि-सूत्र है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

कुछ लोग पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाको एक मानते हैं। शंकर भगवान् कहते हैं कि दोनों एक नहीं हैं, अलग-अलग हैं। यह बात वेदान्त मीमांसाका आदि सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' है, इस कथनसे प्रकट होता है। यों भी दोनों मीमांसाओंमें भेद स्पष्ट है (जैसा निम्न तालिकासे प्रकट होता है)—

भेदक	पूर्वमीमांसा	उत्तरमीमांसा
वक्ता	जैमिनी	व्यास (बादरि)
विषय	उत्पाद्य (भव्य) धर्म	सिद्ध ब्रह्म
अधिकारी	रागी	विरक्त
प्रयोजन	लौकिक पारलौकिक सुख-भोगकी प्राप्ति	मोक्ष
सम्बन्ध	कर्ताभोक्ता-आत्माके सम्बन्धमें	साक्षी आत्माके सम्बन्धमें
फल	अनित्य	नित्य

इसके अतिरिक्त इन शास्त्रोंके श्रवण-विधि, अनुष्ठानविधि, मान्यताओं आदिमें भी भेद है। अतः इनको एक मानना ठीक नहीं है।

सूत्र माने क्या? थोड़े अक्षरोंमें, स्पष्ट, सार, व्यापक दृष्टि-कोणसे, दोषरहित और अकाट्य बात कहनेवाली शब्दराशि सूत्र कहलाती है—

अल्पाक्षरं असंदिग्धम् सारवत् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभं अनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

(इसकी व्याख्या अध्याय-१ में की जा चुकी है। विवरणके लिए कृपया वहीं देखें)।

(६. २.)

'अथ' पद् विचार—१

(अथ = आनन्तर्य)

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

तत्र अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्म-जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वया-भावात् अर्थान्तिरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दःश्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। (भाष्य)

अब ब्रह्मसूत्रके प्रथम अधिकरण 'जिज्ञासाधिकरण' की चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

एक सीधा सवाल है—आत्माकी ब्रह्मरूपता अवचनसिद्ध है या वचनसिद्ध है ? माने आत्मा ज्यों-का-त्यों, बिना बोले ही ब्रह्म है या बोलनेपर ब्रह्मरूप हो जाता है ?

इस प्रश्नका सर्वसम्मत उत्तर यही है कि आत्मा बिना बोले ही ब्रह्म है, आत्मा स्वयं ब्रह्मरूप है। क्या विवरण-प्रस्थान, क्या भामती-प्रस्थान क्या श्रौत-स्मार्त सिद्धान्त, सब इस सिद्धान्तसे एकमत हैं कि आत्माकी ब्रह्मरूपता अवचन-सिद्ध है; कुछ बोलनेकी जरूरत नहीं है।

प्रश्न—फिर इतनी खटपट क्यों करते हो ?

उत्तर—इसलिए कि यह जो अध्यास है, अविद्या है, वह निवृत्त हो जाय। खटपट आत्माको ब्रह्म बनानेके लिए नहीं है, बल्कि जितनी उल्टी समझ है कि 'हम देह हैं,' मनुष्य हैं, जीव हैं' इत्यादि उनको मिटानेके लिए है। ब्रह्मविचारका फल अविद्याकी निवृत्ति है, ब्रह्मभावकी प्राप्ति नहीं है, अन्यथा वह ब्रह्म भी नश्वर हो जायेगा। अतः ब्रह्मविचार करो।

आप अपने मैंको कहाँ बैठाकर अनन्त ब्रह्मका विचार करना चाहते हैं ? आप अपने आपको इतनी गहराईमें ले जाइये, इतना प्रत्यक् (भीतर) इतना प्रत्यक् ले जाइये कि जहाँ अपना आपा भी नहीं देखा जाता। स्वयं द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता। तब आप देश-काल-वस्तुसे अतीत, उस अतीतसे उपलक्षित आप स्वयं हैं और ऐसे जो अदेश, अकाल, अद्रव्यसे उपलक्षित आप हैं उसको कोई काटनेवाला नहीं है। आप स्वयं देश-काल-द्रव्यकी कल्पनाके अधिष्ठान और उसके प्रकाशक हैं और आपके स्वरूपमें देश-काल-द्रव्य नहीं है; आप अद्वितीय हैं। यह वचन आपके इसी स्वरूपकी अविद्या-निवृत्तिके लिए है। अतः आइये 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्रपर विचार प्रारम्भ करें।

भगवान् श्री शंकराचार्यने भाष्यके प्रारम्भमें कहा कि 'अथ' शब्दका अर्थ है आनन्तर्य, अधिकार नहीं। क्यों ? क्योंकि ब्रह्म-जिज्ञासा अधिकार्य नहीं है। 'तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् ।'

संस्कृतमें 'अथ' शब्दके कई अर्थ होते हैं। असलमें जो 'अर्थ' है वही 'अथ' हो गया है (रेफका लोप हो गया)। अथ = मंगल, आनन्तर्य, प्रारम्भ, प्रश्न, सम्पूर्णता, विकल्प, समुच्चय—इनके अतिरिक्त दो और अर्थ मिलाकर कुल नौ अर्थोंमें 'अथ' शब्दका प्रयोग होता है। 'अथ ज्योतिः; अथ ब्राह्मणः, अथ मुनिर्भवति।'

मंगलके अर्थमें अथ शब्द केवल उच्चारणमात्र होता है उसका वाक्यमें अन्वय नहीं होता, जैसे वीणाध्वनि, शंखध्वनिका सुननेसे ही मंगलार्थ-बोध हो जाता है। यदि सूत्रमें 'अथ' शब्द मंगलार्थमें हो तो वाक्यार्थमें अन्वय न होनेसे उसका प्रयोग ही निरर्थक हो जायेगा।

आरम्भके अर्थमें 'अथ' शब्दका प्रयोग है जैसे 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः, अथातो धर्मजिज्ञासा अथ योगानुशासनम् ।' परन्तु यहाँ यह अर्थ ठीक नहीं है। क्यों ? क्योंकि जहाँ कुछ कर्तव्य होता है वहाँ 'अथ' शब्द अधिकारके अर्थमें (आरम्भके अर्थमें) प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ ब्रह्मजिज्ञासा पद इसका विरोध करता है। यदि ब्रह्मजिज्ञासाको 'ब्रह्मकी इच्छा' मात्रमें ग्रहण करते हो तो 'इच्छा करो' यह विधान शास्त्रमें नहीं हो सकेगा क्योंकि शास्त्र कर्मका विधान करता है, इच्छाका नहीं। आदमी अपनी बुद्धिमें जिस चीजको अपने लिए सुखद, हितकारी और अच्छी समझता है उसकी इच्छा स्वयं उदित हो जाती है। इच्छा रागसे उत्पन्न होती है हुकुमसे नहीं, विधानसे नहीं। इच्छा होती है

करायी नहीं जाती। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ करने योग्य नहीं है अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा अधिकार्य नहीं है।

इसपर टीकाकारों, भाष्यकारोंने कहा कि जिज्ञासा यहाँ विचारका उपलक्षण है। 'ब्रह्मजिज्ञासा = ब्रह्मका विचार' ब्रह्मकी इच्छा नहीं, इच्छासे पूर्ववर्ती विचार। और ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है–'ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्मविचारः) कर्त्तव्या।' ठीक है, परन्तु जिज्ञासा'-का अर्थ 'विचार' करनेपर भी 'अथ' शब्दका अर्थ अधिकार' ('आरम्भ') करनेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि वह अर्थ तो अध्याहारसे निकल ही जायेगा। इसलिए भाष्यकार कहते हैं कि अथ शब्दका अर्थ 'आनन्तर्य' है।

यहाँ एक प्रश्नपर और विचार करें। प्रश्नसे घबड़ाना नहीं। पहले हम साधुओंसे खुलेआम प्रश्न किया करते थे। जो घबड़ा जाता या गुस्सा हो जाता या चुप हो जाता उसपर हमारी श्रद्धा ही नहीं जमती थी। असलमें गुस्सा अपनी कमजोरीका ही चिह्न है। अदालतोंमें वकील लोग गवाहोंको गुस्सा दिलाकर ही उनको मूर्ख बना देते हैं।

प्रश्न यह है कि आखिर जब जिज्ञासा पदका अर्थ विचार ही है तो महर्षि वादरायणने साफ ही क्यों नहीं कहा कि 'अथातो ब्रह्म-विचारः' या 'अथातो ब्रह्ममीमांसा'? अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ही क्यों कहा?

इच्छा सदैव सुखके विषयमें होती है। जिससे सुख उसके प्रति इच्छा और जिससे दुःख उसके प्रति परहेज! अब ब्रह्मज्ञानको जिज्ञासाका विषय क्यों बनाया? इससे लगता है कि ब्रह्म सुखका हेतु है।

चार्वाक और बौद्ध मानते हैं कि जो यथार्थ ज्ञान है वह सुख-का हेतु नहीं हो सकता। क्योंकि चार्वाकोंमें भोग ही सुखका हेतु

है और बौद्धोंमें व्यक्तित्वका उच्छेद है, आत्मोच्छेद है, व्यक्तित्वकी शून्यताका बोध है। चार्वाकोंमें आत्मा ही नहीं है तो ज्ञान होनेपर सुख किसको ? और बौद्धोंकी आत्मा क्षणिक, मिथ्याप्रत्ययरूप, प्रतिक्षण प्रध्वंसो है, उसको जिज्ञासा करनेपर सुख कहाँ होगा ? शून्य सुख नहीं है अतः उसको जाननेपर सुख भी क्यों होने लगा ?

जैन लोगोंमें आत्माका नास्तित्व तो नहीं है, वह प्रतिक्षण प्रध्वंसी भी नहीं है। उनके यहाँ आत्मा है और कथंचित् नित्य भी है क्योंकि ह्रास-विकासका पात्र बना रहता है। परन्तु जैनमतके अनुसार ही आत्मा सुखरूप नहों है। उनका आत्मा कालमें नित्य और देशमें घटता-बढ़ता है; तथा अठारह दूषणोंसे रहित होकर तथा त्रिरत्नसे (सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् संकल्प और सम्यक् समाधिसे) सम्पन्न होकर बिलकुल निर्दोष जगमग-जगमग प्रज्वलित होता हुआ तीर्थंकर हो जाता है। परन्तु उस समय भी वह सच्चित् तो होगा, लेकिन आनन्दरूप नहीं होगा—ऐसो जैनमतकी मान्यता है।

इस प्रकार द्रव्यमें मर जाता है चार्वाकका आत्मा, कालमें मरता है बौद्धोंका आत्मा और देशमें घटता-बढ़ता है जैनका आत्मा। परन्तु इनमें-से किसीका आत्मा आनन्दरूप न होनेसे इच्छाका विषय नहीं हो सकता। यह नास्तिक दर्शनोंकी बात हुई।

आस्तिक दर्शनोंमें न्यायवैशेषिक मानते हैं कि सुख आत्माका गुण है, स्वरूप नहीं है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म और प्रयत्न, ये आत्माके गुण हैं। जो गुणी द्रव्य हैं—आत्मा और परमात्मा, दोनों सुखधर्मी तो हैं परन्तु सुखस्वरूप नहीं हैं। अतः ये भी जिज्ञासाके विषय नहीं हो सकते।

सांख्य और योग आत्माको द्रष्टा मानते हैं आनन्दस्वरूप नहीं। अतः द्रष्टा आत्मा भी जिज्ञासाका विषय नहीं हो सकता।

पूर्वमीमांसामें आत्मा चिदचित् स्वभाव है। उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिए यज्ञादि करने पड़ते हैं, भोगके लिए स्वर्गादिकी प्राप्ति करनी पड़ती है। अथवा पूर्वमीमांसाका जो खाटा सिद्धान्त है उसमें स्वर्गलोकरूप स्वर्ग-प्राप्ति अभीष्ट नहीं है। इन्द्राय स्वाहा कहनेसे इन्द्र देवलोकसे आता है या नहीं, इसमें मतभेद है—'देवता विग्रहवती वा न वा ?' एक पक्ष कहता है—मन्त्रोच्चारणसे देवताका विग्रह बनता है, वही आहुति लेता है और कर्ताको फल देता है। दूसरा पक्ष कहता है—देवता इन्द्रलोकसे आता है। उसमें सहस्र-सहस्र बननेका सामर्थ्य होता है।

परन्तु पूर्वमीमांसामें भी आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं है, और ब्रह्मकी तो चर्चा ही मत करो। क्योंकि न्याय-वैशेषिक-पूर्वमीमांसाको तो बौद्धोंका खण्डन करके आत्माको सिद्ध करना ही इष्ट है, आत्मा सच्चिदानन्दघन या आनन्दघन है यह सिद्ध करना इष्ट नहीं है। अतः यहाँ भी ब्रह्मजिज्ञासा अनुपपन्न है। जहाँ सुख मिले उसकी ही जिज्ञासा होती है।

सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति।

आनन्द भी पूर्वमीमांसामें सीमित ही है।

जब हमने सबसे पहले 'सत्यार्थ-प्रकाश' पढ़ा था तो हमने पढ़ा कि मोक्षमें-से भी वापस आना पड़ता है। बात बहुत खटकी, क्योंकि बचपनसे ही हमारे सनातन-धर्मी संस्कार थे। एक दिनको भी हम विधर्मी नहीं हुए। यह कैसा मोक्ष है जिसमें-से वापस आना पड़ता है। बादमें जब विचार हुआ तो उनकी बात (उनके मतानुसार) सच्ची लगी। उनका मोक्ष कोई कैवल्य या ब्रह्मात्मैक्यबोध तो है नहीं, उनका तो कर्मजन्य मोक्ष है। वे कहते हैं—

सत्कर्म करो; उससे ईश्वर प्रसन्न होकर मोक्ष देगा। तो कर्मका फल और ईश्वरका दिया हुआ होनेसे मोक्षसे आना नहीं होगा तो क्या होगा !

फिर वैष्णवोंका सिद्धान्त पढ़ा। उनके यहाँ बैकुण्ठादि भगवत्-भावापत्ति कर्मके फलसे तो नहीं होती, ईश्वरके अनुग्रहसे होती है। इसलिए कर्मका फल समाप्त होनेपर उनका मोक्ष समाप्त नहीं होता। ईश्वरके अनुग्रहसे है, इसलिए यदि ईश्वर चाहे तो मुक्त-पुरुषको भेज सकता है। वह स्वयं भी अवतार लेता ही है।

योगमें पुनरावर्ती नहीं मानते परन्तु अभ्यास तो कर्तृत्वमें प्रारम्भ होता है। अब यदि अभ्यासके वेगसे चित्त समाहित हो गया तो समाधि लग गयो। परन्तु समाधि तो टूटेगी, क्योंकि कर्म वेगसे लगी है, मनको भोतर ढकेलकर चित्तके प्रतिलोम परिणामसे लगी है। हाँ द्रष्टा नहीं टूटेगा।

परन्तु सांख्य और योग दोनोंमें आत्मा द्रष्टा तो है आनन्दरूप नहीं है। अतः यहाँ भी आत्मा जिज्ञास्य नहीं है।

अब औपनिषद-ब्रह्मको चर्चा करें। यहाँ ब्रह्म आनन्दरूप है।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

(तैत्तिरीय उप० २.७)

वह परमात्मा रसरूप है; निरूपितरूप नहीं, अनिरूपित रस-रूप है। अर्थात् रस परमात्माका स्वलक्षण है।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। (तैत्तिरीय उप० २.७)

वहाँ आनन्दकी मीमांसा की गयी है कि—कोई युवक हो, श्रेष्ठ आचरण वाला हो, वेदोंका स्वाध्याय कर चुका हो, शासनमें कुशल हो, अंग पुष्ट हों, बलिष्ठ हो और उसे यह धनसे परिपूर्ण पृथिवी सब-की-सब प्राप्त हो जाय तो वह मनुष्यका आनन्द है

इससे सौ-गुना आनन्द मनुष्य-गन्धर्वोंका होता है और वह आनन्द उस श्रोत्रियको अनायास ही प्राप्त है जिसका अन्तःकरण कामना एवं भोगोंसे आहत नहीं हुआ। इससे सौ-गुना आनन्द देवगन्धर्वों-का होता है वह 'श्रोत्रिय अकामहत'को अनायास ही प्राप्त है। इससे सौ-गुना आनन्द पितरोंका आनन्द है। इससे सौ-गुना आनन्द अजानज देवताओंका आनन्द है और इससे सौ-गुना आनन्द कर्म-देवों (देवताओं) का है। उसका सौ-गुना आनन्द शुद्ध देवताओंका है और उसका भी सौ गुना आनन्द इन्द्रका है। इन्द्रके आनन्दका सौ-गुना आनन्द बृहस्पतिका है और उससे सौ-गुना आनन्द प्रजापतिका है। प्रजापतिसे सौ-गुना आनन्द ब्रह्माका है। और ये सब आनन्द अकामहत श्रोत्रियको सहज ही प्राप्त हैं।

(तैत्तिरीय उप० २.८)

इसके बाद वर्णन करते हैं कि—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥

मनके सहित वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ जहाँसे उसे न पाकर लौट आती हैं उस ब्रह्मके आनन्दको जानकर विद्वान् किसीसे भी भय नहीं करता। (तैत्ति० ३.९)

आनन्दं ब्रह्म।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति। (तैत्ति० ३.६)

इस प्रकार उपनिषदोंमें ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। और उप-निषदोंमेंही क्या, सौर, गाणपत्य, शैव, शाक्त, वैष्णव जो भी उपनिषद्-रीतिसे अपने सिद्धान्तका वर्णन करते हैं उनके मतमें भी

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। और जीव क्या है? वह भी दुःखरूप नहीं है क्योंकि वह ब्रह्मका अंश है।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा (ब्र० सू० २.३.४३)

जैसे सिन्धुका बिन्दु भी खारा होता है वैसे ही सच्चिदानन्दका अंश भी सच्चिदानन्द होता है। इसलिए वैष्णवोंमें भी जीव ईश्वरसे और ईश्वर जीवसे प्रेम करता है क्योंकि दोनों आनन्दस्वरूप हैं। इसलिए जितने भी उपनिषद् हैं वे मुक्तिका लक्षण करते हैं—

अखिलानर्थनिवृत्तिपूर्वकं परमानन्दावाप्तिः।

केवल दुःखाभाव मोक्ष नहीं है वरन् सम्पूर्ण अनर्थकी निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्ति मोक्ष है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनपर जहाँ श्रीहर्ष आदिने आक्षेप किया है बड़ा विलक्षण किया है।

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं स वाञ्छति।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जिता॥

'वृन्दावनका गीदड़ होना अच्छा है परन्तु वैशेषिकोंका मोक्ष पाना अच्छा नहीं है।'

जो लोग मोक्षमें केवल दुःखाभाव मानते हैं वे तो निद्रावत् मोक्ष मानते हैं। दुःखकी मूलभूत अविद्याकी निवृत्ति होकर अपने स्वरूपमें जो अवस्थान है उसका नाम मोक्ष है।[1]

इस प्रकार ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और मोक्षमें आनन्दकी

---

१. न्याय, वैशेषिक, योग और सांख्यके मोक्षमें दुःखाभाव है। पूर्वमीमांसामें पार्थसारथी मिश्रके मतसे 'प्रपञ्चसम्बन्धविलयोमोक्ष' है। वेदान्तमें केवल सम्बन्ध-विलयका नाम मोक्ष नहीं है, प्रपञ्चके अधिष्ठान-प्रकाशकके ऐक्यज्ञानमें प्रपञ्चका बाध हो जाना मोक्ष है।

उपलब्धि है—ऐसा शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और अद्वैती सभी वेदान्ती मानते हैं। इसलिए यह सूचित करनेके लिए कि यह जो ब्रह्म ज्ञान है वह परमानन्दस्वरूप है इसमें इच्छार्थक सन् प्रत्यय किया गया है क्योंकि इच्छाका विषय आनन्द होता है अतः 'ब्रह्मविचारः कर्त्तव्यः' न कहकर 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहा गया है।

अब पुनः प्रश्न हुआ कि सन् प्रत्यय 'ब्रह्मकी इच्छा' बोलता है या 'ब्रह्मज्ञानकी इच्छा'? अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासासे क्या विवक्षित है? ब्रह्मकी इच्छा या ब्रह्मज्ञानको इच्छा? तो कहा—ब्रह्मज्ञानकी इच्छा। क्योंकि ज्ञानसे ही परमानन्दस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होता है और अज्ञानसे ही परमानन्दस्वरूप ब्रह्म ढका हुआ है। वह अज्ञान ज्ञानसे ही मिटेगा। ब्रह्म स्वयं न तो इच्छाका विषय है और न अनिच्छाका।

विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यम् इच्छानिच्छा विसर्जने।

दुनियाके लोग, साधक लोग, इच्छा छोड़ सकते हैं, ब्याह, धन, स्वर्ग त्याग करते-करते अनिच्छाके बन्धनमें बँध जाते हैं, अनिच्छा-की कोठरीमें बन्द हो जाते हैं। परन्तु विज्ञका यह सामर्थ्य है कि वह विषयकी तो इच्छा नहीं करता और अन्तःकरणकी अनिच्छा-रूप कोठरीमें कैदी नहीं होता। वृत्ति ही न उठे, व्यवहारका लोप हो जाय, आखें बन्द करके बैठे ही रहें—लोग इसीको नासमझीसे ब्रह्मज्ञानीको अवस्था मानकर कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी उपदेश कैसे करेगा? अरे, क्या उसकी जीभ कट गयी? वह विचार कैसे करेगा? तो क्या उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी? उसकी वही आंख रहती है, वही जीभ रहती है, वही बुद्धि रहती है जो ब्रह्मज्ञानसे पूर्व थी। फिर व्यवहारके लोपका आग्रह क्यों?

तो फिर अन्तर क्या हुआ? आत्माकी भासमानता कभी

बाधित नहीं होती, क्योंकि उसका कोई दूसरा अधिष्ठान नहीं है। लेकिन जो विषयकी भासमानता है वह देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न है और अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित है। इसलिए भासमानता दो प्रकारकी होती है—(१) प्रवाहशील भासमानता, प्रपञ्चमें और (२) कूटस्थ भासमानता, आत्मामें। यदि कदाचित् तादात्म्य हो भी गया तो कूटस्थपर दृष्टि जाते ही प्रवाही भासमानता बाधित हो जाती है। जैसे जागते ही सपनेकी भासमानता। उसकी तो कोई कीमत ही नहीं है इसलिए व्यवहारपर तत्त्वज्ञानका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वा अन्यथापि वा ममाकर्तुर्न लेपस्य यथारब्ध प्रवर्तताम्।

जैसा व्यवहार शुरू हो गया है, जैसा प्रारब्ध है, वैसा चलता रहेगा; तत्त्वज्ञानसे उसमें क्या फर्क पड़ता है?

ब्रह्मजिज्ञासामें इच्छाका विषयत्व क्या? असलमें अपनी ब्रह्मताको भूल गये हो, उसीको चाहो! कैसे मिलेगी वह? मिलेगी कहाँ, कोई खोयी थोड़े ही है। अज्ञानसे ही खोयी है, ज्ञानसे ही मिलेगी। वास्तवमें न खोयी है न मिलेगी। यह जो तुम्हें मालूम पड़ता है कि खो गयी है, इसीलिए मिलनेकी कल्पना है।

ना कछु हुआ न हो रहा ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है अपना रूप अपार॥
पाया कहै सो बावरा खोया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं ज्यों का त्यों भरपूर॥

इस प्रकार 'ब्रह्मजिज्ञासा अनधिकार्यत्वात्।'

मंगल जो है उसका वाक्यार्थके साथ समन्वय नहीं होता। उसके तो उच्चारणका ही बहुत महत्त्व होता है। ब्रह्माजीके मुखसे पहले-पहल 'अथ' शब्द निकला। ब्रह्माके पास भाव था,

अर्थ नहीं था, क्योंकि स्थूल अर्थ उनके सूक्ष्मशरीरमें लीन था और हिरण्यगर्भ चैतन्य जाग्रत था। प्राज्ञके शरीर कारणमें सूक्ष्मभाव भी लीन रहते हैं। हमारे सुषुप्तिवत् प्राज्ञका शरीर है, हमारे स्वप्नवद् हिरण्यगर्भका शरीर है और हमारे जाग्रद्वत् विराट्का शरीर है। हिरण्यगर्भके सूक्ष्म शरीरमें सारी स्थूल-सृष्टि लीन रहती है।

तो ब्रह्माजीने कहा अर्थ—अर्थ अथ। अथ अव्यय है। अथ अर्थात् अर्थ अब प्रकट हो जाये ! स्थूल अर्थ अब प्रारम्भ हो जाय !! इसीको अथ बोलते हैं। परन्तु उनके मुँहसे जो पहले पहल शब्द निकला 'अथ' तो मानो शब्दोच्चारण ही अर्थ है। शब्दमें अर्थोत्पादिका शक्ति है—

औत्पत्तिकः खलु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः।

शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध औत्पत्तिक है अर्थात् सहज है। शब्दको ही व्यवहार बोलते हैं। इसी शब्दसे ही हिरण्यगर्भकी सृष्टि प्रारम्भ हुई। इसलिए इसको मंगल बोलते हैं। मंगलका वाक्यमें समन्वय नहीं होता। उसके श्रवणसे ही मंगल होता है।

अतः आनन्तर्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ। 'अथ' शब्द श्रवण द्वारा मंगल रूप प्रयोजनवाला होता है।

मंगलस्य च समन्वयाभावात् अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथ शब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति।

अब कहो कि पूर्वप्रकृतकी अपेक्षासे 'अथ' कहा गया। एक वस्तुका वर्णन करते रहे भिन्न उपक्रममें, अब भिन्नका प्रारम्भ किया; इसलिए अथ कहा, तो इसका अर्थ भी आनन्तर्य हुआ।

पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्

इस प्रकार 'अथ' पदका अर्थ आनन्तर्य है।

●

'अथ' पद विचार–२

(ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व धर्मजिज्ञासा अनिवार्य नहीं)

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायाध्ययनान्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यविशेषः। न. धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः।

यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्य भेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। (भाष्य)

जैसे धर्मकी जिज्ञासा करनी हो तो पहले वेदाध्ययनको आवश्यकता है। छिटपुट पढ़नेसे काम नहीं चलता। धर्मका सम्बन्ध शाश्वत संविधान है, केवल तात्कालिक निरोध, परिवर्तन या प्रवर्तनका नाम धर्म नहीं है। उसका हमारे अन्तःकरणपर शाश्वत प्रभाव क्या पड़ेगा, इस बातपर दृष्टि रखकर धर्मका निर्णय होता है। जिसको सूक्ष्म शरीरकी शाश्वतताका विज्ञान नहीं है और उसपर जो संस्क्रिया, विक्रिया होती है उसका जिसको ज्ञान नहीं है उसको धर्मका ज्ञान नहीं होता।

नहि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।
नहि अनध्यात्मवित् कश्चित् वेदान् ज्ञातुं शक्नोति॥

—(मनु०)

एकने कहा—हम लन्दनमें जाते हैं तो वहाँ दिनमें कई बार

कपड़े बदलने पड़ते हैं—नहानेकी पोशाक अलग, खानेकी अलग, सोनेकी अलग। हमने कहा—यह तो धर्मकी ही बात हुई। हम गर्म मुल्कमें रहते हैं इसीलिए कई बार नहाना धर्म है। वहाँ ठण्डा मुल्क है इसलिए कई बार कपड़े बदलना धर्म है। मूलमें तो स्वच्छता-पवित्रताका ही भाव है; केवल अभिव्यक्ति भिन्न है।

तो धर्मका ज्ञान शाश्वत संविधानसे होता है और वह संविधान वेदसे प्राप्त होता है। इसलिए धर्मजिज्ञासासे पूर्व नियमपूर्वक वेदाध्ययनकी अपेक्षा है। वेदज्ञान धर्मज्ञानका हेतु है।

वेदमें धर्मका निरूपण है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।
लोके धर्मिष्ठम् प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापम् अपनुदति।

धर्मे विश्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासत्॥

ऋग्वेदमें धर्म शब्दका बहुत प्रयोग है। वेदसे ही ज्ञात होता है कि उत्सर्ग क्या होता है, अपवाद क्या होता है, निषेध क्या होता है, विधि क्या होती है।

यह जो शास्त्रीय निषेध हैं वह बाधित और अबाधित दोनों प्रकारके अध्यासोंमें लागू होते हैं और जो विधियाँ हैं वे केवल अबाधितमें लागू होती हैं, बाधितमें नहीं। जैसे किसीको तत्त्वज्ञान हो गया तो 'मनुष्योऽहं' अध्यास स्वप्नवत् प्रतीत होता रहता है। इसी प्रकार 'मैं ब्राह्मण हूँ', मैं संन्यासी हूँ' यह अध्यास भी प्रतीत होते रहते हैं। परन्तु उसपर वह विधियाँ जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' लागू नहीं होतीं। यद्यपि निषेध उस तत्त्वज्ञानीपर भी लागू रहते हैं जैसे 'अक्षेर्मादीव्या' (जुआ मत खेलो)। निषेधवाक्य यावज्जीवन लागू रहते हैं—बाधित, अबाधित दोनों अवस्थाओंमें। यदि

शरीरकी विस्मृति हो हो जाय तो बात दूसरी है। उस अवस्थामें तो अज्ञानीपर भी विधि-निषेध लागू नहीं होता!

इस प्रकार धर्म-विज्ञानके लिए वेद-विज्ञान आवश्यक है। अतः यदि 'अथ'का अर्थ आनन्तर्य ही है तो ब्रह्मविज्ञानके पूर्व क्या आवश्यक है, यह बताना चाहिए। कहो कि धर्मजिज्ञासासे पूर्व जैसे वेदाध्ययनकी आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व भी वेदाध्ययन आवश्यक है तो स्वाध्यायानन्तर्य तो दोनोंके लिए समान ही है। इसमें कोई आपत्ति भी नहीं है परन्तु इसके कहनेसे कोई विशेषता भी सिद्ध नहीं होती।

तब कहो कि कर्मबोधके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। अर्थात् पहिले कर्मको समझें, फिर ब्रह्मको समझें! तो यह तो बड़ा भारी व्यवधान हुआ, क्योंकि सारा जीवन कर्म समझनेमें ही चला जायेगा; बादमें गौरी-गणेशका आवाहन-विसर्जन समझें (यही वेदान्तका अध्यारोप-अपवाद और कर्मका विधि-निषेध कहलाता है)। इसलिए 'अथ' का तात्पर्य 'कर्मबोधके अनन्तर' नहीं है।

मूलमें अविद्याको बैठाकर ही कर्मकी व्यवस्था होती है। इसकी इतनी शाखाएँ निकलती हैं कि बस! गृहस्थ अहंका धर्म अलग और वही अहं यदि संन्यासी हो जाय तो? उसका धर्म अलग। अहंकारके परिवर्तनसे धर्म अलग-अलग हो जाता है। परन्तु यह क्रियात्मक धर्म है। धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः। धर्मकी गति सूक्ष्म है। गीता भी कहती—गहना कर्मणो गतिः।

कहो कि पहिले कर्म करके स्वर्ग देख आवें, उपासना करके बैकुण्ठ देख आवें या योग करके समाधि लगा लें, तब वेदान्त बादमें पढ़ लेंगे। तो जिन्दगी तो बीत गयी—अब क्या वेदान्त पढ़ेंगे। दस-बीस जन्म इन्हींमें बीत जायेंगे। कर्म, उपासना और

योग तथा उनके फलके सम्बन्धमें भामतीने बहुत विचार किया है। वहीं देख लेना चाहिए।

कर्म, उपासना और योगसे व्यक्तित्वका उत्कर्ष दूसरी बात है और मिट्टी, दिक् काल-वस्तु क्या है, अधिष्ठान क्या है, यह विचार दूसरी बात है। यह तत्त्वानुसन्धान है, वस्तुका ज्ञान है, वह अपनेको घेरेमें डालनेवाली चीज नहीं है।

कुछ बनना चाहते हैं या कि जो है उसे जानना चाहते हैं? बनना-बनाना है तो कुछ करना पड़ेगा। बिना किये कहीं कुछ नहीं बनता, न यहाँ मकान और न वहाँ स्वर्ग। परमात्माको बनाना है क्या? नहीं, क्योंकि जो बनाया जायेगा वह परमात्मा ही नहीं होगा। परमात्मा पहिलेसे मौजूद है, उसे जाना जाता है।

दूर हो तो चलकर देखना पड़ेगा—घोंघा है या शंख! फिर भी ठीक पहिचानमें न आवे तो हाथमें उठाकर देखना पड़ेगा। परन्तु यदि वस्तु यहीं हो बिलकुल नजदीक हो, तो? परमात्मा यहीं है। उसके लिए चलकर जाना आवश्यक नहीं। परमात्मा यदि भीतर ही हो तो आँखें बन्द करके प्राणायाम करके और समाधि लगाकर उसे देखना पड़ता। कई लोगोंका ख्याल है कि मांस-पिण्ड कलेजेमें ईश्वर रहता है, देहमें जरायु बँधा रहता है। मगर ईश्वर केवल बाहर ही हो तो आखें खोलकर ही ईश्वरको देखा जाता। परन्तु ईश्वर तो सर्वत्र है और जैसा बाहर है वैसा ही भीतर भी है। इसलिए ईश्वरको न आँखें खोलकर देखनेकी जरूरत है और न आँखें बन्द करके ही। खुली आँखसे देखो, बन्दसे देखो, यहाँ देखो, कहीं जाकर देखो, मगर देख लो बस, इतनी ही अपेक्षा है। उससे कर्मको अपेक्षा नहीं है। जहाँ मौजूद वस्तुको जानना है वहाँ केवल प्रमाण (देखनेके करण)की प्रवृत्ति ठीक-ठीक होनी चाहिए।

इस प्रकार कर्मबोधके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा होती है, यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है यह नियम बनाना बिलकुल गलत है।

(इस जन्ममें या पिछले जन्ममें धर्मानुष्ठान करके) जिसकी वृत्ति ऐसी अवस्थामें पहुँच गयी है कि वह बाहरके विषयोंमें सुखकी कल्पना नहीं करती उसे धर्मजिज्ञासासे पूर्व ही ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। यह जो ख्याल है कि सुख बाहर है, इससे बड़ी भूल और कोई नहीं है। सुख तुम्हारे ज्ञानमें फुरफुराता है या बाहर फुरफुराता है? तो ज्ञानसे बाहर विषयमें सुख है इससे बड़ी भूल और कोई नहीं है लेकिन यहाँ तो कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है। सारा गाँव सुख ढूंढनेके लिए जंगलमें निकल गया है। वहाँ रङ्ग-बिरङ्गी चिड़ियाँ, फूल, फल मिल सकते हैं और दुःखी भी नहीं होगा क्योंकि वहाँ नयी-नयी चीजें हैं और दूसरेपर दृष्टि नहीं है। परन्तु ऐसा सुख तो उच्छृङ्खल व्यभिचारीको भी होता है। उसे किसी स्त्रीके वियोगका दुःख नहीं होता? पर क्या सुख स्त्रीमें है? नया-नया दृश्य, नये फूल, फल, नयी-नयी स्त्री देख रहे हो; बड़ा मजा आया। परन्तु बात क्या है? वहाँ क्योंकि तुम्हारी आसक्ति कहीं नहीं जुड़ती, इसलिए आसक्ति न होनेसे दुःख नहीं जुड़ता। इस दुःखाभावको ही तुम मजा कहते हो।

धर्म वह चीज है जो बाहरसे सुखकी भ्रान्तिको निकाल दे। जैसे ब्रह्मचर्य धर्म है। क्योंकि प्रश्न यह है कि सुख भोगमें है या शान्तिमें? महात्माओंका यह अनुभव है कि भोगसे जो सुख मिलता है उससे ज्यादा सुख शान्तिसे मिलता है। वेदमें लिखा होनेसे ही यह बात सच्ची नहीं है, यह बात आप ईमानदारीसे करके देख लो।

दस तरहसे भोजन घरमें बनाकर खाना, सुख इसमें है या अपने अनुकूल रोटी-दाल बनाकर खा लिया और स्वस्थ रहे, सुख

इसमें है ? स्वास्थ्यका सुख रोटी-दालमें है और बीमारीका सुख, डाक्टरीका सुख, यह सब अधिक भोजनमें है। इसलिए धर्म वह है जो 'सुख बाहर है' इस भ्रान्तिको मिटाये; इसके विपरीत सुख अपने हृदयकी वृत्तिके निर्माणमें है, यह प्रतीति करा दे। चाहे वह स्नान करनेसे हो या स्नान न करनेसे हो, दान करके हो या दान न करके हो, इसमें कोई मतलब नहीं, अन्तःकरणकी वृत्तिको भोगरहित अन्तःकरणमें सुखका भान कर दे, यह धर्मका काम है। धर्मका यह काम है कि 'मैं पवित्र हूँ' यह अनुभव करावे। किसीको मन्त्रसे, किसीको स्नानसे, ध्यानसे, विवेकसे या दानसे यह वृत्ति उदय होती है। धर्मका फल है—अपने अहंमें उत्तम विशेषणको जोड़ देना। और अधर्मका फल है—अपने अहंमें निकृष्ट विशेषणको जोड़ देना।

वह धर्म सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण मानवजातिके लिए आवश्यक है। जो मनमें आवे सो बोल दें! परिणामपर विचार करके बोलना या करना चाहिए। बोलनेमें, कर्ममें, भोगमें औचित्य नहीं छोड़ना। और सत्य जिज्ञासुके लिए वचनमें, धर्ममें, भोगमें कितना आवश्यक है इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

हम ऐसे वैज्ञानिकोंको जानते हैं जो विज्ञानमें तन्मय होकर खाने-पहिननेको ही भूल जाते हैं और तुम ब्रह्मको ढूंढने चले हो! यह कोई कौतूहल है क्या ? जो कौतुकवश ब्रह्मज्ञानके मार्गमें चलता है कि चलो देख लें ब्रह्मज्ञानमें क्या होता है, उसको ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता।

तो धर्म और ब्रह्म! धर्मका फल है—हमारी वृत्ति बाह्य भोगके बिना भी केवल जीवन-निर्वाहसे सन्तुष्ट रहे और ज्ञान भिन्न-भिन्न विषयोंको प्रकाशित न करके केवल स्वरूपके प्रकाशसे सन्तुष्ट रहने लग जाय! ज्ञानमें विक्षेपकी आवश्यकता न रहे भले विक्षेप होवे, और आनन्दमें विषयकी आवश्यकता न रहे, भले विषय-भोग होवे और सत्तामें (जीवनमें) बहुत-सी वस्तुओं और कर्मोंकी

आवश्यकता न रहे। भले वे रहें, जोर आवश्यकतापर है। यह धर्मका काम है।

धर्म सच्चिदानन्दका पहरेदार है कि कहीं हमारी सत्ता, चित्ता और आनन्द बहुत-सी वस्तुओं, बहुत-से कर्मों, बहुत-से विषयोंके ज्ञान अथवा विषयसुखके पराधीन न हो जाय। धर्म जब अन्तःकरणमें रहता है, चाहे पहिलेका किया हुआ हो या अब किया जा रहा हो, अन्तःकरणको ठीक-ठिकानेसे रखनेके लिए धर्म होता है। यह जानमें भी होता है और अनजानमें भी। कई लोगोंके जीवनमें धर्मज्ञान नहीं होता है परन्तु धर्म होता है और कईके जीवनमें धर्मज्ञान होता है परन्तु धर्म नहीं होता।

धर्म और ब्रह्म अलग-अलग नहीं हैं; क्योंकि निर्विशेष सत् (धर्म) और निर्विशेषज्ञान (ब्रह्म) एक ही होता है। सविशेष ज्ञान जहाँ होता है वहाँ विशेष और विशेष ज्ञान अलग-अलग होते हैं। दृष्टिसे द्रष्टा न्यारा होता है। विशेषसे उसका ज्ञाता न्यारा होता है।

यदि कहो कि पहिले धर्मको जानो और पीछे ब्रह्मको, तो इसकी जरूरत नहीं। यदि धर्मका फल अपनेको मिल गया है और यदि वह अपने अन्तःकरणमें है तो पहिले धर्मको जाननेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि धर्मका स्वरूप अलग है और ब्रह्मका स्वरूप अलग है—धर्म ज्ञानका फल जुदा है और ब्रह्मज्ञानका फल जुदा है। उसमें न शेष-शेषी भाव है, न अधिकृत-अधिकार भाव है, न क्रम भाव है[1]।

---

१. धर्मअंग और ब्रह्म अंगी—इस भावका नाम अंगांगी भाव या शेष-शेषी भाव है। जिसकी धर्मजिज्ञासा हो उसीको ब्रह्मजिज्ञासाका भी अधिकार हो—यह अधिकृत-अधिकारभाव है। जैसे यज्ञपशुके एकके अनन्तर एक अवयव-स्पर्श करनेकी विधि है उस प्रकारसे धर्मके अनन्तर ब्रह्म, यह क्रमभाव है। परन्तु ब्रह्मजिज्ञासामें यह कोई भाव नहीं है।

फिर धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानमें फरक (भद) क्या है ?

यह बात हमें बहुत पहले ही मालूम हो गयी थी। 'अनुभूति-प्रकाश' नामका एक ग्रन्थ है। इसके लेखक हैं श्री विद्यारण्य स्वामी। उसमें उन्नीस उपनिषदोंका सार अनुष्टुप् छन्दोंमें लिखा हुआ है। मैं मोकलपुरके बाबाके दर्शनार्थ जाता था। १४ मोलके करोब दूर था। चार बजे घरसे निकल पड़ता, साढ़े आठ बजे गंगाजी पहुँचता, स्नान करता। पैसा होता तो नावसे पार होते और फिर तीन मील और पैदल जाते या सीधे नावसे चले जाते तो नावमें घंटा-डेढ़-घंटा लगता। उस समय मैं अनुभूति-प्रकाशको घोंटता था। उसमें एक श्लोक था—

न वेदानुष्ठानं विना वेद वेदनं पर्यवस्यति।
ब्रह्मधीस्तावतैव स्यात् फलदेति परामता॥

चारो वेद पढ़ जाओ और अनुष्ठान न करो तो वेदका ज्ञान निष्फल चला जायेगा। वेदका ज्ञान करनेके लिये है। अनुष्ठानके बिना वेदज्ञान फलित नहीं होता। परन्तु ब्रह्मज्ञानको पराविद्या क्यों कहते हैं ? क्योंकि अनुष्ठान बिना ही केवल ज्ञानमात्रसे ही ब्रह्माकार वृत्ति फलित हो जाती है, अर्थात् सम्पूर्ण अविद्या और बन्धकी निवृत्ति हो जाती है।

तो धर्मज्ञान अनुष्ठानापेक्ष्य है और उसका फल है अभ्युदय, इस लोक और परलोक दोनोंमें अभ्युदय। धर्मात्मापर लोग विश्वास करते हैं। अगर प्रजाका विश्वास प्राप्त करना है तो धर्मका पालन करना चाहिए। थोड़े दिन तकलीफ होगी। फिर जब यह मालूम पड़ जायेगा कि यह आदमी झूठ नहीं बोलता तो सब विश्वास करने लगेंगे। गाँधीजीका उदाहरण हमारे सामने है।

मैं जब बालक ही था, बाबाने हमें दो रुपया जूते पहिननेके

लिये दिये। एक मुसलमानकी दुकानपर गया। जूता पहन लिया, कीमत पूछीं। उसने दो रुपया माँगा सो मैंने दे दिया। जब चलने लगा तो उसने आठ आना (५० पैसे) वापस कर दिया। बोला— मैंने मोलभाव करनेके लिए आठ आना बढ़ाकर कीमत बतायी थी। तुमने मोलभाव नहीं किया, इसलिए आठ आना वापस करता हूँ। अब देखो! उस समय उसकी दुकानपर कोई दस-बीस जोड़े जूते थे, परन्तु ईमानदारीके बलपर आज उसके पास लाखोंकी सम्पत्ति है और उसकी ईमानदारी आज भी कायम है।

अभ्युदय अर्थात् अभिमुखसे उन्नति आवे, चारों ओरसे उन्नति, उसका सेवन करे—लोकमें भी और परलोकमें भी। यह धर्मका फल है। परन्तु धर्म करना पड़ता है। इसमें सत्य, अहिंसा अस्तेय सब करने पड़ते हैं।

परन्तु ब्रह्मज्ञान जो है वह 'निश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्'। ब्रह्मज्ञानका फल निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष है और उसमें अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं है।

'निःश्रेयस' अर्थात् 'निःशेषं श्रेयः' अथवा 'निष्क्रान्तानि श्रेयांसि यस्मात्' (जहाँ कोई श्रेय बाकी न रहे) आत्यन्तिक कल्याणका नाम निःश्रेयस है।

एक बात देखो! दूर हो चीज, भविष्यमें होनेवाली हो या अपनेसे अलग हो, तो इसकी इच्छा करनी पड़ेगी और प्रयत्न करना पड़ेगा। उदाहरणके लिए अमेरिकाकी चीजकी किताब पढ़कर जानोगे तब इच्छा होगी, परन्तु उसे प्राप्त करनेके लिए वहाँ जाना पड़ेगा। छह मास आगे होनेवाली बात यदि हो तो उसे जानो अब, फिर सावधान रहना पड़ेगा और छः मासतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी तब वह बात ग्रहण होगी। दूसरी कोई चीज हो तो उसे पकड़ना पड़ेगा। परन्तु जो तुम खुद ही हो उसको जनोगे

अब तो ? इच्छा होगी उसे पानेकी ? प्रयत्न करोगे उसे पानेका ? नहीं, कोई आवश्यकता ही नहीं। इसलिए इच्छा और प्रयत्नसे मुक्ति तभी होगी जब अपने आपको जानेंगे।

अच्छा, अपने आपको तो जाना, परन्तु कोई दबा दे तो ? परन्तु अपना आपा अद्वय हो, तो उसका भी भय नहीं। देश, काल, वस्तु अपनेमें भी कभी भासता है, कभी नहीं भासता, परन्तु अपना आपा अबाधित भासमान है; फिर डर किसका ? अद्वयमें भय कहाँ ?

लोग कहते हैं—ब्रह्म परिपूर्ण हैं, परन्तु 'मैं' ब्रह्म नहीं है। वह तो फिर ब्रह्म ही नहीं होगा। उसमें तो छेद हो गया। 'मैं' का अलग होना ब्रह्मकी परिपूर्णतामें न्यूनता है और 'मैं' कट गया, परिच्छिन्न हो गया। और ब्रह्म यदि मैं-से जुदा होगा, तो ब्रह्मकी दुर्दशा होगी। कोई भी वस्तु जो चेतन होगी उसका आत्मत्वेन ही अनुभव होगा। 'मैं जानता हूँ' और जो जाना जायेगा वह दृश्य होगा और ज्ञाता चेतन होगा। दृश्य विकारी परापेक्ष, पराधीन एवं जड़ होगा, तब ब्रह्म भी अन्य रूपसे ज्ञेय होगा तो उसे जड़-विकारी आदि होना पड़ेगा और यदि अज्ञेय हो तो वह कोरी कल्पना होगा। ब्रह्म जब आत्मत्वेन जाना जायेगा तभी ब्रह्म ब्रह्म होगा।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च। (ब्रह्मसूत्र ४.१.३)

आत्मा ब्रह्म है, यह बात समझायी जाती है और आत्मा ब्रह्म है, यही जाना जाता है अर्थात् यही अनुभव होता है।

ब्रह्म यदि मुझसे दूर हो, देर हो, अन्य हो—तो वह परिच्छिन्न होगा। ब्रह्म मुझसे न ज्ञातरूपसे अलग हो सकता है और न अज्ञातरूपसे अलग हो सकता है क्योंकि वह या तो जड़ होगा या कल्पित। ब्रह्मसे यदि मैं अलग होऊँ तो मैं परिच्छिन्न टुकड़े-टुकड़े हो जाऊँगा। इसलिए ब्रह्मसे अलग मैं और मुझसे अलग ब्रह्मकी

अनुभूति कभी हो ही नहीं सकती। इसका अर्थ है कि अपने आपको ब्रह्म जानते ही अद्वितीयता हो जाती है। तब न कोई दृश्य है, न विकारी है, न कोई अपने-से जुदा है, न कोई इच्छा है, न प्रयत्न। यदि अपनेसे अन्य कोई होगा, तो इच्छा भी बनी रहेगी और प्रयत्न भी। और यदि इच्छा और प्रयत्न बने रहे, तो मुक्ति किस बातकी ?—इच्छावालेकी मुक्ति ? प्रयत्नवालेकी मुक्ति ? इच्छावाला कंगाल है और प्रयत्नवान मजदूर है। यदि कंगाली और मजदूरी बनी रही, तो फिर मुक्ति कैसी ? इच्छा-प्रयत्नसे सम्पूर्ण छुटकारा ब्रह्मज्ञानसे ही मिलता है। इसके बाद न कर्म है, न गति, न फल।

ब्रह्मविज्ञानके साथ तीन चीजें कटनी चाहिए! कर्म, गति और फल। जब अपनेको अद्वय, अनन्त ब्रह्म जान लिया तो कुछ पानेकी इच्छा नहीं और इसलिए प्रयत्न नहीं—कर्म कट गया। जब अपने अद्वय स्वरूपमें देशान्तर ही नहीं है, तो कहीं जाना नहीं है—गति कट गयी और स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक सब कट गये। श्रुतिने कहा—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव प्रविलीयते।

जब अपने अद्वय स्वरूपमें कालान्तर ही नहीं है, फल क्या उदय होगा ? फल कट गया। सबका फल तो ब्रह्मज्ञान है, अब फल क्या उदय होगा ?

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानसे अपने अद्वयस्वरूपमें देशान्तर न होनेसे गति कट गयी, कालान्तर न होनेसे फल कट गया और द्रव्यान्तर, वस्त्वन्तर न होनेसे इच्छा-प्रयत्नरूप कर्म कट गया। ब्रह्मविज्ञानके साथ ही ये सब कट जाते हैं।

हिमालयमें बैठकर ब्रह्मविद्या नहीं सीखी जाती वह ब्रह्मज्ञके पास मिलती है। वैराग्यमें-से ब्रह्मज्ञान नहीं निकलता, वह ब्रह्मज्ञमें-से निकलता है।

निष्कर्ष कि ब्रह्मज्ञानमें अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं है।

× × × ×

अब धर्म जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाका अन्तर और स्पष्ट करते हैं—

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापार-तन्त्रत्वात् इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वात् न पुरुषव्यापार-तन्त्रम्। (भाष्य)

धर्म जिज्ञासाका विषय भव्य है अर्थात् होनेवाला है और ज्ञानकालमें वह नहीं है, क्योंकि वह पुरुष व्यापारके अधीन है। कैसे ? पहले धर्मका ज्ञान किया जाता है तदुपरान्त उसको किया जाता है। धर्मकी जिज्ञासा करनेके लिए होती है। ज्ञानकालमें कर्म नहीं होता बादमें होता है। पर्यूषण कैसे होता है ? एकादशी कैसे की जाती है ? तो पहले मालूम करो और फिर करो। केवल भूखा रहनेसे एकादशी नहीं हो जाती। दशमीकी रातको अन्न नहीं खाना, फिर द्वादशीकी रातको भी अन्न नहीं खाना। यह कोई रोजा नहीं है कि सूर्योदयसे पहले खालो या द्वादशीको माल-टाल बनने दो और एकादशी फलाहार ही चलने दो; सो नहीं। व्रतमें छल नहीं चलता।

न व्याजेनाचरेत् धर्मम्। असकृत् जलपानाच्च।

धर्ममें व्याज (बहाना) नहीं होना चाहिए। बार-बार जल-पानादिसे व्रत नहीं रहता। एक बार पान खानेसे, दिनमें सोनेसे, मैथुनसे व्रत टूट जाता है।

धर्म करनेसे पहले उसके संकल्पको जान लो—बारह बरस-के लिए कि एक बरसके लिए, केवल शुक्ला या कृष्णा एकादशी करेंगे। जो लोग केवल क्रियाको धर्म समझते हैं वे

लोग धर्मका रहस्य बिलकुल नहीं जानते हैं। उसमें विहितत्वसे धर्मकी उत्पत्ति होती है।

'धर्मो जिज्ञास्यः' अर्थात् जो धर्म अभी बनाना है भव्यश्च, जो इस समय नहीं है, उसके बारेमें जानकारी कर लो। धर्मके ज्ञान-कालमें धर्म पैदा नहीं हुआ, अभी पैदा करना पड़ेगा। क्योंकि 'पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्'। इसका अर्थ है कि धर्म तब होता है जब वह किया जाता है। यह विचित्र बात है।

पुरुषतन्त्र क्या? धर्ममें हमारा सामर्थ्य काम करता है। किसीने कहा—पाँच रुपये देदो। अब हम चाहें तो दें-न-दें, अथवा कम-ज्यादा दें। यही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् है। इसीको पुरुष-तंत्र बोलते हैं।

परन्तु 'यह घड़ी है' यह ज्ञान हो रहा है। इसमें हमारा (पुरुषका) सामर्थ्य कहाँ तक है? क्या हम चाहें तो इसे घड़ी न देखकर गणेश देख सकते हैं? नहीं। यदि हम घड़ीको न देखें और कहें कि घड़ी है ही नहीं, तो क्या घड़ी नहीं हो जायेगी? नहीं। ज्ञानसे जो वस्तु सिद्ध होती है उसमें ज्ञाताका सामर्थ्य ज्ञेयवस्तुको बदलनेका नहीं होता!

हमारे एक ओर पुरुष बैठे हैं और दूसरी ओर स्त्रियाँ बैठी हैं। यदि हम चाहें कि सब पुरुष हो जायँ या सब स्त्री हो जायँ, तो क्या हो सकता है? नहीं। सच्ची चीज इच्छासे नहीं बदलती। यह जो ब्रह्म है जिसके विज्ञानकी हम चर्चा करते हैं वह पुरुषतन्त्र नहीं है। वह हमारी इच्छासे अपना स्वरूप बदलता नहीं है। उसमें इन्द्रियोंको जोड़े बिना, अन्तःकरणको जोड़े बिना, उसका जो असली स्वरूप है वह सदैव एकरस रहता है। हम अल्ला-अल्ला कहें या गॉड-गॉड या दोनोंको गाली दें, इसमें हमारा स्वातन्त्र्य है, परन्तु प्रकाशसे, ज्ञानसे हम मुकर नहीं सकते। आप इस ज्ञानसे मुकर जाइये कि हम हैं? है आपमें सामर्थ्य?

ब्रह्मज्ञान और धर्मज्ञानमें यही अन्तर है।

इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्।

जो 'भूत' अर्थात् पहलेसे मौजूद ब्रह्म है वह ब्रह्म जिज्ञासाका विषय है और वह नित्य है। जैसे धर्म धर्मज्ञान-कालमें नहीं रहता वैसे ब्रह्म ब्रह्मजिज्ञासाकालमें न रहता हो सो नहीं। जैसे धर्मज्ञान पुरुष-व्यापारतन्त्र है वैसे ब्रह्मज्ञान पुरुष-व्यापारतन्त्र नहीं है।

'भूतं ब्रह्म'। सृष्टिकी आदि कहाँ? वहीं ईश्वर मिल जायेगा। तो किसीने कहा—अंगुलीके ऊपर (आकाशमें ऊर्ध्व दिशामें), किसीने कहा—नीचे। योगीसे पूछा—ईश्वरकी प्राप्ति कहाँ? बोले—सहस्रारमें, सिरमें। कमल खिल जायेगा तब वहाँ ईश्वर मिलेंगे। भक्तसे पूछा—ईश्वर कहाँ? तो बोले—दिलमें। वाक्के उपासकने बताया—मूलाधारमें परावाणीके रूपमें। अब परमात्मा क्या खिलौना है कि किसीके सिरमें रहे, तो किसीके दिलमें, तो किसीके मूलाधारमें?

सृष्टिकी आदि कहाँ? किसीने ऊपर कहा, तो किसीने नीचे। किसीने क्षीरसागरमें कारणको सोता पाया, तो किसीने शिवसे, देवी मैयासे या गणेश भगवान्से या सूर्य भगवान्से सृष्टिकी उत्पत्ति बतायी। भाई मेरे, सृष्टिकी आदि वहीं है जहाँसे सृष्टि मालूम पड़ती है। जिससे ब्रह्मा-विष्णु-महेश मालूम पड़ते हैं और जिसमें ये ब्रह्मादि मालूम भी नहीं पड़ते, वही सृष्टिकी आदि है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, प्रकृति, ईश्वर जो कुछ भी अपनेसे जुदा है वह सब मैंके होनेपर ही मालूम पड़ते हैं। इसलिए जहाँसे 'मैं' मालूम पड़ता है वहीं सृष्टिकी आदि है। वहीं ईश्वर है। उसका नाम है ज्ञान। वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, वह ब्रह्म है, सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है।

एकने कहा—हमारे गुरुजीने सृष्टि बनायी। हमने कहा—

हमारे बेटेने बनायी। उसने कहा—सिद्ध करो। हमने कहा—तुम सिद्ध करो। अरे भाई! पहले गुरुजी बने, तब सृष्टि उनसे बनी न! गुरुजी भी तो पहले बने ही, वे बिना बने थोड़े ही हैं। अनजान लोगोंको जो कह दो, उसीमें फँस जाते हैं।

तो 'भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं' जो वस्तु मौजूद है और ऐसी मौजूद है कि उसे सिद्ध करनेके लिए किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। बृहदारण्यककी श्रुति उसे 'अप्रेमयम् ध्रुवम्' कहती है और 'अचिन्त्यं, अलक्षणं अनिर्देश्यम्, अव्यपदेश्यम्' कहती है—ऐसे ब्रह्म की जिज्ञासाका धर्मजिज्ञासासे क्या सम्बन्ध !

प्रमेय अर्थात् जो प्रमाणसे जाना जाय; प्रमेयका करण प्रमाण। इसलिए अप्रेमय वह जो प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटीको प्रकाशित करता है। एक वेदान्त भाषाका नियम ही सुना देते हैं—

अन्यत्वे नाप्रमेयत्वं प्रमेयत्वे तु दृश्यता।
अतोऽप्रमेयता श्रौती आत्मन्यवसिता भवेत्॥

यदि वस्तु हमसे जुदा है तो प्रमाणसे उसे जानो। प्रमाण अर्थात् इन्द्रियाँ, मन बुद्धिसे, सुषुप्तिमें, समाधिमें। परन्तु वह वस्तु अप्रमेय नहीं होगी। यदि प्रमेय होगी तो दृश्य होगी; जड़ होगी, विकारी होगी, पराधीन होगी, परिच्छिन्न होगी। फिर श्रुति अप्रमेय किसको बोलती है? अपनेको। सुषुप्तिका नाम अप्रमेय नहीं है क्योंकि उसमें तो सर्व प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयका बीज लीन-रूपसे रहता है। समाधि और उपास्यलोकमें भी अप्रमेय नहीं रहता। यही जो साक्षी है, द्रष्टा है, वही अप्रमेय है। यही 'इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं' है और वह 'पुरुष व्यापारतन्त्र' नहीं है।

'न पुरुषव्यापारतन्त्रम्'। हम अपनेको जानें कि हम हैं और न जानें या अपनेको बदल दें कि हम नहीं हैं? है किसीमें सामर्थ्य कि यह निश्चय करे कि 'मैं नहीं हूँ?' यह निश्चय करनेवाला

कौन होगा ? अच्छा; कोई निश्चय कर सकता है कि 'मैं नहीं जानता ?' कोई निश्चय कर सकता है कि 'मैं अपना प्रिय नहीं हूँ ?' यह वेदान्त सिद्धान्त अकाट्य है। ज्ञान पुरुषव्यापार-तन्त्र नहीं है।

विद्यारण्य स्वामीने बहुत अच्छे शब्दोंमें कहा है—

वस्तुतन्त्रे भवेत् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।

जिसको जानते हैं उसके अनुरूप ज्ञान होता है और जैसा हम करते हैं वैसी उपासना होती है। घड़ीको घड़ी जानना ज्ञान है और उसको ईश्वरका वरदान समझना उपासना है—अपनेको अपना आपा जानो, यह ज्ञान है और अपनेको सखी जानो तो ? यह उपासना है। चाहे सखी समझो या सखा, चाहे दोनों न समझो और चाहे अपनेको चार्वाकका अवतार समझो—इसमे आप स्वतन्त्र हैं। जिसमें आपकी क्रिया-भावनाके अधीन जो वस्तु है वह उपास्य उपासना है। और जिसमें आप कुछ भी हेर-फेर नहीं कर सकते और दुनियाका कोई भी आदमी हेर-फेर नहीं कर सकता वह ज्ञान है।

न हि कश्चित् प्रतीयात् नाहमस्मीति।

बौद्धोंने निष्प्रपञ्चताका वर्णन किया। वेदान्तियोंके प्यारे हैं बौद्ध। क्योंकि द्वैतका मिथ्यात्व निश्चय करनेमें वे वेदान्तियोंका बहुत दूरतक साथ देते हैं।

जैन अन्तःकरण शुद्ध करानेमें बहुत दूरतक वेदान्तका साथ देते हैं।

शैव, वैष्णव, शाक्त तत्-पदवाच्यार्थ ईश्वरके स्वरूप-निर्णयमें बहुत दूरतक साथ देते हैं।

सांख्य और योग त्वं-पदवाच्यार्थ आत्माके स्वरूप निर्णयमें वेदान्तका बहुत दूरतक साथ देते हैं।

बौद्ध शून्यको तत्त्व कहते हैं। वेदान्त कहता है कि शून्य जिसको मालूम पड़ता है वह तत्त्व है; वही परमार्थ है। इसलिए आपका अपना जो आत्मस्वरूप है वह एक रस है, उसे कोई बदल नहीं सकता। वह पुरुष-व्यापारतन्त्र नहीं है। वह भव्य नहीं, साध्य नहीं सिद्ध है।

× × ×

अब एक तीसरा भेद धर्मजिज्ञासाका बताते हैं और वह है विधिमें।

चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। (भाष्य)

ब्रह्मके लिये और धर्मके लिये जो शास्त्रमें उपदेश हैं, उसमें अन्तर है। धर्मके बारेमें जान-सुनकरके जैसी प्रवृत्ति होती है वैसी ब्रह्मके बारेमें जान-सुनकर नहीं होती। उपदेशकी प्रक्रियामें भी अन्तर है और बादकी प्रवृत्तिमें भी अन्तर है। 'चोदनाप्रवृत्ति भेदाच्च'। क्या अन्तर है? कहते हैं—

या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति।

धर्मके लिये जब कोई उपदेश किया जाता है जैसे—होम करो, यज्ञ करो तो वे उपदेश 'वेदी कैसे बनाना, समाधि कैसे लगाना, साकल्य कैसे बनाना इत्यादि ब्राह्मण, ऋत्विज, होम, विधि, मन्त्र—इन सब कर्मोंमें मनुष्यको लगाते हुए ही धर्मके विधान होते हैं।

धर्मके बारेमें भी लोगोंकी धारणा अलग-अलग होती है। कोई कालमें धर्म मानते हैं, जैसे अमावस्याके दिन किसीको खिलाओ

कोई देशमें धर्म मानते हैं, जैसे गयाजीमें जाकर खिलाओ। कोई वस्तुमें धर्म मानते हैं, जैसे चावलका दान करो।

खाओ तो धर्म—इसको बहुत लोग जल्दी मान लेंगे। खिलाओ तो धर्म—इसको कम लोग देरसे मानेंगे। परन्तु द्रव्यका उपयोग दूसरेके बारेमें और अपने बारेमें करना, यह दोनों अलग-अलग धर्म हैं।

कोई शारीरिक क्रियाको धर्म मानते हैं—ऐसे हाथ जोड़ो तो धर्म। पूजा हाथकी नहीं होती, पाँवकी होती है। क्योंकि पाँवमें गतिके देवता विष्णु रहते हैं जबकि हाथमें कर्मका देवता इन्द्र रहता है। पूजा विष्णुकी होती है, हाथकी नहीं।

कुछ लोग हृदयमें भावसे धर्म मानते हैं। भाव भी विधिके अनुकूल होना चाहिए तथा संकल्पपूर्वक-कर्तृत्वपूर्वक होना चाहिए, श्रद्धा-भावनापूर्वक होना चाहिए।

आत्मज्ञानमें वस्तुकी जरूरत नहीं, न सोनाकी जरूरत है, न तुलसीकी। लोग मरते समय मुँहमें तुलसी, सोना डालनेका बन्दोबस्त तो करते हैं, परन्तु ईमानदारीसे जीवन बिताकर मुक्त हो जायें, इसकी फिक्र नहीं करते। ऐसे लोग क्या मुक्तिमें आस्था रखते हैं? नहीं। सारी जिन्दगी तो बेईमानीमें बीती और मरते समय तुलसीसे मुक्ति! यह तुलसीका खण्डन नहीं करते, परन्तु आप अपनी जाँच-पड़ताल करो कि आप वास्तवमें चाहते क्या हैं?

मुक्ति होगी, कैसे? देह हिलानेसे? हाथ, पाँव, मन, बुद्धि हिलानेसे? नहीं भाई! जब तुम अपनेको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त जानोगे, तब देखोगे कि तुमने अपनेको झूठ-मूठ ही बद्ध मान रखा था। तुम्हारा स्वरूप नित्यमुक्त है।

जो धर्मका ज्ञान कर्ममें लगाता हुआ धर्मका बोध कराता है

परन्तु ब्रह्मबोधक शास्त्र केवल ब्रह्मका ज्ञान कराता है, वह कहीं लगाता नहीं है।

कुछ लोग होते हैं किसी 'साहब'से मिलने जाते हैं, तो पहले वे चपरासीसे मिलेंगे। चपरासी उन्हें किसी क्लर्कसे मिलायेगा; क्लर्क हैडक्लर्कसे मिलायेगा और अन्तमें वे साहबसे मिले बिना ही लौट जायेंगे। थोड़ा-बहुत काम उनका भी हो जाता है। दूसरे लोग होते हैं जो सीधे साहबसे मिलते हैं, बीचके लोगोंकी ओर वे ध्यान ही नहीं देते। यह परमेश्वरसे सीधे मिलनेका जो विज्ञान है वही ब्रह्म-विज्ञान है।

ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्। अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरषोऽवबोधे नियुज्यते।

ब्रह्मका ज्ञान दूसरेका ज्ञान नहीं है और अपना ज्ञान भी नहीं है; अपना आपा ही ज्ञान है। ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता। असलमें ज्ञान ही ब्रह्म है; ब्रह्म अर्थात् देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीय चेतन तत्त्व।

देखो, यह रूमाल है। रूमालका ज्ञान रूमाल होनेसे है। लो रूमाल हटा दिया। यदि इन्द्रियोंसे भी है तो इन्द्रियाँ हटा दो; माने मनमें लौट जाओ। यदि मन भी ज्ञानमें सहकारी है तो उसे भी हटा दो। अर्थात् अन्तःकरणको उपेक्षा कर दो। अब ज्ञान कहाँ गया ? ज्ञानके अभिमानी ज्ञातामें। इसका भी ख्याल हटा दो। अब ज्ञान शुद्ध है। न उसमें रूमाल विषयका ज्ञान है (ज्ञेयमुक्त ज्ञान) और न ज्ञान करणका संयोग है (अर्थात् ज्ञान-करणके जन्य जनक भावसे मुक्त ज्ञान है) और न उसमें कोई अभिमानी है (ज्ञातामुक्त ज्ञान)। तो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीसे मुक्त, सबसे व्यावृत्त जो ज्ञान है वह ब्रह्म है। वह

अखण्ड है, परिपूर्ण है और अद्वय है। वह ज्ञान ही ब्रह्म है और वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है।

जिस ज्ञानसे यह मकान मालूम पड़ रहा है, यह शरीर मालूम पड़ रहा है, मन मालूम पड़ रहा है, अभिमानी मालूम पड़ रहा है, वही ज्ञान है—ज्ञप्तिर्ज्ञानम्।' ज्ञानके करणका नाम ज्ञान नहीं—'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्' नहीं—बल्कि ज्ञप्तिर्ज्ञानम् अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयके लेशसे विनिर्मुक्त जो ज्ञप्तिमात्र, ज्ञान-मात्र, चिन्मात्र है वह ज्ञान है। जहाँ विषयज्ञान प्राप्त नहीं करना वहाँ ज्ञानमें करणत्व नहीं है।

एक-एक शरीरमें बैठकर ज्ञानी मत बनो। नाक, आँख, कान-वाले बनकर ज्ञानी मत बनो। मन, बुद्धि, चित्तवाले बनकर ज्ञानी मत बनो। 'मैं' वाले बनकर ज्ञानी मत बनो।

'जिस सिरका है यह बाल उसी सिरमें जोड़ दो।' यह मैं भी दृश्य है, जाने दो इसे। इससे एक बार अपनेको व्यतिरिक्त कर लो। न यह मैं है और न मेरा। न यह है, न वह। इनसे मुक्त अपना ज्ञान 'मैं' ब्रह्म है। श्रुतियाँ हैं—

ज्ञानं ब्रह्म। प्रज्ञानं ब्रह्म। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

ज्ञान और प्रज्ञानमें क्या अन्तर है। ज्ञानके पेटमें यदि फूल (विषय, ज्ञेय) तो ज्ञान और फूल निकाल दिया तो प्रधान। ज्ञानके पेटमें मैं भी न हो, फूल भी न हो और फूल-ज्ञानका करण भी न हो, तो वही ज्ञान फूलका असली आत्मा ज्ञान है—बाध-सामानाधिकरण्यसे फूलकी आत्मा ज्ञान है और अपना अहमर्थ है मुख्यसामाधिकरण्यकी रीतिसे।

ब्रह्मसूत्रका सबसे पुराना भाष्य जो मिलता है वह है भगवान् श्रीशंकराचार्यकृत शारीरक-भाष्य जिसपर प्रवचन चल रहा है। श्रीरामानुजाचार्यने 'बोधायनवृत्ति'का जिक्र किया है, परन्तु

वह मिलती नहीं है। अद्वैतियोंमें शंकर, वैष्णवोंमें रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बल्लभ, शैवोंमें श्रीकण्ठ, श्रीकर और अप्पय-दीक्षित सब-के सब 'ब्रह्मजिज्ञासा'से ब्रह्मसूत्र प्रारम्भ होनेके कारण मानते हैं कि ब्रह्म परमानन्द है; क्योंकि इच्छा तभी होती है जब वस्तु आनन्दरूप हो। आत्मा और ब्रह्म दोनों परमानन्द-स्वरूप हैं। दूसरेका होना और सम्बन्ध होना दुःख है। दूसरेका होना शत्रु-मित्र होना है और दूसरेसे सम्बन्ध होना पराधीन होना है और दूसरेके लिए इच्छा होना कंगाल होना है। अतः यह ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका अर्थ है आत्मरूप परमानन्दकी इच्छा।

जब ज्ञानमात्रसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है तो इसका अर्थ है कि परमानन्द अज्ञानसे प्रतिबद्ध है। इसलिए यदि अज्ञान मिट जाय तो तुम परमानन्दस्वरूप हो हो। अज्ञानसे अप्राप्त होना और ज्ञानसे प्राप्त होना नित्य-प्राप्तका लक्षण है।

आत्मा कैसा है? तो कहा ब्रह्म है। यह शरीरमें रहता है परन्तु शरीरसे खण्डित नहीं होता, घटाकाशवत्। वह प्रकृति-पर्यन्त समस्त कार्य-कारणमें रहता है, परन्तु कहीं किसीसे खण्डित नहीं होता। देहमें जीव और प्रकृतिमें ईश्वर यही आत्मा है। जहाँ माया नहीं, प्रकृति नहीं वहाँ भी और उससे परे भी यह रहता है, पिण्डमें भी और ब्रह्माण्डमें भी; भावमें भी और अभावमें भी और है-नहीं दोनोंमें भी। उसे घेरेमें मत लो। जहाँतक माया है वहाँतक ईश्वरत्व है और जहाँतक देह है वहाँतक जीव है। इसके आगे कुछ नहीं है, वही वही है—

न कश्चित् जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचित् न जायते॥
(गौड़पादीय कारिका)

'जीव उत्पन्न नहीं हुआ है; ब्रह्ममें जीवत्व सम्भव ही नहीं है। जहाँ कुछ भी उत्पन्न नहीं होता वही उत्तम सत्य है।'

ज्ञान अपना आपा है, ब्रह्म है। वह अज्ञानसे अप्राप्त है और ज्ञानसे प्राप्त है। केवल ज्ञानसे ही प्राप्त है, बिना कुछ किये, बिना हाथ-पांव पटके, बिना ध्यानके, बिना बुद्धिका विषय बनाये, बिना समाधिके, बिना बैकुण्ठ गये। वह ज्यों-का-त्यों ब्रह्म है और इसका साक्षात्कार होनेपर (?) स्वयं साक्षात्-स्वरूप है। यह जन्मने-मरनेका डर, आने-जानेका डर, पराधीनताका डर, बन्धनका डर, ज्ञान होनेपर नहीं रहेगा। काल बाधित हो जायेगा, देश बाधित हो जायेगा, देह बाधित हो जायेगा और समस्त कार्य कारण भाव बाधित हो जायेंगे।

इस आत्माके सिवाय कोई दूसरी चीज ही नहीं है। कैसे? तो सूत्रकारने कहा—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १.१.२) ब्रह्म सर्व-कारण कारण है। उसे उपादान बता दिया। परन्तु जैसे घड़ामें मिट्टी उपादान है वैसे ब्रह्म सृष्टिका उपादान नहीं है। अपितु जैसे 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' वैसे।

जड़में कार्य-कारणभाव होता है, चेतनमें नहीं। अल्पकालिक कार्य और बहुकालिक कारण ऐसा भेद चेतनको स्पर्श नहीं करता; क्योंकि चेतन कालका साक्षी है। आकृतिभेद भी चेतनको स्पर्श नहीं करता क्योंकि वह आकृति सामान्यके अत्यन्ताभावका साक्षी है। इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः'से यह बताया गया कि जिज्ञास्य ब्रह्म अद्वितीय है।

तीसरा सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्मसूत्र १.१.३) बताता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है क्योंकि सारे शास्त्र उसीमें-से निकलते हैं। इस प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'से ब्रह्मको परमानन्दरूपता, 'जन्माद्यस्य यतः'से ब्रह्मकी सन्मात्रता और 'शास्त्रयोनित्वात्'से ब्रह्मकी ज्ञान-

स्वरूपता सिद्ध होती है। चौथा सूत्र 'तत्तु समन्वयात्' (ब्रह्म-सूत्र १.१.४) ब्रह्मके सत्, चित् और आनन्दस्वरूपकी एकता बताता है कि ब्रह्ममें अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, परम आनन्द अद्वयरूपसे प्रतिष्ठित हैं।

ऐसा ब्रह्म जिन वेदवाक्यों द्वारा बोधित होता है वे केवल बोध ही कराते हैं 'पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्'। वे पुरुषको ज्ञानमें नियोजित नहीं करते—'न पुरुषोवबोधे नियुज्यते।' क्यों ? क्योंकि बोध प्रमाणजन्य है—'अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात्'।

केवल ज्ञानसे ब्रह्मसाक्षात्कारमें कोई दृष्टान्त भी है या केवल प्रतिज्ञामात्र ही है ? इसपर कहते हैं कि दृष्टान्त है—

यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे तद्वत्।

शंकर भगवान्‌की यह पंक्ति अजर-अमर है। जैसे यदि आँख ठीक है और यदि आँख और उसके विषय माला-आदिका संनिकर्ष (मेल) ठीक-ठीक हो जाय तो माला-आदिका रूप बिना कुछ अन्य प्रयत्न किये प्रकाशित होगा ही। वैसे ही यदि तुम्हारी वृत्ति अन्य विषयसे हटकर तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे ब्रह्मको देखने लग गयी तो तुमको ब्रह्म वैसा ही दीखने लग जायेगा जैसे खुली आँखसे संसार दीख रहा है। उसमें अन्य प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं है।

अपना ब्रह्मपना प्रत्यक्षकी वस्तु है। यह मरने पर मुक्ति नहीं है। अपने आपको जानो। तुम मुक्त ही हो।

ब्रह्मज्ञान कोई विधि नहीं है, नियोग नहीं है। हम केवल उस दृष्टिकोणका संकेत करते हैं जिससे आप अपनेको अनन्त ब्रह्मके रूपमें देख सकें। परन्तु देखनेका विचार होनेसे पहले क्या ? अर्थात् किसके होनेके बाद ब्रह्मका विचार होगा ? 'अथ' शब्दसे यही आनन्तर्य सूचित किया गया है।

(६.४.)

'अथ' पद विचार-३.

(साधन-चतुष्टयके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा)

तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यम् उपदिश्यते।

(भाष्य)

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'अथ' शब्दका अर्थ केवल मङ्गल नहीं आनन्तर्य है यह निश्चय हुआ। अब किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा? तो 'स्वाध्यायाध्ययनान्तर्य' तो है ही; परन्तु धर्मजिज्ञासा आनन्तर्य अपेक्षित नहीं है, क्योंकि धर्मजिज्ञासासे पूर्व भी वैराग्यवान अधिकारीको ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। फिर ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासाके फलोंमें भेद है। ब्रह्मजिज्ञासाका फल मोक्ष है और धर्मजिज्ञासाका फल है अभ्युदय। धर्ममें अनुष्ठानकी अपेक्षा है, ब्रह्मज्ञानमें यह अपेक्षा नहीं है। धर्म पुरुषव्यापार-तन्त्र है ज्ञान पुरुषव्यापार-तन्त्र नहीं है। दोनोंके बोधक प्रमाणोंमें और विधिमें भेद है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व धर्मजिज्ञासा अनिवार्य नहीं है और धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होनी अनिवार्य नहीं है।

इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है, उसे कहना चाहिए—

तस्मात् किमपि वक्तव्यम् यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति।

जिज्ञासापदसे ब्रह्मकी परमानन्दस्वरूपताका संकेत है अन्यथा तो प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जिज्ञासा अर्थात् विचार, विचार-मात्र। इससे संकेत किया कि—उस परमानन्दस्वरूपतापर अज्ञान ही आवरण है और वह विचारसे निवृत्त हो जायेगा। विचारका प्रतिभट अविचार विचारसे निवृत्त हो जायेगा। सृष्टिमें जितना अनर्थ है वह सब अविचारमूलक है, मूर्खतामूलक है, मोहमूलक है, अज्ञानमूलक है। इसलिए ये सब एक साथ ब्रह्मविचारसे निवृत्त हो जायेंगे। ब्रह्म अर्थात् परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षित तत्त्व अर्थात् जितने प्रकारकी परिच्छिन्नताएँ हैं उनके अभावसे उपलक्षित तत्त्व जिसमें वे सब परिच्छिन्नताएँ बाधित हैं।

लोग साधारणतया कहते हैं कि सबको ब्रह्मजिज्ञासा क्यों नहीं होती? एक लड़का किसी लड़कीसे ब्याह करना चाहता है, तो वह लड़कीका विचार करेगा या ब्रह्मका? माने जो लक्ष्य होगा उसीका विचार होगा न! लक्ष्यके प्रतिबन्ध निवृत्त होनेपर ही ब्रह्मका विचार सम्भव है अन्यथा नहीं। यह प्रतिबन्धकी निवृत्ति ही आनन्तर्य है।

यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत न तु ब्रह्मजिज्ञासा भवति।

यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि 'जिसके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा होती है' बल्कि यह कहा जा रहा है कि 'जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है।' ऐसा क्यों?

गुरु जांच-पड़ताल करके उपदेश करता है, चेला बनानेके लिए उपदेश नहीं करता। ब्रह्मज्ञानका उपदेश पर्चा बाँटकर, लाउड-स्पीकरसे प्रचार करके नहीं किया जाता। जिसको हजारबार गरज हो कि हमको ब्रह्मज्ञान चाहिए, वह गुरुके पास जाये और ब्रह्मज्ञानके विषयमें गुरुसे बोध प्राप्त करे। गुरु कहेगा—तू तो स्वयं

ब्रह्म है, तू ब्रह्मज्ञान क्यों चाहता है ? इसपर शिष्य कहेगा—'आपका कहना ठीक है, लेकिन यह बात अनुभवमें नहीं आती, इसलिए मैं ब्रह्मज्ञान चाहता हूँ।'

गरज चेलेकी है गुरुकी नहीं। अतः चेला ही गुरुके पास आता है चाहे गुरु गंगा-किनारे हो या छप्परमें हों।

इसके विपरीत गरजी गुरु चेलाजीके पास जाते हैं। टेलीफोन-पर गुरुजी कहते हैं—सेठजी, हम उपदेश करने आगये हैं, आ जाइये। दूसरी ओर सेठजी उत्तर देते हैं—'अच्छा महाराज, परन्तु अभी तो फुर्सत नहीं है ! थोड़ी देरमें सुनेंगे !'

लोग मन्त्र लेने आते हैं। कहते हैं—'महाराज, हमारे लिए तो सगुण-निर्गुण सब एक हैं। अब आप जो ठीक समझें सो मन्त्र दे दें।' इसका अर्थ है कि शिष्य तो अभेदज्ञानी और गुरुजी भेद-ज्ञानी हैं !

ब्रह्मजिज्ञासासे जिज्ञासुकी इच्छा होनी चाहिए। गुरुकी दृष्टिमें तो सब मुक्त हैं। गुरु अकेले मुक्त नहीं हो सकते। वस्तुतत्त्व यदि मुक्त है तो सब मुक्त ही हैं !

ब्रह्मजिज्ञासामें पहले क्या ? तो शंकर भगवान् बतानेवाले हैं कि साधन-चतुष्टय चाहिए ! परन्तु साधन-चतुष्टयके पश्चात् ही ब्रह्मज्ञान क्यों ? वह इसलिए कि ब्रह्मज्ञानके पश्चात् अखण्ड स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए गुरुजीकी यह जिम्मेदारी है कि वे शिष्यको ऐसी अवस्थामें पहुँचकर ब्रह्मज्ञानका उपदेश करें कि ब्रह्मज्ञानके अनन्तर भी वह भारतका नागरिक, वैदिक, सदाचारी एवं सद्भाववान् बना रहे अर्थात् वह ब्रह्मज्ञानका उपयोग अपनी उच्छृङ्खलताके लिए न करे। यदि यह बात गुरुजी नहीं देख लेंगे तो आसुर ज्ञान हो जायेगा, वह राक्षस-भूमिका नागरिक हो जायेगा। इसलिए गुरुको पक्का करा लेना चाहिए। यह

वायदा करनेसे नहीं होगा; नहीं होता। गुरु पहले जिज्ञासुको बनाते हैं निष्ठावान् और तब आत्माको बताते हैं ब्रह्म—यही प्रणाली है ब्रह्मके उपदेशकी।

साधन-चतुष्टयकी बात उपनिषद्में ऐसे ही कही है जैसे शंकराचार्य भगवान् यहाँ कह रहे हैं—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन। (मुण्डक० १.२.१२)

परीक्षा करना कि कर्मसे क्या मिलता है और ज्ञानसे क्या मिलता है; यह नित्यानित्यवस्तु-विवेक हुआ। और परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो जाय—यह वैराग्य हुआ।

शान्तोदान्त उपरतस्तितुक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो
(समाहितो) भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत् (पश्यति)॥
(बृहदा० ४.४.२३)

'शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—इन छः धन-सम्पत्तिसे भरपूर होकर जिज्ञासु अपनी आत्मामें आत्माको देखे।' यही षट्सम्पत्ति है। यहाँ श्रद्धाका अर्थ आस्था है—आस्था लक्ष्यके प्रति, मोक्षके प्रति, ब्रह्मके प्रति, ब्रह्मज्ञानके प्रति। यह आस्था ही मुमुक्षु बन जाती है।

कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।

या तो मेरा यह शरीर गिर जायेगा या मेरा यह कार्य सिद्ध हो जाय! ऐसी आस्था होनी चाहिए। कौतूहलवश जो ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिमें आता है वह तो अन्ततः डर जायेगा—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥
(गौड़पादीयकारिका ३.३९)

'यह अस्पर्शयोग निश्चय ही योगियोंके लिए कठिनाईसे दिखायी देनेवाला है। इस अभयपदमें भय देखनेवाले योगीलोग इसमें भय मानते हैं।'

इस अस्पर्शयोगरूप ब्रह्मज्ञानमें भोगनेको कुछ नहीं मिलेगा; इसमें दूसरेको छूना नहीं है, आनन्दका भोग भी नहीं है क्योंकि आनन्दस्वरूप तुम हो! इसीसे लोग डर जाते हैं, रास्तेमें-से लौट आते हैं।

तो साधन-चतुष्टय हुआ—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थ भोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च।

नित्यानित्यवस्तुविवेकः। अर्थात् सुखदुःखका विवेक।

नित्ये वसति इति नित्यं सुखम्। अनित्ये वसति इति अनित्यं दुःखम्। नित्यः प्रत्यगात्मा, अनित्याः = देहेन्द्रियविषयादयः नित्यानित्ययोर्वसतीति नित्यानित्यवस्तु तद्धर्मः नित्यानित्ययोर्धर्मिणोस्तद्धर्माणां च विवेको नित्यानित्यवस्तुविवेकः। (भामती)

जो नित्यमें रहता है सो सुख, जो अनित्यमें रहता है सो दुःख। (आत्मा नित्य है और देहेन्द्रिय-विषय आदि अनित्य हैं) जो नित्यानित्यमें रहता है वह नित्यानित्यवस्तु है। उसका धर्म नित्यानित्यवस्तु धर्म है। उस धर्मका नित्य और अनित्यके धर्मोंसे विवेक नित्यानित्यवस्तुविवेक है।

संसारकी प्रत्येक वस्तुमें दुःख है इसलिए उसे छोड़ दो। परन्तु तर्क तो इसके विपरीत भी हो सकता है। क्या? संसारकी प्रत्येक वस्तुमें सुख भी है और दुःख भी है—इसलिए सुख होनेसे उसका ग्रहण करो! कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसमें सुख-दुःख दोनों न हों; किसीको उसी वस्तुमें सुख अनुभव होता है किसीको दुःख।

एकपक्ष है कि—घरमें रोटी बनती है तो भिखारी आते हैं; इस लिए भिखारीके डरसे घरमें रोटी ही मत बनाओ। अथवा पति-

पत्नीमें लड़ाईका डर रहता है इसलिए ब्याह ही मत करो। अथवा कपड़ोंमें जुँएँ पड़ जाती हैं, इसलिए जूँके डरसे कपड़ा मत पहनो। माने दुःखके डरसे सुखको भी छोड़ दो।

दूसरा पक्ष है कि—भिखारी आवें तो क्या घरमें सुस्वादु भोजनका सुख तो होगा। पति-पत्नीमें लड़ाई भी हो तो क्या, बच्चोंकी तोतली बोलीमें बोले गये 'डैडी, मम्मी' शब्दोंका सुख तो होगा। इत्यादि। माने दुःख है, ठीक है, परन्तु सुख भी तो है। दुःखके डरसे सुख क्यों छोड़ा जाय ?

इसलिए वस्तुमें सुख-दुःखके विवेकसे त्याग उत्पन्न होना, वैराग्य उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं है। फिर वह कौन-सा नित्यानित्य-वस्तुविवेक है जिससे वैराग्य उत्पन्न होता है ? बोले—यह विवेक करो कि नित्यमें क्या सुख है और अनित्यमें क्या दुःख है ! तो कहा कि नहीं, बादमें यह भी कट जायेगा। यह विवेक सत्यमूलक नहीं है भावमूलक है। फिर वैराग्यमें हेतु कौन-सा विवेक है ? इसपर सन्तोंने बताया कि सुखके झरनेको पकड़ो, सुखका मूल स्रोत क्या है ? दुनियामें जो कुछ भी सुख या दुःख अनुभवमें आता है वस्तुओं आदिके तारतम्यसे, वह मूलमें सुख ही होता है। वह सुखका मूल कहाँ है, क्या है, कौन है ?—यह विवेक करो।

बाँकुड़ामें एक सन्त आये। श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने श्रीहरिकिशनदास (उनके भाई) को महात्माके पास भेज दिया कि भोजनके लिए लिवा लाओ। महात्माजीसे उन्होंने कहा—महाराज चलो ! श्रीजयदयालजीने भोजनके लिए बुलाया है। महात्मा बोले—आज तो तुम खिलाओगे, कल कौन खिलायेगा ? वे नहीं गये। श्रीहरिकिशनदासजीने जयदयालजीसे आकर बता दिया। जयदयालजीने फिर उनको भेजा और बताया कि महात्माजीसे कहना कि जिसने कल खिलाया था, वही आज

खिलानेवाला है और कल भी खिलायेगा। महात्माजी प्रसन्न होकर भोजनार्थ आगये। सारांश, देनेवाला नित्य है और खाने-खिलानेवाले नैमित्तिक हैं।

दृष्टि सुखपर नहीं कि सुख नित्य है या अनित्य। जहांसे सुख-का झरना बहता है उस उद्गमपर दृष्टि रखो। जहाँसे सुषुप्तिमें सुख आता है, वहींसे जाग्रत और स्वप्नमें भी सुख आता है। वह सुख जाग्रतके पैसेमें-से नहीं; सपनेके दोस्तमें-से नहीं और सुषुप्तिके विश्राममें-से नहीं आता। वह आत्मसुख है। वही नित्य है।

मनमें रसगुल्ला खानेकी इच्छा हुई, इससे अशान्ति हुई, प्रयत्न हुआ। रसगुल्ला मिला, शान्ति हुई। रसगुल्लकी इच्छा मिट गयी। शान्ति तो हुई इच्छा मिटनेसे परन्तु नाम रस-गुल्लेका हुआ।

कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है। रक्त अपने मसूड़ोंमें-से निकलता है और मानता है कि रक्तका सुख हड्डीसे निकल रहा है।

जो सुख दूसरेसे प्राप्त होता है वह अनित्य है, जो अपना है, आत्मसुख है, वह नित्य है। इसलिए नित्यानित्य-वस्तु-विवेकका अर्थ है उस सुखके झरनेका अनुसन्धान जिसमें-से सुखकी अजस्र धारा बहती रहती है। वही विवेक-वैराग्यमें हेतु है।

भामतीमें नित्यानित्य-वस्तु-विवेकका कठोर ढंगसे विचार किया है। एक सुगम विचार यहां प्रस्तुत करते हैं।

(१) नित्य और अनित्यमें विशेषता क्या है? अपनी आस्था बनाओ— हमें नित्य चाहिए, अनित्य नहीं चाहिए। नित्यमें सुखका निवास है और अनित्यमें दुःखका निवास है।

(२) वस्तु नित्य होनी चाहिए जिससे नित्य-सुख हमें अपेक्षित है। नित्यता भी दो प्रकारकी होती है—एक परिणामी-नित्य, दूसरा कूटस्थ-नित्य। दूसरे शब्दोंमें एक समुद्रमें ज्वार-भाटे-

वाली जैसी नित्यता और दूसरी आकाशके एकरस रहनेवाली जैसी नित्यता ।

घट अनित्य है; नाश हो जाता है यह प्रत्यक्ष है। पृथिवी अनित्य कणोंसे बनी है, अतः घटके समान उसके नाशका अनुमान होता है। ऐसे ही जल, तेज, वायुके नाशका अनुमान होता है। पृथिवीके उपमानसे। आकाशका नाशवान होना शास्त्रसे सिद्ध है। क्योंकि मनसे आकाशकी सिद्धि होती है; मनमें आकाशकी वासना है; स्वप्नमें हम उसे बना लेते हैं, जाग्रतमें वह मिट जाता है। तो मनसे आकाशका पता चलता है; आकाश मन-सापेक्ष है।

प्रकृतिकी अनित्यता स्वसंवेद्य है। द्रष्टा प्रकृतिको लीन होते और प्रकट होता देखता है। परन्तु 'स्व' को नित्यता स्वसंवेद्य नहीं है, वह अनुभव-स्वरूप है।

प्रकृति परिणामी नित्य है और आत्मा कूटस्थ नित्य है।

इसलिए हमारी आस्थाका स्वरूप हुआ—हमें अनित्य नहीं चाहिए, नित्य चाहिए। और नित्यमें भी परिणामी नित्य नहीं चाहिए, कूटस्थ नित्य चाहिए।

(३) अच्छा, वस्तु भी नित्य हो, परन्तु यदि उसके साथ सम्बन्ध अनित्य हो तो ? पृथिवी तो हमेशा रहती है, परन्तु उसमें जो खेत लिया उसके साथ सम्बन्ध तो हमेशा नहीं रहेगा। इसलिए पहले अपनी नित्यता (कूटस्थ नित्यता) को जानो, फिर पृथिवीकी नित्यता (परिणामी नित्यता) को जानो, तदुपरान्त सम्बन्धको जानो तब सम्बन्धकी नित्यताकी पोल-पट्टी मालूम पड़ जायेगी। सम्बन्ध मानसिक होता है, इसलिए उसमें नित्यता कभी हो ही नहीं सकती। अतः दूसरेके सम्बन्धसे जितना सुख होता है वह अनित्य है।

(४) अब मान लो वस्तु भी नित्य हो, तुम भी नित्य हो,

सम्बन्ध भी नित्य हो परन्तु भोगकी शक्ति नित्य न हो तो? तो सुख नित्य नहीं रहेगा। और मान लो कि शक्ति भी नित्य रहे परन्तु मनमें वस्तुके प्रति प्रियता न रहे तो? तब भी सुख नहीं रहेगा। फिर यदि रुचि भी नित्य रहे और भोक्ता भी नित्य रह सके तब तो सुख नित्य रह सकेगा? नहीं सुषुप्ति, मूर्च्छा आदिमें भोक्ता ही स्तम्भित हो जाता है।

जो लोग समझते हैं कि सब नित्य है तो वे कभी अपने बारेमें अपनी नित्यताके बारेमें विचार ही नहीं करते। महाकालकी गोदमें यह सारा संसार भगा चला जा रहा है! भामतीकारने क्या बढ़िया बात कही है—

आ च सत्यलोकाद् आ चावीचे 'जायस्व म्रियस्वे'ति विपरिवर्तमानं क्षणमुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्वयनवत्सरयुगचतुर्युगमन्वन्तरप्रलयमहाप्रलयमहासर्गावान्तरसर्गसंसारसागरोर्मिभिरनिशमुह्यमानं तापत्रयपरीतमात्मानं च जीवलोकं चावलोक्यास्मिन् संसारमण्डलेऽनित्याशुचिदुःखात्मकं प्रसंख्यानमुपावर्तते। ततोस्यैता दृशान्नित्यानित्यवस्तुविवेकलक्षणात् प्रसंख्यानाद् 'इहामुत्रार्थभोगविरागो' भवति। (भामती)

सत्यलोकसे लेकर नरक तक 'पैदा हो और मरा' इस तरह बदल रहा है। क्षण, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय, महासर्ग, अवान्तरसर्ग— ये संसार-सागरकी तरंगें दिनरात थपेड़े मार रही हैं। कभी बाहरसे दुःख आता है, कभी भीतरसे। कभी अपना मन ही गड़बड़ाकर दुःख बना लेता है। पर यह सब होनेपर भी दुःख तो मनमें ही होता है। यह संसारमण्डलकी गन्दगी सब शरीरमें ही है। गन्दगी केवल शरीरमें-से निकलती है और कहींसे नहीं। बाहर कोई चीज गन्दगी नहीं होती। विष्ठा, मूत्र, हड्डी सब शरीरसे ही

निकलते हैं। इसीसे योगी लोग कहते हैं कि तुम किसको पवित्र करने चले हो? सारे दुख कहाँसे निकलते हैं? हेतु कोई भी हो पर दुःख होगा तो मनमें हो। मन ही दुःखाकार बन रहा है। यह शरीर ही सब गन्दगी और दुःखोंका घर है। शरीर सम्बन्धी सुख अनित्य है। इसलिए प्रसंख्यानकी आवश्यकता है। दोष, दुःख, गन्दगी, अनित्यता, अपवित्रतापर विचार करनेकी आवश्यकता है। यही नित्यानित्यवस्तुविवेक लक्षणवाला प्रसंख्यान है जिससे इहलोक और परलोकके विषयोंके प्रति वैराग्य हो जाता है। 'इहामुत्रार्थभोगविरागः।'

एक सेठके घर एकबार मैं ठहरा था। प्रातःकाल भागवतकी कथा करता था। उन्होंने (सेठने) कहा—'स्वामीजी! वैराग्यकी बात ज्यादा न किया करो। हमारे छोटे-छोटे बच्चे हैं। वैराग्यकी बातें सुनकर उनकी काम-धन्धेमें अरुचि हो जायेगी।' उसके बाद फिर हम बम्बई आये तो वैराग्यकी बात करना ही छोड़ दिया। बम्बई माने सेठका घर। परन्तु प्रसंगमें तो बात कही ही जाती है।

तो 'इहामुत्रार्थभोगविरागः' विवेकका परिणाम है। जब विवेक मनमें आता है तो अनाभोगात्मिका उपेक्षा-बुद्धि होती है; यानी विषयभोगमें आदर-बुद्धि नहीं रहती, उपेक्षा-बुद्धि हो जाती है।

अनाभोगात्मिकोपेक्षा बुद्धिः वैराग्यम्। (भामती)

वैराग्य माने द्वेष नहीं होता। अन्यथा तो पहिले रागसे संसारको दिलमें ही बसाया था, अब द्वेषसे संसार ही दिलमें बसेगा। द्वेष तो दिलमें ही बसेगा। अतः वैराग्य माने घृणा नहीं वैराग्य माने त्याग नहीं, वैराग्य माने विस्मरण नहीं और वैराग्य माने संहार नहीं। तब क्या?

आप दुकानमें बैठे हैं, हजारों आदमी आते-जाते हैं। आप उनसे न राग करते हैं न वैराग। आप तो अपने काममें लगे हैं, वे आते हैं चले जाते हैं।

तेरे भावे जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार॥

उनका आदर ही न करना, उनको महत्त्व ही न देना कि क्या आया और क्या गया। यही वैराग्य है।

वैराग्यका फल है 'शमदमादिसाधनसम्पत्।'

विवेक अर्थात् भले-बुरेकी पहिचान। इसका फल वैराग्य अर्थात् बुरेकी उपेक्षा। इसका फल है दिलमें शान्ति।

'षट्सम्पत्ति' अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी कमाई करनेके लिए पूंजी। गुरुजीको दक्षिणा दे देंगे और ब्रह्मज्ञान मिल जायेगा, सो नहीं। यदि ज्ञानके पट्टेसे नौकरी आदि मिलती होती तो गुरुजी प्रमाण-पत्र भी दे देते। पैसेसे ज्ञान नहीं खरीदा जा सकता। यहाँ तक कि 'तद्विद्धि प्रणिपातेन'से भी नहीं। क्योंकि वहाँ कहा कि 'उप-देक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्'—गुरुलोग ज्ञानका उपदेश करेंगे। परन्तु परि-प्रश्नेन सेवया' गुरुलोग ज्ञानका उपदेश तो कर देंगे लेकिन शिष्य द्वारा वह ग्रहण तभी होगा जब वह श्रद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय हो। जिस अन्तःकरणमें तत्त्वमसि आदि महावाक्य-जन्य प्रमाका उदय होना है वह स्वच्छ होगा तब उसमें ज्ञान उदय होगा। उस स्वच्छताके लिए ही शमदमादि साधनसम्पत्ति चाहिए।

१. **शम**—अर्थात् शान्ति, वासनाकी शान्ति। दूसरोंसे अच्छा काम कराके शान्ति नहीं होती। अशान्ति ही यही है कि सबलोग हमारे मनके अनुसार चलें। फिर भगवान् सिर्फ आपका ही मन बना देते, दूसरोंके मन बनाये ही क्यों? अशुभ संकल्प करनेकी इच्छा न हो, केवल इसीका नाम शान्ति नहीं है। अशुभ

संकल्पकी इच्छा न हो और शुभमें विशेष प्रवृत्ति न हो, तब शान्ति होगी। यह सत्याग्रह या आन्दोलनका मार्ग नहीं है। अच्छे बुरे सब कर्मोंकी वासनाकी शान्ति है शममें।

२. **दम**—निषिद्ध और विहित दोनों प्रकारके कर्मोंसे इन्द्रियों-को रोकनेका नाम दम है। दम करो, नहीं तो अग्नि-होम करते हो जिन्दगी बीत जायेगी। दम = इन्द्रियोंके विक्षेपकी शान्ति।

३. **उपरति**—बाह्य कर्मोंमें साधन-भावका परित्याग। सन्ध्या-वन्दन श्रेष्ठ है या ब्रह्मविचार ? संन्यासका यही अर्थ है। उपरति अर्थात् कर्म-विक्षेपकी शान्ति।

४. **तितिक्षा**—तितिक्षा माने तपस्या नहीं; पंचाग्नि तापना नहीं, भूखा रहना नहीं। इसका अर्थ है शान्त होकर ब्रह्मविचारमें बैठो और कोई भी द्वन्द्वात्मक स्थिति उपस्थित होनेपर उसको सहन करके ब्रह्मविचारमें लगे रहो। तितिक्षा = दुःखविक्षेपकी शान्ति।

५. **श्रद्धा**-अर्थात् अभिमान मत करो। यह ब्रह्मज्ञानका मार्ग परिच्छिन्न अहंको सजानेके लिए नहीं है। वेदान्तकी डिग्रीके लिए ब्रह्मविचार नहीं किया जाता। लोग हमसे पूछ-पूछकर वेदान्तपर थीसिस लिखते हैं, परन्तु वेदान्त अभिमानका भूषण बननेके लिए नहीं है। वेदान्त-ज्ञान अभिमानका उच्छेदक है, उसका आश्रित नहीं है। श्रद्धा = अभिमान-विक्षेपकी शान्ति।

ओषधि दोषान् घत्ते गुणान् इति।

जैसा रोग वैसी ओषधि।

६. **समाधान**—संशयकी दशामें बिल्कुल मत बढ़ो। संशयकी शान्ति है यह।

वेदान्त ब्रह्मविद्या है, साधना नहीं है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए धर्मके अनुसार कर्म है। तत्पदार्थके चिन्तनके लिए उपासना

है। त्वं-पदार्थका चिन्तन योग है। तत्, त्वं और अन्तःकरणमें सार-वस्तुका बोध वेदान्त है। वेदान्त विद्या है। विद्या माने वस्तुका बोध। और बोधमें ही कृतार्थता है। यह कर्त्तव्यका बोध नहीं है, तत्त्वबोध है। कर्त्तव्यबोधके अनन्तर कर्म होता है जबकि तत्त्व-बोधके अनन्तर कर्म नहीं होता। रोग केवल अज्ञान है और वह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो जाता है। इस समाधानको लेकर अब आगे बढ़ो—

मुमुक्षुत्वं च।

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा (मोक्षकी इच्छा), इनके अनन्तर हो ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश दिया जाना चाहिए।

पूर्वपक्ष—यह जो साधन सम्पत्ति है वह अनुपपन्न है। क्योंकि 'इहामुत्रार्थभोगविरागः' (लोक और परलोकके भोगोंसे वैराग्य) युक्तिसे असिद्ध है। संसारमें जो कुछ भी अनुकूल मालूम होता है वह सुख है, वह फल है—

अनुकूलवेदनीयं हि फलम् इष्टलक्षणत्वात् फलस्य। (भामती)
जिसके मिलनेपर वेदना अनुकूल हो वह फल है क्योंकि फल इष्ट है फलको तो हम चाहते ही हैं। जब तक दुनियामें अनुराग बना है तब तक वैराग्य नहीं होगा। इसलिए अनुपपत्ति है।

उत्तरपक्ष—ठीक है। देखो भाई, दुनियामें जितने सुख हैं उनमें दुःख लगा हुआ है। उस सुखमें दुःखका मिश्रण है इसलिए वैराग्य हो सकता है।

लोग चन्दन लगाके अच्छे लगते हैं परन्तु उसको घिसनेमें कष्ट भी होता है। तपस्वी लोग भस्म लगाते हैं परन्तु उसके बनानेमें कितनी तकलीफ होती है। भस्मको बेलपत्र, दूध मिलाकर पकाना पड़ता है। स्त्री-पुरुषका सुख एक घण्टा होता है परन्तु तेईस घण्टे गुलामी करनी पड़ती है।

पूर्वपक्षः दुःखानुषङ्गदर्शनात् सुखेऽपि वैराग्यमिति चेत्, हन्त भोः सुखानुषङ्गाद्दुःखेप्यनुरागो न कस्माद् भवति। तस्मात् सुख उपादीयमाने दुःखपरिहारे प्रयतितव्यम्। (भामती)

सुखके साथ दुःख लगा हुआ है, इसलिए सुखको छोड़ते हैं। ठीक है, परन्तु दुःखमें भी तो सुख मिला हुआ है। फिर दुःखसे भी अनुराग करो। जो अयुक्त एवं अप्रसिद्ध है। इसलिए मनुष्यको दुःख देखकर सुखसे भागना नहीं चाहिए। उसमें-से सुख-सुख निकाल लें और दुःख-दुःख छोड़ दें, यह चाहिए। कैसे? तो कहते हैं—

अवर्जनीयतया दुःखमागतमपि परिहृत्य सुखमात्रं भोक्ष्यते। (भामती)

यदि सुखके साथ दुःख आता है तो आने दो हम दुःखको बचा लेंगे और सुखको भोग लेंगे। सो कैसे? तो दृष्टान्त देते हैं।

तद्यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय विनिवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति, स यावदादेयं तावदुपादाय निवर्तते। (भामती)

जैसे कोई मछलीमार तालाबसे मछली मारकर काँटे छिलके-सहित ले आता है परन्तु बादमें काँटा-छिलका निकालकर अलग फेंक देता है, जितना लेना होता है उतना ले लेता है। अथवा जैसे कोई धानमें-से चावल निकाल लेता है और भूसी छोड़ देता है। ऐसे ही दुःखके सहित सुख आने दो। दुःखको फेंक देना और सुखको रख लेना। बड़े मजेमें रहोगे। दुःखके भयसे सुखको भी छोड़ देना उचित नहीं है—

तस्माद्दुःखभयात् न····सुखं परित्यक्तुमुचितम्। (भामती)

पशु आयेंगे तो उसके डरसे क्या खेतो करना बन्द कर दें?

भिखारीके डरसे क्या रोटी बनाना बन्द कर दें? यह तो पलायनवाद है।

नहि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते, भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। (भामती)

यदि हम भी मान लें कि चन्दनवनितादिके दृष्ट सुखमें दुःख है, विनाश है इसलिए वे त्याज्य हैं परन्तु परलोकके सुख, स्वर्गादिके सुख तो त्याज्य नहीं हैं क्योंकि शास्त्रके अनुसार वे सुख अविनाशी हैं। उनमें कृतकत्व हेतु नहीं होनेसे उनके विनाशका अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि जो कृतक है वह अनित्य है और जो दृष्ट है वह विनाशी है ('यत्कृतकं तदनित्यम्। यद् दृष्टं तद् नष्टम्।')—

अपि च दृष्टं सुखं चन्दनवनितादिसङ्गजन्मक्षयितालक्षणेन दुःखेनाघ्रातत्वादतिभीरुणा त्यज्येतापि, न त्वामुष्मिकम् स्वर्गादि, तस्याविनाशित्वात्। श्रूयते हि 'अपाम सोममृता अभूम' इति। तथा च 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति'। न च कृतकत्वहेतुकम् विनाशित्वानुमानमत्र संभवति। (भामती)

इसलिए ऊपर वर्णित साधनसम्पत्तिका अभाव है। फिर उसके बाद ब्रह्मजिज्ञासा तो होगी ही कैसे?

तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यभावान्न ब्रह्मजिज्ञासेति प्राप्तम्। (भामती)

उत्तरपक्ष—संसारमें राग करके कोई सुखी नहीं हो सकता। अरे! अपने देहके बचपन, जवानीका राग ही जब नहीं रह पाता तब दूसरेसे राग कबतक टिकेगा? 'प्रियं त्वां रोत्स्यसि। जिससे प्रीति करोगे वह तुम्हें रुलायेगा।

हमारे बाबा सुबह चार बजे उठकर भजनसे पहले ये प्रसिद्ध गीत गाया करते थे—

प्रीति कर काहूसुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों पावक माँहि दह्यो॥

(सूरदास)

× × ×

कुसमय मीत काको कौन ?

× × ×

ऐसेहि जन्म समूह सिराने।
प्राणनाथ रघुनाथ सों पति तजि सेवक पुरुष विराने॥

(तुलसीदास)

बाहरका विषय बिछुड़ जायेगा। इन्द्रियाँ असमर्थ हो जायेंगी। मन विमुख हो जायेगा। आत्माका भोक्तृत्व निरन्तर जाग्रत नहीं रहेगा। परलोक भी कर्मसे बना है इसलिए वह भी नाशवान् है।

पूर्वपक्ष—वेदकी बातमें अनुमान नहीं चलता; जैसे शंखके भीतरका जल कल्याणकारी होता है—'शं शंकरं खं छिद्रं कल्याणकारि, करोतीति शंखम्'—इसके आधारपर अनुमान करो कि मनुष्यकी खोपड़ी शंखकी तरह होती है इसलिए पवित्र है, तो ऐसा अनुमान नहीं चलेगा। शंख वेदोक्त पवित्र है, खोपड़ी वेदोक्त पवित्र नहीं है। वेदके विरुद्ध अनुमान गलत होता है। इसी प्रकार परलोक अविनाशी है यह वेदोक्त बात गलत नहीं हो सकती।

उत्तरपक्ष—ऐसा नहीं है। वेद जो है वह अनुमान सहित श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित करता है कि स्वर्ग भी चाहने योग्य नहीं है। स्वर्ग चाहे झूठा हो या सच्चा, स्वर्गकी वासना तो वासनावान्के हृदयमें ही रहेगी। जो स्वर्ग-नरक नहीं मानते और स्वर्गकी वासना जिनके हृदयमें नहीं है वे निर्वासनिक नहीं

होते। नरक-स्वर्ग मानते हों परन्तु स्वर्गकी वासना न हो तब हृदय निर्वासन होता है। नास्तिक लोग स्वर्ग तो नहीं चाहते परन्तु पेरिस जाना तो चाहते हैं क्योंकि भोगकी वासना तो उनके हृदयमें है हो। तो पहले इस बातपर विचार करना चाहिए कि स्वर्गकी वासना हृदयमें हो रहती है, फिर चाहे स्वर्ग विनाशी हो या अविनाशी। तदुपरान्त इस श्रुतिपर विचार करना चाहिए—

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।
(छान्दोग्य० ८.१.६)

यह अनुमानगर्भित श्रुति बताती है कि जैसे यहाँ कर्मसे बना हुआ घर गिर जाता है वैसे वहाँ भी पुण्यसे बनाया हुआ घर (स्वर्गादि) गिर जाता है। इसलिए स्वर्गादिसे भी वैराग्य होना चाहिए।

वैराग्य होनेपर ही ब्रह्मजिज्ञासा होनी चाहिए। जब आप लाख रुपया चाहते हैं तो दस-पाँच हजार छोड़ते हो या नहीं। बडेका जब ख्याल करते हो तो छोटेका ख्याल छोड़ते हो या नहीं ? राष्ट्रीयताके लिए प्रान्तीयता, मानवताके लिए जातीयता, छोड़नी पड़ती है। महाद्वीपके लिए द्वीपको, ब्रह्माण्डके लिए महाद्वीपको और ईश्वरके लिए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डको छोड़ना पड़ता है।

तुम स्वामीजीके साथ रहना चाहो और कंजड़िन या वेश्याको साथ रखो ! यह नहीं चल सकता। जो बड़ेसे मिलना चाहते हैं उन्हें छोटेकी उपेक्षा करनी पड़ती है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डसे भी बड़े ब्रह्मविज्ञानको यदि आप चाहते हैं, मानवत्वसे और देवत्वसे भी बड़े विज्ञानको यदि आप चाहते हैं तो नन्हे-मुन्नेकी उपेक्षा आवश्यक है।

कार्य-कारणका विवेक भी अन्यका ही विवेक है। जबतक प्रकाशका विवेक नहीं होता तबतक ब्रह्मका विवेक नहीं होगा।

प्रकाश वह जिसकी रोशनीमें 'मैं' और 'यह' दोनों दीखते हैं। 'मैं'का सार वही प्रकाश है। क्योंकि हमको ही दोनों दीखते हैं इसलिए हम मैं नहीं हैं। मैं तो अहंकार है।

कार्य-कारणका विवेक हल्का-फुल्का है। जीव और ईश्वरकी उपाधिके विवेकका नाम कार्य-कारण विवेक है। उपाधिका विवेक ब्रह्मका विवेक नहीं है; हाँ उसमें उपयोगी है। इसी प्रकार व्यष्टि-समष्टिका विवेक भी उपाधिका ही विवेक है, तत्त्वका विवेक नहीं है। सृष्टिकाल, महाकाल, उभय काल, प्रलयकालका विवेक भी कार्य-कारण-विवेक है तत्त्व-विवेक नहीं है। इसी प्रकार व्यष्टि-देश, समष्टि-देशका विवेक भी तत्त्व-विवेक नहीं है। ये सब कार्य-कारण विवेक ही हैं।

कहते हैं स्व० श्रीलाला हरदयाल एम० ए०की डिग्री इतनी थी कि दो पन्ने भर जाते थे। अब उन डिग्रियोंमें उनका नाम ही छिप जाता था। तो कार्य, कारण, व्यष्टि, समष्टि, देश, काल, सृष्टि, ये सब तो उस प्रकाशात्मा ब्रह्मकी डिग्रियाँ हैं। उनमें ब्रह्मको मत छिपने दो। तत्त्व तो प्रकाश है जिससे यह सब डिग्री मालूम पड़ती हैं। व्याप्य-व्यापकभाव उनमें नहीं है, व्यापकता उसमें झूठी है; परिच्छिन्नता तो उसमें है ही झूठी और वह अपना आपा है। उसकी जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा है।

तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म-जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधन-सम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन साधनोंके होनेपर ही धर्मजिज्ञासासे पूर्व या उत्तर ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, इनके अभावमें नहीं। अतः 'अथ' शब्दसे पूर्वोक्त साधन-सम्पत्तिके आनन्तर्यका उपदेश किया जाता है। ●

(७.०)

जिज्ञासाधिकरण-भाष्य (ब्रह्मविचार-भाष्य)-२

अतः पद विचार

अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दोग्य० ८.१.६) इत्यादि। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तैत्तिरीय० २.१) इत्यादि। तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या। (भाष्य)

अर्थ : ('अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमें) 'अतः' शब्द हेतुके अर्थमें है। तद्यथेह० इत्यादि श्रुतियाँ ही श्रेयके साधनभूत अग्निहोत्र आदिका अनित्यफल दिखाती हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानसे ही परमपुरुषार्थकी सिद्धि बताती हैं। इसलिए ऊपर कहे गये साधन-सम्पत्तिके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

'अतः' पदका विचार

श्री वाचस्पति मिश्र (भामतीकार)ने कहा कि कोई भीरु मनुष्य लौकिक दुःखके डरसे भले ही सुखको त्याग दे परन्तु पारलौकिक सुखको वह कैसे छोड़ देगा, क्योंकि वह तो वेदोक्त है ?

इसी बातको आजकल यों कहना पड़ेगा कि भले कोई व्यक्ति पारलौकिक सुखको उनमें अनास्था आदिके कारण छोड़ दे परन्तु प्रत्यक्ष सुखको प्राप्त करनेके लिए वह क्यों न तकलीफ उठायेगा ? काल-भेदसे यह अन्तर आगया है। पहले दुःखके डरसे यज्ञादिरूप

धर्मको नहीं छोड़ते थे, परन्तु आजकल इसका उल्टा हो गया है। चालीस साल पहले लोग झूठी गवाही नहीं देते थे क्योंकि उन्हें डर था कि झूठ बोलनेसे उनका सब नष्ट हो जायेगा। परन्तु आज लोग कहते हैं कि झूठ नहीं बोलेंगे तो बेटोंको खिलायेंगे क्या ? यह सब कालकी महिमा है।

मूल अन्तर तब और अबमें यह है कि तब वेदोक्त तथ्यमें तर्क नहीं था और अब तर्ककी प्रधानता है।

प्रश्न यह है कि तर्क बड़ा या आगम ? बौद्धों और जैनोंमें भी आगम होते हैं और उनमें भी देवता, मन्त्र, पुनर्जन्म, आत्माकी पवित्रता आदि सब मानते हैं।

अब जहाँ तक प्रत्यक्षका सम्बन्ध है उसमें बालकी खाल निकालनेवाले तर्ककी तो कोई कीमत ही नहीं है, क्योंकि एक बड़ा तार्किक छोटे तार्किक द्वारा स्थापित किये गये मानोंको काट देता है। अदालतमें बड़े-बड़े वकीलोंकी यही स्थिति है।

महाभारतकारने कहा कि जो भाव अचिन्त्य हैं उनमें तर्क नहीं लगाना चाहिए—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत्।

जो देखी हुई चीज है उसमें तर्क होता है, अनदेखीमें नहीं। व्याकरणमें वाक्यपदीय एक ग्रन्थ है। उसमें कहा है—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

बड़े यत्नसे निश्चय किया तर्कसे कि वस्तु ऐसी है अर्थात् कुशल अनुमानताने बड़े प्रयत्नसे यह सिद्ध किया कि वस्तु ऐसी है परन्तु जहाँ दूसरा बड़ा तार्किक आया कि बात कट गयी। इसीसे भर्तृहरिने कहा—

आविर्भूतप्रकाशानां अनुपद्रुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नविशिष्यते ॥

जिनके हृदयमें प्रकाश हो गया है, जिनके हृदयमें राग-द्वेष रूपी उपद्रव ऊधम नहीं मचाते हैं, वे तो भूत-भविष्य-वर्तमान, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-पास सबको प्रत्यक्षके समान देखते हैं।

इसीसे मनुजीने भी धर्मका निर्णय दिया—

आर्षम् धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केण नानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरा ॥

जो ऋषि-वचन है, वेद-वचन है उसमें तर्क जरूर करना परन्तु वेदशास्त्राविरोधी तर्क करना। तर्कसे उसका गूढ़ अभिप्राय निकालना; उसका विरोध मत करना।

जैसे ढोलकमें लगा चाम मन्दिरमें चला आता है, परन्तु घड़ीके पट्टेका चाम मन्दिरमें नहीं जाता (भगवदर्थ और स्वार्थ होनेके नाते); जैसे शंखसे अर्घ्य दिया जाता है, मनुष्यकी खोपड़ीसे नहीं क्योंकि शंखकी अपवित्रता आगमसे बाधित है। इसी प्रकार पंचगव्य आगमसे पवित्र है परन्तु पञ्चाज्य नहीं।

निष्कर्ष यह कि प्रत्यक्ष और अनुमान-उपमान आदिसे सिद्ध जो पदार्थ अथवा सिद्धान्त हैं उसमें तार्किककी कुशलताका तारतम्य देखनेमें आता है और जो वेदोक्त पदार्थ या सिद्धान्त हैं उनमें तर्कका नियोजन उनके गूढ़ार्थ-प्रकाशके लिए है, उनके खण्डनके लिए नहीं। अस्तु।

तो प्रसङ्ग यह चल रहा था कि मनुष्य प्रत्यक्ष-सुखका परित्याग तो दुःखके भयसे कर सकता है परन्तु वेदोक्त पारलौकिक सुखका परित्याग कैसे कर सकता है? इसपर यह विचार किया गया है कि प्रत्यक्ष सुखमें तो दुःखके अनेक हेतु हैं कि उनका समूल नाश संभव नहीं है। संसारमें सुखी होनेके लिए साधनकी पर-

तन्त्रता है और इसलिए कोई भी सांसारिक सुख साधनजन्य होनेसे नित्य नहीं हो सकता। परतन्त्रता और अनित्यता, ये दो ऐसी चीजें हैं कि वे सुखको कभी नित्य चाहने योग्य नहीं बनाये रख सकते।

पारलौकिक सुखके सम्बन्धमें भी श्रुतिने सुखका वर्णन तो किया है और देखनेमें वह अक्षय भी लगता है परन्तु दूसरी अनुमानगर्भित श्रुति कहती है कि जो कृतक है वह अनित्य ही होता है। इसलिए संसारके सुखसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी साधन-सामग्रीसे उत्पाद्य सुख हैं वे चाहे इस लोकके हों या परलोकके, पुरुषार्थसे प्राप्त हों या अनुगृहीत हों, सबके सब अनित्य हैं।

सर्वदर्शन-संग्रहमें पाशुपात-दर्शन वैष्णव-दर्शनोंपर आक्षेप करता है कि अनुगृहीत सुखमें क्या सुख है, वहाँ तो परतन्त्रता है! आओ हमारे मतमें आओ! यहाँ तो 'अहं महेश्वरः' है। परन्तु यह वेदान्त-दर्शन नहीं है।

विवेक यह है कि कर्म और उपासनासे प्राप्त होनेवाले जो लोक हैं वे क्षयी हैं और (इनकी) निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली जो स्थिति है वह भी क्षयी है।

धर्मजन्य लौकिक-पारलौकिक सुख अनित्य हैं। अनुग्रहजन्य जो इष्टलोकके सुख हैं उनमें पराधीनता है। योगजन्य समाधिमें द्रष्टृत्व है। उसमें परिच्छेदकी निवृत्ति नहीं है। इसलिए ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए, क्योंकि जिज्ञास्य ब्रह्म न कर्मजन्य है, न अनुग्रहजन्य है, न वह स्वरूप-स्थिति है और न वह परिच्छिन्न है। अर्थात् धर्म, उपासना, योगके साध्यफलसे जो विलक्षण परमानन्दस्वरूप ब्रह्म है, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

इस विलक्षण प्रयोजनकी सिद्धि 'अतः' पदका अर्थ है।

एक छोटा-सा प्रश्न—भेद जो भी होगा—जड़-जड़का भेद, जड़-चेतनका भेद, चेतन-चेतनका भेद (जीव-जीवका भेद), जीव-ईश्वरका भेद, और ईश्वर-जड़का भेद यह पंचधा भेद है—यह ज्ञातरूपसे होगा या अज्ञात रूपसे ? अर्थात् भेद ज्ञातत्वेन भासता है या अज्ञातत्वेन भासता है ?

तो भेद तो मालूम ही ज्ञानसे पड़ेगा। अतः भेद, ज्ञात होकर भासता है। देशका भेद, कालका भेद, देश-काल-वस्तुका परस्पर भेद और इनका इनके अभावके साथ भेद सब ज्ञानसे ही भासते हैं। अभेद और भेदका भेद भी ज्ञानसे ही भासेगा। इसलिए ज्ञान भेदगन्धसे शून्य, भेदाभेद और इनके अभावका प्रकाशक अपरिच्छिन्न चिन्मात्र ब्रह्म है।

एक कल्पना है एक ऐसी अवस्थाकी जहाँ भेद, अभेद, भेदा-भेद, भेद-विशिष्ट अभेद, और अभेद-विशिष्ट भेद, इन पाँचोंका भान नहीं होता ! यह कल्पना ही है, कोरी कल्पना। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि—यह जो भेदाभानमूलक अवस्था है उसको तुम इस समय याद कर रहे हो या कल्पना कर रहे हो ? या कि तुम्हारा यह अनुभव-ज्ञान है ? यदि कहो कि याद कर रहे हैं तो भूतमें भेदकी लीनावस्थाका ज्ञान तुमने किया था ? यदि कहो कि कल्पना कर रहे हैं तो कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं होता। और यदि कहो कि हम यह अनुभव कर रहे हैं तो वर्तमानमें अनुभवस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तुम स्वयं हो। भेदका होना या न होना दोनों ज्ञानसे ही सिद्ध होते हैं।

भेद ज्ञानव्याप्य है। जहाँ-जहाँ भेद होगा वहाँ-वहाँ ज्ञान होगा। भेदका काल ज्ञानका अवान्तर काल है। भेदका देश ज्ञानका अवान्तर देश है। भेद वस्तु-ज्ञानमें अवान्तर वस्तु है। इसका अर्थ है कि भेद ज्ञानमें ही रहता है, ज्ञानमें दीखता है, ज्ञानमें पैदा

होता है और ज्ञानमें ही नाशको प्राप्त होता है। भेदकी उम्र ज्ञानमें, भेदका विस्तार ज्ञानमें और भेदका आकार ज्ञानमें। इसका अर्थ है कि ज्ञान ही भेदाकार भासता है। ज्ञान ही भेद-कालके रूपमें, भेद देशके रूपमें भासता है। भेद एक कल्पित देश, कल्पित काल और एक कल्पित आकार है। ज्ञानकी फुरनाका नाम भेद है। भेदमें प्रागभाव है, प्रध्वंसाभाव है, अनेकता है और बाधितता है। भेद ज्ञानसापेक्ष है। भेद जन्य है, भेद प्रध्वंसी है, भेद अनित्य है, भेद बाधित है (अधिष्ठानज्ञानसे)। इसलिए ज्ञानतत्त्वमें भेद कल्पना करनेवाला अनुभवी पुरुष नहीं हो सकता।

ब्रह्मजिज्ञासा करनी है न, इसीलिए यह सब कहा। कल्पना ही करो ब्रह्मकी। हमें तो एक महात्माने ऐसा चाँटा मारा कि बस ! उन्होंने पूछा—'तुम अपनी मांको माँ मानते हो ?'

'अपने बापको बाप मानते हो ?'

'हाँ'।

'अपनी पत्नीको पत्नी मानते हो ?'

'हाँ'।

'यह सब तुम्हारो कल्पना है या सच्चाई है ? संसारके सब सम्बन्ध कल्पित होते हैं। होते हैं न ?'

'हाँ। ठीक है।'

'जब यह मान रखा है कि यह मेरी पत्नी है और मैं इसका पति हूँ और पुरोहितके कहनेसे तुम पति-पत्नी हो गये, तो गुरुके कहनेसे, वेदशास्त्रके कहनेसे एक कल्पना और क्यों नहीं जोड़ लेते कि 'मैं अपरिच्छिन्न हूँ'। झूठमूठ कल्पना करो कि मैं परिच्छिन्नके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान हूँ।'

मैंने कहा—आप झूठका उपदेश करते हैं क्या ?

वे बोले—करके देखो इस कल्पनाको।

मैंने कहा—किया।

वे बोले—'बताओ क्या दीखता है अब ? क्या तुमको देहके मरनेका दुःख है ?'

मुझे मानना पड़ा—अब दुःख नहीं है।

हम तो मौतके डरसे भटकते थे। भूखे-प्यासे, नंगे पैर, शरीरमें कुर्ता नहीं, धूपमें महात्माओंके पास जाते थे

अच्छा ! अब तुम्हारी मौत कहाँ ? तुम्हारा किसीसे वियोग कहाँ ? तुम धनी-गरीब कहाँ ? तुम सुखी-दुःखी कहाँ ?

'मैं परिच्छिन्न हूँ' यह कल्पना है। इस कल्पनाको छोड़ो। यह किसी ज्ञान-विज्ञानसे सिद्ध बात नहीं है कि जीव नामकी कोई वस्तु ब्रह्मसे अलग है ! जीवका प्रत्यक्ष नहीं होता, यह केवल मान्यता है। जहाँ अपने परिच्छिन्नत्वको छोड़ा तो देखना कि न तो मकान टूटने-फूटनेका भय है, न राष्ट्रभङ्गका भय है, न सुखी-दुःखीपनेका भय है, न ज्ञान-अज्ञानका भय है, न जाने-आनेका भय है ! यह सारा भय तो अपनी परिच्छिन्नताके पाँखपर बैठकर दिखाई देता है जगत् सत्य है, यह भी तभी है जब मैंको परिच्छिन्न कल्पित करके देहमें बैठकरके हम सृष्टिका विचार करते हैं।

अनन्तकी आँखसे देखो तो, न उसमें स्वर्ग है, न नरक, न मृत्यु-लोक और न इष्टलोक ! फिर उन-उन लोकोंके सुखोंकी तो चर्चा ही क्या ? वे सब सुख झूठे हैं।

इस दर्शनका नाम ब्रह्मविज्ञान है। इसी विज्ञानसे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। इस बातको 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' जैसी श्रुतियाँ बताती हैं। वह परम पुरुषार्थ जिसमें साधन-साध्यक्रम नहीं है। जहाँ न आँख बन्द करनी है न आँख खुली रखनेका आग्रह है; जहाँ यज्ञादि करना नहीं है और किसीके आगे हाथ जोड़ना नहीं है ! करो, न करो या हाथ जोड़ो या न जोड़ो, आँख

बन्द करो या न करो; जिसमें ये सब बराबर हैं, ऐसे निर्मर्याद स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति परमपुरुषार्थ है। वह ब्रह्मविज्ञानसे ही मिलती है-

ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति ब्रह्मविदाप्नोति परम् इत्यादि।

'ब्रह्मवित् ब्रह्मैववित् परं पुरुषार्थम् आप्नोति' अर्थात् केवल ब्रह्मवेत्ता पुरुषको ही यह परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है।

'अतः शब्दो हेत्वर्थः' अतः शब्द हेतुके अर्थमें है! अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासाका प्रयोजन अतः शब्दसे सूचित होता है। परन्तु किसी भी प्रवृत्तिका प्रयोजन तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थोंमें-से किसीकी सिद्धिमें होता है। फिर यहाँ परम पुरुषार्थका क्या तात्पर्य है?

पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः।

पुरुष जिसकी अर्चना करे, प्रार्थना करे, वह पुरुषार्थ।

भोग पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि रोगके डरसे भोग छूट जाता है। धर्म पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि पण्डित लोग अनधिकारका निर्णय देकर छुड़ा देते हैं। अर्थ पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि पुलिसके भयसे उसे छोड़ देते हैं। तस्कर लोग पुलिसके भयसे माल समुद्रमें फेंक-कर अपनी जान बचाते हैं। मोक्ष अर्थात् छुटकारा मात्र पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि जेलसे छूटनेके बादकी चिन्ताओंसे मुक्ति नहीं होती। इसलिए केवल दुःखनिवृत्ति मोक्ष-पुरुषार्थ नहीं होता बल्कि दुःखनिवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थ मोक्ष है।

न्याय-वैशेषिकमें दुःखाभावरूप मोक्ष पुरुषार्थ है। कौटिल्य अर्थशास्त्रमें अर्थको पुरुषार्थ माना है। पूर्व-मीमांसा धर्मको पुरुषार्थ मानती है। वेदान्त दुःखनिवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष पुरुषार्थ मानता है।

परन्तु पुरुषार्थ तो एक ही है—सुख। धर्मसे सुख होता है

इसलिए धर्म पुरुषार्थ है। अर्थसे सुख होता है इसलिए अर्थ पुरुषार्थ है। इसी प्रकार अन्योंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए परन्तु ये सभी सुख एकसे नहीं होते। इनके स्वरूपमें अन्तर होता है।

अर्थसे देहिक सुख होता है, कामसे मानस सुख होता है, धर्मसे बौद्ध सुख होता है और मोक्षसे निवृत्यात्मक सुख होता है।

परन्तु जो धर्माधर्म, अर्थानर्थ, योग-भोग, बन्धन-मुक्ति सबमें हैं, जो ज्ञानात्मक अधिष्ठान परिपूर्ण है, अखण्ड है वह सुखरूप है, वह ब्रह्मज्ञानेकगम्य है और वही परम पुरुषार्थ है—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।'

ब्रह्मनन्द कैसा होता है? अपने दिलमें जो सुख होता है वही ज्ञान हमारा सुख होता है। दूसरेको सुखी देखकर भी जो सुख होता है वह तभी होता है जब वह सुख हमारे मनमें आता है। इसीसे न्याय वैशेषिकने सुखका लक्षण यह बनाया कि—

स्वाश्रितसुखापरोक्षं ज्ञानम्?

अपने अन्तःकरणके आश्रित सुखका अपरोक्ष होना सुख है। दूसरेके मनका सुख अपना सुख नहीं है। यह सुखाकार वृत्तिकी बात हुई। इसलिए न्याय-वैशेषिकमें दुःखकी निवृत्तिको ही सुख मानते हैं; सुख नामका अलग कोई पदार्थ नहीं मानते।

अच्छा; कहो कि हम ब्रह्मानन्दका उपभोग करेंगे। भले मानुष! यदि मच्छराश्रित सुखसे तुम सुखी नहीं होते तो ब्रह्मके सुखसे तुम सुखी कैसे होगे? अपने दिलमें जब सुख फुरफुरायेगा तब तुम सुखी होगे; न स्त्रीसे सुखी होंगे, न धनसे।

ब्रह्मका सुख जीवका सुख कैसे होगा? जीवके अन्तःकरणमें जब ब्रह्म समायेगा ही नहीं तब जीवको ब्रह्मका सुख कहाँसे होगा? हाँ, यदि ब्रह्म और जीव एक हो जायँ तो जो ब्रह्मका सुख होगा वही जीवका सुख होगा।

प्रश्न– ब्रह्मसुखी है या सुखरूप है ?

न्याय-वैशेषिकमें आत्माको सुखी-दुःखी मानते हैं, यह बिल्कुल अनुभवविरुद्ध बात है। क्यों सुषुप्तिकालमें दुःख किसीको अनुभव नहीं होता, परन्तु निर्दुःखतामें जो सुखाभिव्यक्ति है उसका स्मरण जागनेपर होता है। दुःखाभावाकार वृत्तिमें सुखस्वरूप आत्माका जो प्रतिबिम्ब है उस अनुभूतिका स्मरण जाग्रतमें होता है कि 'मैं सुषुप्तिमें सुखसे रहा।' माने सुषुप्तिमें सुख होता है परन्तु दुःख नहीं होता। अतः दुःख आत्माका स्वरूपधर्म कभी हो ही नहीं सकता।

सुखी भी आत्माका धर्म या गुण नहीं है, आत्माका स्वरूप है। इसलिए ब्रह्म सुख स्वरूप है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। अतः आत्मा भी सुखस्वरूप है।

'मैं सुखी हूँ' यह अनुभव नहीं होगा परन्तु 'मैं सुखस्वरूप हूँ' यह अनुभव होगा।

महात्माने कहा—बाबा ! यह वृत्ति बनानेपर क्यों तुले हुए हो कि 'मैं सुखी हूँ' या 'मैं सुखस्वरूप हूँ' ? सुखका जो अपरोक्ष्य है, ज्ञानस्वरूपता है, इससे बड़ा सुख और क्या हो सकता है ? स्टेजपर होनेवाले प्रत्येक दृश्यका—जीवन-दृश्यका या मृत्यु-दृश्यका संयोगका या वियोगका, सभीका सुख हम ले रहे हैं। नाटकमें देखनेके सिवाय और क्या सुख है ?'

मदारीने कहा—देखो, जीवन देखो, मृत्यु देखो आप देखो तमाशा, बस ! ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें सिनेमाके समान यह जो अध्यस्त प्रपञ्च है उसमें जीवन और मृत्यु, संयोग और वियोग, समाधि और विक्षेप, उपासना और अपासनारूप सम्पूर्ण दृश्य उपलब्ध हो रहे हैं। इस तमाशेको देखनेके अतिरिक्त और क्या सुख हो सकता है ?

हम बेहोश नहीं हैं, हम देख रहे हैं। देखते-देखते कभी बेहोशी हो रही है तो उसको भी देखते हैं। इसलिए देखना और सुख, ज्ञान और सुख, अलग-अलग नहीं हैं। ज्ञान और भेद अलग-अलग नही है।

जो ब्रह्मविद् होता है वह सृष्टि-कालमें और प्रलय-कालमें और समाधि-कालमें ईश्वर-कालमें, विक्षेप कालमें और अनिश्वर-कालमें-अर्थात् प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कालमें तथा इनके अभाव-काल (ईश्वरकाल) में, इनका जो उपलब्धा है उसे देखता है और वह उपलब्धिमात्र, ज्ञानमात्र वस्तु है। वही परम् है जिसको ब्रह्मज्ञानी केवल ब्रह्मज्ञानसे ही प्राप्त करता है, जो कभी नहीं छूटता, जिसको सबकी इच्छा भी है क्योंकि वह सुखस्वरूप है और इसलिए वही सबका परम पुरुषार्थ है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।'

परम् = निरपेक्ष। जिस सुखमें देशका बाहर-भीतरका सम्बन्ध नहीं है जो बाहर-भीतरमें भी है और इनसे परे भी है। जिस-सुखमें कालका आज और कलका सम्बन्ध नहीं है, जो आज और कलमें भी है और इनसे परे भी है। जिस सुखमें जन्म-मरणका सम्बन्ध नहीं है, जो जन्म-मरणमें भी है और इनसे परे भी है। जिस सुखमे कार्य-कारण, द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी द्वन्द्वका कोई सम्बन्ध नहीं है, जो इनमें भी है और इनसे परे भी है। ऐसा सुख जो देश, काल, वस्तुके सम्बन्धसे रहित है, वृत्तिसे रहित है, कर्मोपासनासे रहित है वह परं सुखं परं ब्रह्म है। उसी अखण्ड स्वसुखका आत्माभेदेन साक्षात्कार होता है। यही 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' है।

ऐसे ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए क्योंकि वही परम पुरुषार्थ प्रयोजन है जो 'अतः' पदसे सूचित होता है। और यह जिज्ञासा 'अथ' पदसे लक्षित साधन-सम्पत्तिके अनन्तर करना कर्त्तव्य है—

तस्माद् यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या।

•

(८. ०.)

जिज्ञासाधिकरण-भाष्य (ब्रह्मविचार-भाष्य)-३

ब्रह्म-जिज्ञासा पद विचार

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति। अतएव न 'ब्रह्म' शब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशंकितव्यम्।

ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे; जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न; प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तैत्ति० ३.१) इत्याद्याः श्रुतयः तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म (तैत्ति० ३.१) इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठी परिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म; फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनाव-

गन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्। तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाऽप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्; ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते; बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्य आत्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म।

यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न, तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तेव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

जिज्ञासाधिकरणभाष्य ●

अर्थ : ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है। 'जन्माद्यस्य यतः' लक्षणवाला ब्रह्म है। अतएव ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि ब्रह्म शब्दका जाति आदि कोई अन्य अर्थ है।

'ब्रह्मणः'—यह कर्ममें षष्ठी है, शेषमें नहीं। क्योंकि जिज्ञासाको जिज्ञास्यकी अपेक्षा होती है और यहाँ ब्रह्मके सिवा अन्य कोई

जिज्ञास्यका निर्देश नहीं है। यदि कहो कि शेषमें षष्ठी स्वीकार करनेपर भी ब्रह्ममें जिज्ञासा कर्मत्व विरुद्ध नहीं है क्योंकि सम्बन्ध सामान्य विशेषमें भी रहता है, तो इस प्रकार भी ब्रह्ममें प्रत्यक्ष कर्मत्वको छोड़कर सामान्य-सम्बन्ध द्वारा परोक्ष कर्मत्वकी कल्पना करनेवाले तुमको व्यर्थ ही प्रयास होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके आश्रित सब पदार्थोंके विचारकी प्रतिज्ञाके लिए है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रधानका ग्रहण होनेपर तदपेक्षित सब पदार्थोंका अर्थतः ग्रहण हो जाता है। ब्रह्म ही ज्ञानसे प्राप्त करनेके लिए इष्टतम होनेसे प्रधान है। जिज्ञासाके कर्म उस प्रधान (ब्रह्म)का परि-ग्रहण हो जानेपर जिन जिज्ञासितोंके बिना ब्रह्म जिज्ञासित नहीं होता, ये तो अर्थतः ग्रहण हो ही जाते हैं, अतः उनकी पृथक्‌से सूत्रमें चर्चा नहीं करनी चाहिए। जैसे कि 'यह राजा जाता है' ऐसा कहनेपर सपरिवार राजाके गमनका कथन हो जाता है, ऐसे ही यहाँ कथन है। और श्रुतिके अनुगमसे भी कर्ममें षष्ठी है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' (उसकी जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है)—इस वाक्यके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे ब्रह्मको ही जिज्ञासाका कर्म दिखलाती हैं। वह कर्ममें षष्ठी माननेसे ही सूत्रसे अनुगत होता है। इसलिए 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी है।

जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है। ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त ज्ञान सन्प्रत्ययवाच्य इच्छाका कर्म है। क्योंकि इच्छा फल विषयक होती है। ब्रह्म ज्ञानरूप-प्रमाणसे जाननेके योग्य है। ब्रह्मका साक्षात्कार ही पुरुषार्थ है क्योंकि उससे निःशेष संसारके बीजभूत अविद्या आदि अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

वह ब्रह्म प्रसिद्ध है अथवा अप्रसिद्ध ? यदि प्रसिद्ध है तो उसको जिज्ञासा नहीं होनी चाहिए। यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा ही नहीं हो सकती! इसपर कहते हैं कि नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म तो प्रसिद्ध है। 'बृह्' धातुके अर्थके अनुगम होनेसे व्युत्पत्ति सिद्ध ब्रह्मशब्दसे नित्यत्व, शुद्धत्व आदि अर्थ प्रतीत होते हैं और सबका आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व प्रसिद्ध है। आत्माके अस्तित्वका अनुभव सबको होता है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसीको नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो सबलोग 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव करते। आत्मा ही ब्रह्म है।

यदि लोकमें ब्रह्म आत्मारूपसे प्रसिद्ध है तो वह ज्ञात ही है। इस प्रकार पुनः ब्रह्मका अजिज्ञास्यत्व प्राप्त हुआ! ऐसी शंका युक्त नहीं है क्योंकि उसके विशेष ज्ञानमें विप्रतिपत्ति (विवाद) है। जैसे—चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है ऐसा प्राकृतजन और लोकायतिक मानते हैं। दूसरे चेतन-इन्द्रियोंको ही आत्मा कहते हैं। कुछ मनको ही आत्मा मानते हैं। कोई क्षणिक विज्ञानमात्रको आत्मा कहते हैं। किन्हींके मतमें शून्य आत्मा है। अन्य कहते हैं कि देह आदिसे भिन्न ससारी कर्ता-भोक्ता आत्मा है। कोई मानते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता है कर्ता नहीं है। कोई कहते हैं कि जीवसे भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ सार्वशक्तिसम्पन्न है। वह ईश्वर भोक्ताका आत्मा है, कोई ऐसा मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य तथा उनके आभासोंका आश्रय लेकर आत्माके सम्बन्धमें अनेक मतभेद हैं। उन सबका वास्तविक विचार किये बिना जिस किसी मतको प्राप्त करनेवाला मोक्षसे वञ्चित रहेगा और साथ ही अनर्थको प्राप्त होगा। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासाके कथन द्वारा, जिसमें अविरोधी तर्क साधनरूप है, ऐसी मोक्ष-प्रयोजनवाली वेदान्त-वाक्योंकी मीमांसा प्रस्तुत की जाती है।

●

(८. १.)

'ब्रह्मजिज्ञासा' पद विचार—१

जिज्ञासा किसकी ?

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति। अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तर-माशंकितव्यम्। (भाष्य)

ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है।

ब्रह्मकी जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए ? क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही और केवल ज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है; दूसरे साधनोंसे अपर पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मविद् आप्नोति परम्। (तैत्ति० २.१)

वह ब्रह्म स्वयं कैसा है ? श्वेताश्वतरकी श्रुति इसका उत्तर देती है—

यस्मात् परंनापरमस्ति किंचिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
(श्वेता० ३.९)

जिससे परे कुछ नहीं है और जिससे उरे कुछ नहीं है, जिससे सूक्ष्म कुछ नहीं है और जिससे श्रेष्ठ (महान्) कुछ नहीं है। वह ब्रह्म है। उसका कारण-कार्य कोई दूसरा नहीं है।

जैसे 'डण्डेवालेने घड़ा फोड़ दिया', इस वाक्यका अर्थ होता है कि डण्डेवालेने डण्डेसे घड़ा फोड़ दिया; इसी प्रकार 'ब्रह्मवेत्ताने परम् पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया'—इसका अर्थ है कि ब्रह्मवेत्ताने ब्रह्मज्ञानसे परम् पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया। 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्'।

'आप्नोति' क्रिया पद है। आत्माकी व्युत्पत्ति है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् यः
यच्चाप्य सन्ततो भावः····

यः च प्राज्ञरूपेण आप्नोति, तैजसरूपेण आदत्ते, विश्वरूपेण विषयान् अत्ति, च यः तुरीयरूपेण सन्ततो भावः स आत्मा।

यत्सुषुप्तौ घनीभूतान् विषयान् आत्मत्वेन आप्नोति इति आत्मा।

'आप्' धातुसे 'आप्नोति इति आत्मा'। 'अद् भक्षणे' धातुसे 'अत्ति इति आत्मा'! 'आदत्ते इति आत्मा'। 'अत सातत्यगमने'से 'अतति इति आत्मा'।

जो जाग्रत्-अवस्थामें 'विश्व' बनकर विषयोंका भोग करता है, जो स्वप्नावस्थामें तैजस बनकर स्वप्नके विषयोंको ग्रहण करता है,

जो सुषुप्तिमें घनीभूत प्रज्ञाके साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है और जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनोंमें एक रहता है, वह आत्मा है।

तो यह जो आत्मदेव हैं जिसको कहा गया 'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्' उनका कोई कार्य नहीं है, उनका कोई कारण नहीं है और न उनसे अलग कोई ईश्वर ही है—

न तस्य कार्यम्। (श्वेता० ६.८)

न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः। (श्वेता० ६.९)

यह आत्मदेव बिलकुल अकेले हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते। (श्वेता० ६.८)

न इनका कोई बाप है, न बेटा; न मालिक है, न भाई; न दुश्मन, न मित्र; न इनके पास कोई वैज्ञानिक साधन हैं। यह स्वयं प्रकाश हैं बस!

आत्माका ऐसा वर्णन है महाराज कि किसी भी धर्म, सम्प्रदायमें नहीं मिलता।

अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्। तदेतत् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म।

यह आत्मा अपूर्व है और इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं है। अपूर्वम्‌से कारणका निषेध किया और अनपरम्‌से कार्यका निषेध किया। 'अपूर्वम्, अनपरम्' दानोंसे आत्मामें कालका निषेध किया गया है। यह आत्मा न भीतर है और न बाहर है। 'अनन्तरं, अबाह्यम्'से आत्मामें देशका निषेध किया। अर्थात् आत्मा देश और कालकी उपाधियोंसे विनिर्मुक्त है।

तदेतत् ब्रह्म। जिज्ञासावशायां तत् परोक्षतया ज्ञायमानम्, ज्ञानदशायां एतत् अयमात्मा अपरोक्षं। तत् परोक्षं च अपरोक्षं च ब्रह्म।

जिज्ञासा दशामें जो परोक्षरूपसे ततके रूपमें जाना जाता है और ज्ञानदशामें जो अपनी आत्माके रूपमें अपरोक्षतया जाना जाता है, वह एक ब्रह्म ही परोक्ष और अपरोक्षके रूपमें है।

एष आदेशः एष उपदेशः एष उपनिषत्।

यही आदेश है, यही उपदेश है, यही उपनिषद् है।

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। इदं ब्रह्म, अहं ब्रह्म, उभयं ब्रह्म, अनुभयं ब्रह्म, अनुभयत्वे सति स्वयं ब्रह्म।

इदं ब्रह्म = यह ब्रह्म है, यह उपासक लोग कहते हैं। वृन्दावनमें हम कहते हैं कि भक्ति-दर्शन दृश्य-दर्शन है और वेदान्त द्रष्टृ-दर्शन है। भगवान्‌का दृश्यरूपमें दर्शन भक्ति है और भगवान्‌का द्रष्टारूपमें दर्शन वेदान्त है।

जिस समय 'इदं' नहीं दीखता उस समय भी 'अहं' रहता है। 'अहं'के बिना 'इदं'का दर्शन शक्य नहीं है। वेदान्ती लोग पूछते हैं—'तुम नित्यमें परमात्माका दर्शन चाहते हो या अनित्यमें? अहं नित्य है और इदं अनित्य।'

इदमस्ति, इदं नास्ति, इदं वस्तु जातं अस्ति, इदं वस्तु जातं नास्ति। अस्ति-नास्ति प्रत्ययोः अहं साक्षी।

'यह है, यह नहीं है' ये अस्ति-नास्ति प्रत्यय हैं। इन दोनों प्रत्ययोंका जो साक्षी है वह 'अहं' है। इसलिए अहं नित्य है।

महात्माओंने बताया कि परमात्माको खोजनेके लिए पहले 'इदं'के चक्करमें मत पड़ो। इसमें एक असम्भावनाकी ओर ध्यान करो। यदि तुम दुनियाके भावाभाव, परिवर्तन और एकताकी खोज करना शुरू कर दो तो तुम्हारी खोज कभी पूरी नहीं होगी। कितनी तरहके घड़े बनते हैं। अथवा मिट्टीसे कितनी चीजें बनायी जा सकती हैं, इसका कोई पता लगा सकता है? यदि परमात्मा-

को इदं-इदंमें ढूँढोगे तो या तो यह कहना पड़ेगा यह केवल इदं-इदं है; तब तो परमात्मा ही नहीं है क्योंकि वह परमात्मा अलग-अलग हो गया; खण्ड-खण्ड हो गया, परिच्छिन्न हो गया। और या यह कहना पड़ेगा कि किसी भी एक चीजका हमको ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता।

गो-का लक्षण बनाया—जिस पशुके गलेमें ललरी हो—'सास्नावत्वं गोत्वम्'। तार्किक पूछेगा कि यह लक्षण कैसे बनाया? क्या आपने दुनियाभरके भूत-भविष्य-वर्तमानके सब पशुओंको परीक्षा कर ली है? यह सम्भव नहीं है। तब तो गौका लक्षण बन ही नहीं सकेगा। फिर या तो वेदान्तियोंका अनिर्वचनीय सिद्धान्त मानना पड़ेगा या जैनियोंका स्याद्वाद मानना पड़ेगा। किसी भी वस्तुका लक्षण बनानेके लिए उससे भिन्न सारे पदार्थोंका ज्ञान आवश्यक है। जब इतरसे अलग करके बतायेंगे तब तो लक्षण बनेगा?

'इदं'के अनुत्पत्ति, उत्पत्ति, नाश, अनेकता, परिवर्तन, इन-सबका साक्षी 'अहं' है। इसलिए यदि नित्यमें परमात्माको ढूँढना होगा तो अहंमें ढूँढना होगा, इदंमें नहीं। इदं प्रागभाव प्रतियोगी है, इसका प्रध्वंसाभाव है, इसमें अनैक्य है, परिवर्तन है। इसमें सापेक्षता, दृश्यता, विकारिता, जड़ता एवं वाध्यता है। इसलिए परमात्माको इदंमें न ढूँढकरके जिसको इदं मालूम पड़ता है उस अहंमें ढूँढो। अहं अपने प्रागभावका प्रतियोगी नहीं है, इसका प्रध्वंसाभाव नहीं है, इसमें न अनैक्य है, न परिवर्तन, यह निरपेक्ष सत्ता है, चेतन है, द्रष्टा है, अविकारी और अबाधित सत्य है।

इस प्रकार ब्रह्मका अनुसन्धान कहाँ? इस प्रश्नका उत्तर हुआ कि जिधर नित्यता जाय वहाँ। यह पहिलो प्रक्रिया हुई। इदंमें

जड़के सिवाय कुछ नहीं मिलेगा और तत्‌में कल्पनाके सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। अहंमें ही वह मिलेगा जिसका नाम ब्रह्म है।

तब प्रश्न होगा—'कोऽहं ? मैं कौन हूँ ? 'कथमिदं जातम्' ? यह सब कैसे पैदा हुआ है ? 'कोऽस्य कर्ता यदि विद्यते' ? इसका कर्ता यदि है तो कौन है ? इन सब प्रश्नोंके उत्तरके लिए ब्रह्म-जिज्ञासा अपेक्षित है।

ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? वह अहंताऽवच्छिन्न चेतन है ! उसीको आत्मा बोलते हैं। यह जो अहं-अहं वृत्ति (प्रत्यय) है वह आत्मा नहीं है क्योंकि अहं-प्रत्यय तो अनेक हैं।

यह इदंतावच्छिन्न चेतन क्या है ? अच्छा भाई ! जहाँ 'मैं' फुर रहा है वहाँ 'मैं'के आश्रयके रूपमें साक्षी स्वयं-प्रकाश है। और यह जो 'इदं'-वाच्य घड़ी है, इस घड़ीका आश्रय, घड़ी-देश और घड़ीका विवर्ती उपादान भी वही है! जिस देशमें अहंता है उसी देशमें घड़ी है—बिना अहंके घड़ीका ज्ञान होगा ही नहीं।

रज्जुमें सर्प कहाँ है ? क्या रज्जु देशमें या जिस अन्तःकरणमें सर्प-भ्रान्ति है वहाँ ? पहले-पहल वहाँ था (अन्तःकरणमें), बादमें कहाँ जायेगा, इससे कोई मतलब नहीं। ठीक प्रतीतिकालमें वह कहाँ था ? उस समय वह अन्तःकरणमें है। इसलिए जो अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य होगा वही सर्पावच्छिन्न चैतन्य होगा। जो मनकी आत्मा है वही सर्पकी आत्मा है।

तो अहंके द्वारा अहंमें प्रकाशित परवत् विश्व है। जो अहम-वच्छिन्न चेतन्य है, वही विश्वावच्छिन्न चैतन्य है। कल्पनावच्छिन्न चैतन्य ही कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य होता है क्योंकि कल्प्यकी सत्ता कल्पनासे पृथक् देश-काल-आकारमें नहीं होती। इसलिए तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थ अलग-अलग नहीं होते।

निष्कर्ष यह कि जो अहंतावच्छिन्न चैतन्य है वही इदंता-

वच्छिन्न चैतन्य है। अहंता और इदंता दोनों चैतन्यके अवच्छेदक हैं। यदि ये (अहंता-इदंता) स्वयं सत्य हों तब तो अवच्छेद सत्य होंगे और यदि ये मिथ्या होंगे तो अवच्छेदोंका द्वित्व भी मिथ्या होगा। स्पष्ट है कि देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अधिष्ठानमें अहंता और इदंताके दोनों प्रत्यय मिथ्या हैं। इसलिए तत्त्व न अहंता है, न इदंता, न अहंतावच्छिन्न चैतन्य और न इदंतावच्छिन्न चैतन्य। बल्कि अहं-इदंतासे अनवच्छिन्न चेतन जो स्वयं-प्रकाश है वह तत्त्व है।

'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्।' अवेद्य होकर अपरोक्ष होना, यही तत्त्वका स्वभाव है। इन्द्रियग्राह्य न होकर, साक्षी-ग्राह्य इन्द्रिय-रूप न होकर (इन्द्रिय न होकर), मन न होकर, मनोग्राह्य न होकर, देश-काल-वस्तुमें न होकर और स्वयं ये न होकर तत्त्व अपनी महिमामें ज्यों-का-त्यों प्रतिष्ठित है ! तत्त्व स्वयं है। किसमें कौन प्रतिष्ठित होगा ?

ऐसा जो ब्रह्म है उसकी अद्‌भुत लीला है। लोग कहते हैं—प्रमाण बताओ। हम पूछते हैं—तुमने जो अपनेको कर्ता, भोक्ता, जीव, परिच्छिन्न, संसारी माना है वह किस प्रमाणसे माना है ? विचारसे माना है या बिना विचारके माना है ? तुम्हारी वर्तमान मान्यता तो अविचारपूर्ण है। पहले इसको छोड़ो; फिर हम विचारपूर्ण मान्यता बताते हैं।

किस प्रमाणसे तुमने अपनेको जीव माना है। प्रत्यक्षसे, अनु-मानसे, उपमानसे, शब्दसे; किससे ? इसको एक ही गति है। तुम कहोगे कि हमारे माँ-बापने, जात-बिरादरीने यह बताया है कि तुमको खुदाने बनाया है और उसके हुकुमके अनुसार चलोगे तो बहिश्त मिलेगा और उसके प्रतिकूल चलोगे तो दोजख मिलेगा ! जब तुम किसीके वचनको प्रमाण मानकर अपने आपको जीव

मानते हो, तो हम उससे ज्यादा अच्छा वचन तुमको सुनाते हैं जिसमें तुमको जीते-जी-ही ब्रह्म बताया गया है।

यदि कहो कि 'नहीं जी! हमने तो युक्ति-प्रमाणसे जानकर अपनेको जीव माना है, तो आओ; तुम्हारी युक्ति-प्रमाणकी परीक्षा करें, उसे कसौटीपर कसें।'

अरे! तुम्हारे मनमें बिना युक्ति-प्रमाणके, अविचारसे, भ्रान्तिसे, अपने जीवत्वकी कल्पना बैठ गयी है।

कभी-कभी आदमी जैसे कल्पना या मनोराज्य करने बैठ जाता है वैसे ही आप मनोराज्य करने लग जाओ—'मैं देश-कालका आश्रय ब्रह्म हूँ।' आप देखना कि आपकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी बढ़ जाती है। आप कल्पना करो—'पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर यह सब जो देश है उसकी कल्पना मनमें है। माने आप आँख बन्द कर लो और पूर्व-पश्चिम आदिकी कल्पना मनमें कर लो। अब कल्पना करो कि यह सब कल्पना है और इस कल्पनाको देखनेवाला, कल्पना और कल्पकसे बड़ा मैं हूँ। यह ब्रह्मभाव है। 'बृहत्वाद् ब्रह्म।'

अच्छा, कभी आपने कालका आदि-अन्त देखा है? क्या आप लाख कल्पना करके भी कालका आदि-अन्त देख सकते हैं? नहीं। फिर जिस कालका आपने जन्म ही नहीं देखा उसको मानते क्यों हैं? कहो, शायद अज्ञातरूपसे जन्म हो गया हो! तब भी कालका आदि कल्पित ही सिद्ध होता है। कहो कि कालका जन्म अमुक सम्वत्में, अमुक दिनमें, अमुक समयपर हुआ। माने कालका जन्म ज्ञात है। तो यह सम्वत्, दिन, समय भी तो काल है। यह तो कालमें ही कालकी कल्पना हुई। यह पहले-पीछे ही तो काल है। तो कालका आदि और अन्त दोनों कल्पित ही हैं। इसलिए उसका वर्तमानरूप भी कल्पित ही है।

एक सेकेण्डके आप दो हिस्से कर लो। इनमें एक भूत और एक भविष्य। अब वर्तमान बताओ। आप नहीं बता सकते; बताते-बताते वर्तमान भूत हो जाता है और भविष्य वर्तमान हो जाता है। कालको गणना सब व्यावहारिक है। उसकी निरपेक्ष गणना हो ही नहीं सकती।

ऐसा यह काल है जिसका आदि, मध्य, अन्त सब कल्पित है! उस कालके आप साक्षी हैं। आप अपनी उम्रकी कल्पना क्यों मानते हो? कालकी उम्रसे तुम्हारी उम्र ज्यादा होनी चाहिए। तुम्हारा जन्म और मृत्यु भी कल्पित है क्योंकि वह काल ही कल्पित है जिसकी गोदमें जन्म और मृत्यु दोनों होते हैं।

आपने अपनी लम्बाई-चौड़ाईकी नाप झूठी मान रखी है, अपनी उम्रकी कल्पना भी झूठी कर रखी है। जब देहमें 'मैं' कर लिया तब आपकी लम्बाई-चौड़ाई भी हो गयी, उम्र भी और वजन भी। आपको मालूम है कि सब पञ्चभूतोंमें वजन नहीं होता, परन्तु देहमें वजन होता है। आकाशमें वजन नहीं होता, पृथिवी और जलमें वजन होता है; वायुके सम्बन्धमें विवाद है। अमुक वातावरणमें हमारा शरीर चला जाय तो कितना वजन होगा! इसी आकाशमें ऐसे वातावरण हैं जिसमें अपना हाथ ही नहीं उठा सकते, अपना मुँह ही नहीं खोल सकते। अभिप्राय यह कि वजन भी सापेक्ष और कल्पित है।

अतः देश-काल वस्तु सब कल्पित हैं, सब सापेक्ष हैं। ब्रह्मज्ञान माने जो झूठी अप्रामाणिक कल्पनाएँ आपने अपने दिलमें बैठा ली हैं उनका उनके अधिष्ठान-प्रकाशकके ऐक्यज्ञानसे बाध। हमलोग तो यहाँतक बोलते हैं कि झूठी अप्रामाणिक कल्पनाओंको यदि अप्रामाणिक ढंगसे भी मिटा दिया जाय तब भी मनुष्यका कल्याण सम्भव है। दूसरे शब्दोंमें यदि ब्रह्मत्वकी केवल कल्पना ही कर लो

जाय तो वह भी इस अप्रामाणिक जीव-कल्पनाको निवृत्त करनेमें समर्थ है; फिर जहाँ प्रामाणिक वेदान्तोक्त ढंगसे कल्पना या बोध हो जाय तब तो कहना ही क्या ! इसको कैमुतकन्याय बोलते हैं।

अप्यसत् प्राप्यते ध्यानात् नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः।

(पञ्चदशी ध्यानदीप० ११५)

विद्यारण्य स्वामीने पञ्चदशीमें कहा कि जब ध्यानसे असत् वस्तुकी भी प्राप्ति हो सकती है, तब नित्यप्राप्त वस्तुकी भी हो जाय तो कहना ही क्या !

तात्पर्य यह कि अप्रामाणिक कल्पना भी अप्रामाणिक कल्पनाको निवृत्त कर सकती है।

आपसमें सम सत्ता जिनकी।
लख साधक बाधकता तिनकी॥

(विचार-सागर)

उदाहरणार्थ सपनेकी प्यास सपनेके पानीसे बुझ जाती है।

यह झूठी मान्यता है कि मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, धनी हूँ, इत्यादि। न तो तुम्हारा धन जेबमें रहता है, न दिमागमें कोई थैली है और न कलेजेमें। यह अभिमान है केवल और यह कल्पित है। जैसे मैं धनी हूँ, मैं कुटुम्बी हूँ, यह कल्पना झूठी है वैसे मैं ब्राह्मण हूँ, हिन्दू हूँ, मनुष्य हूँ, जीव हूँ, पापी हूँ, इत्यादि ये सब कल्पनाएँ झूठी हैं।

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।

(गौड० कारिका० ४.७१)

'कोई जीव उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसकी उत्पत्तिकी कोई सम्भावना ही नहीं है।' अस्तु।

ब्रह्मस्वरूप क्या है? अपने ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानमें कौन-सा प्रमाण अपेक्षित है? ये दोनों विचार अपेक्षित हैं।

भ्रान्तिका हेतु जो प्रमाण हो उसी कक्षाका प्रमाण भ्रान्तिको मिटानेके लिए होना चाहिए। आँखसे तो जीवत्व नहीं दीखता। तब जिस प्रमाणसे हमको जीवत्व अनुभव होता है उसी प्रमाणसे अपना ब्रह्मत्व अनुभव होगा।

बचपनमें भूत-प्रेतोंके छपे हुए फोटो देखते थे। एक बच्चेको हमने कहा, 'बाहर मत जाना; पीपलमें भूत रहता है।' वह बच्चा नहीं माना, बाहर गया और लौटकर बताने लगा कि 'मैं पीपलमें भूत देखकर आया हूँ।' मैंने कहा—अरे भाई, 'नानीके आगे ननिऔरेका बखान' करते हो! हम जानते हैं कि भूत नहीं होता। हमने तो तुमको डरानेके लिए भूतका वर्णन किया था। अब हमको ही तुम फँसाते हो?

ज्ञानेन्द्रियाँ ब्रह्मको नहीं बतातीं, वे खण्डको बताती हैं—शब्दको, स्पर्शको, रूपको, रसको और गन्धको। फिर यदि ब्रह्म प्रत्यक्षप्रमाणका विषय ही नहीं बनता तब उसके बारेमें अनुमानकी गति कहाँ? और जब प्रत्यक्ष-अनुमान ही ब्रह्मको नहीं लखाते तो अन्य प्रमाण—उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि इत्यादि उसे कैसे लखा पायेंगे! इस सम्बन्धमें एकमात्र श्रुति ही प्रमाण है। इसलिए हम ब्रह्मजिज्ञासा करते हैं—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।'

कई उपसाक-प्रकृतिके लोग गड़बड़ा जाते हैं। वे कहते हैं कि—'हमारा इष्ट बड़ा है, ब्रह्म तो छोटी चीज है।' श्रद्धामें सब ठीक है। हमारा श्रद्धा-भावके खण्डनमें तात्पर्य नहीं है। हम यह बताते हैं कि आप वैष्णव हैं तो आप इष्ट-देव और ब्रह्ममें छोटा-बड़ा अपने आप मानते हैं या अपने आचार्यके अनुसार मानते हैं?

आचार्योंने अपने भाष्योंमें कहीं यह नहीं लिखा कि इष्ट बड़ा है या ब्रह्म। उन्होंने तो ब्रह्म शब्दका वाच्यार्थ अपने-अपने हिसाबसे किया है। श्रीरामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें कहा:

कि यहाँ ब्रह्म शब्द नारायणका वाचक है। श्रीवल्लभाचार्यने अपने अणु-भाष्यमें ब्रह्म शब्दको पुरुषोत्तमका वाचक बताया है; श्रीरामानन्दाचार्यने अपने आनन्द-भाष्यमें ब्रह्मको रामका वाचक बताया है। श्रीबलदेव विद्याभूषणने अपने गोविन्द-भाष्यमें ब्रह्मको कृष्णका वाचक बताया है। श्रीश्रीकराचार्यने अपने श्रीकण्ठ-भाष्यमें ब्रह्मको शिव-शक्तिका प्रतीक माना है।

यहाँ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'में ब्रह्म शब्द जिज्ञास्य-परक है; किसीसे बड़ा-छोटा ब्रह्म नहीं होता। सभी आचार्य श्रुत्यर्थका ही विचार करते हैं। निष्कर्ष यह कि ब्रह्मके सम्बन्धमें श्रुति ही प्रमाण है।

ब्रह्मके स्वरूप और प्रमाणके विचारका प्रयोजन क्या? यह निष्प्रयोजन तो कोई कार्य होता नहीं। तो 'अवगतं सदात्मनि इष्यते'—

जो जाननेके बाद अपनेमें चाहा जाय, अपनेमें मिले वही प्रयोजन है। जान लें कि ब्रह्म सुखस्वरूप है और ब्रह्म आत्मत्वेन ज्ञात हो जाय। इस प्रकार सम्पूर्ण अनर्थोंको निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति, यह प्रयोजन है।

ब्रह्मका साधन क्या? तो ब्रह्म साधन-साध्य नहीं है क्योंकि साधन-साध्य वस्तु अनित्य होती है। ब्रह्म नित्य-प्राप्त है इसलिए उसमें साधनकी अपेक्षा नहीं है। परन्तु जिस अविद्याके कारण नित्य-प्राप्त ब्रह्ममें अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उस अविद्याकी निवृत्तिके लिए अन्तःकरणमें जो योग्यता उत्पन्न करनी है और विद्या वृत्ति उत्पन्न करनी है, उसके लिए साधन अपेक्षित है।

ब्रह्मजिज्ञासाका फल क्या? अखण्ड, अनन्त स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति; दूसरे शब्दोंमें मोक्ष-प्राप्ति। अविद्याकी निवृत्तिरूप जो अन्तः-करणकी स्थिति है उसमें अभिव्यक्त चैतन्य—वह साक्षात्कार है।

जिस गुरुके सान्निध्यसे यह सब ठीक-ठीक ज्ञात हो जाय उस गुरूपसत्तिपर भी विचार करना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा माने ब्रह्म-विषयक सम्पूर्ण विचार—ब्रह्मका स्वरूप, ब्रह्म-सम्बन्धी प्रमाण, ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी, प्रयोजन, साधन, फल, गुरूपसत्ति, वाक्य-विचार, विरोध-परिहार आदि।

ब्रह्म कौन ? इसपर कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रके द्वितीय सूत्रमें 'जन्माद्यस्य यतः' जिसका लक्षण किया गया है—ब्रह्म शब्दका जाति-आदि कोई दूसरा अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है।

ब्रह्म शब्दके कई अर्थ होते हैं—वेद, ब्राह्मण जाति, परमात्मा और ब्रह्म।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः (कठोपनिषद् १.२.२५)

यहाँ ब्रह्म = ब्राह्मण जाति।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि (गीता ३.१५)

यहाँ ब्रह्म = वेद है। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'में ब्रह्म शब्दका अर्थ ब्रह्म है। परन्तु 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'में ब्रह्म = परमात्मा है।

जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र १.१.२)

यह ब्रह्म = परमात्माका लक्षण है। परमात्मा अर्थमें ब्रह्म शब्द वेद-उपनिषदोंमें भरा पड़ा है।

जिस ब्रह्मकी जिज्ञासा हम करने जा रहे हैं वह 'जन्माद्यस्य यतः' लक्षणवाला है। वही सृष्टिका उत्पत्ति, पालन, संहारका हेतु है तथा संहरित होनेपर सृष्टि उसीमें लीन हो जाती है। वह परमात्मा चेतन होनेसे आत्मासे अभिन्न है। 'शास्त्रयोनित्वात्'से शास्त्रोंमें उसी ब्रह्मका वर्णन है।

(८. २.)

ब्रह्मजिज्ञासा-पद विचार-२

ब्रह्मजिज्ञासा पदके समासपर शास्त्रार्थ

जब दो शब्दोंको एक साथ जोड़ते हैं तो बीचमें प्रायः विभक्ति नहीं रहती। (कहीं-कहीं रहती भी है)। तो प्रायः विभक्तिका लोप हो जानेसे शब्द छोटा हो जाता है और समासकी शक्तिसे अर्थका बोध हो जाता है। तत्पुरुष, बहुब्रीहि, कर्मधारय, द्वन्द्व, द्विगु आदि समासके प्रकार हैं।

तो ब्रह्म-जिज्ञासा पदमें कौन-सा समास है? इस बातको लेकर भाष्यमें शास्त्रार्थ किया गया है। जिज्ञासुके लिए विशेष उपयोगी न होनेके कारण हम संक्षेपमें उसकी व्याख्या करते हैं।

श्रीशंकराचार्यसे पूर्ववर्ती कोई वृत्ति है ब्रह्मसूत्रपर जिसमें सम्भवतः 'ब्रह्मणे जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा', करके अर्थ किया गया है। माने चतुर्थी करके तत्पुरुष-समास किया है ब्रह्मके लिए जिज्ञासा।

यह जीव ब्रह्मके लिये है, यह जगत् ब्रह्मके लिए है, यह सब ब्रह्मके प्रति समर्पित है। तब जिज्ञासा भी ब्रह्मके लिए होनी चाहिए।

इस अर्थके समर्थनमें पूर्वमीमांसा शास्त्रपर जो शाबर-भाष्य है उसे उद्धृत करते हैं—'धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा।' अर्थात् धर्मके लिए जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा है। उसी प्रकार ब्रह्मके लिए जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है।

जैसे गो-सम्मेलनमें 'गवां सम्मेलनं गोसम्मेलनम्' अर्थ नहीं करते क्योंकि वहाँ गायोंका सम्मेलन नहीं होता, बल्कि वहाँ 'गोभ्यः सम्मेलनं गोसम्मेलनम्' अर्थात् गायोंके लिए सम्मेलन-यह अर्थ करते हैं। वैसे ही ब्रह्मके लिए जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है।

स्वामी करपात्रीजी महाराजसे किसीने पूछा—आपके धर्म-संघका क्या अर्थ है ?

क्या 'धर्माणां संघः धर्मसंघः ?' अर्थात् जैसे हिन्दुओंका, मुसलमानोंका, ईसाइयोंका संघ होता है ऐसा धर्मसंघ है क्या ? बोले नहीं। 'धर्माय संघः धर्मसंघः' अर्थात् धर्म (की रक्षा)के लिए धर्मसंघ है।

भगवान् शंकर कहते हैं कि यहाँ चतुर्थी तत्पुरुष समास नहीं है, बल्कि षष्ठी तत्पुरुष समास है और कर्ममें षष्ठी है, शेषमें नहीं—

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा।
ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे। (भाष्य)

अर्थात् ब्रह्मके लिए या ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा ऐसा शेषमें नहीं, बल्कि 'ब्रह्मकी जिज्ञासा' इस प्रकार कर्ममें षष्ठी है। क्योंकि जो इच्छा है वह ज्ञानकी है—'ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा।'

परन्तु ज्ञान किसका ? ज्ञान सकर्मक है।

जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।

(भाष्य)

जिज्ञासाको जिज्ञास्यकी अपेक्षा होती है और यहाँ ब्रह्मको छोड़कर किसी अन्य जिज्ञास्यका निर्देश नहीं है।

यदि कहो कि 'षष्ठी शेषे' (शेषमें षष्ठी) करनेसे भी ब्रह्म-जिज्ञासाका अर्थ ब्रह्म और तद्विषयक बातोंका विचार अप्रत्यक्ष रूपसे हो जायेगा तो ऐसा नहीं। क्योंकि प्रत्यक्षको छोड़कर परोक्षकी कल्पना करनेका श्रम क्यों उठाया जाय !

ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् । (भाष्य)

यदि ऐसा कहो कि यह श्रम व्यर्थ नहीं होगा क्योंकि यह ब्रह्माश्रित सब पदार्थोंके विचारकी प्रतिज्ञाके लिए हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब प्रधानका ज्ञान हो जायेगा तो गौणका अपने आप हो जायेगा। यहाँ प्रधान जिज्ञास्य ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्मको जिज्ञासामें ब्रह्माश्रित सब पदार्थोंका अपने आप ग्रहण हो जाता है। उसके लिए सूत्रमें अलग चर्चा करनेकी जरूरत नहीं है।

न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेत् न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेन आप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम् तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति। तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक् सूत्रयितव्यतानि । (भाष्य)

प्रधानके ग्रहणमें गौणका अपने-आप ग्रहण हो जाता है, इसमें कोई दृष्टान्त है क्या ? तो कहते हैं कि जैसे यह कहा जाय कि

"राजा जा रहा है" तो इसमें राजाके साथ-साथ उसके परिवार-साज-लश्कर सभीका ग्रहण हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा-में ब्रह्मका प्राधान्यतः ग्रहण हो जानेसे तद्विषयक सभी बातोंका ग्रहण हो जाता है।

यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। (भाष्य)

अब भगवान् शंकराचार्य कर्ममें षष्ठी करनेके पक्षमें श्रुति-प्रमाण देते हैं, जिससे मालूम पड़ जाय कि वेदान्तकी सारी बातें उपनिषद्के आधारपर चलती हैं। तैत्तिरीयकी श्रुति ब्रह्मका लक्षण करती है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म इति।' जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, अन्तमें जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, उसीको जाननेकी इच्छा करो। वही ब्रह्म है।'

इस श्रुतिमें ठीक 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रके लक्षणोंवाले ब्रह्मकी जिज्ञासाका स्पष्ट आदेश है। अतः 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें भी वही अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार 'ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है)। यहाँ कर्ममें षष्ठी ठीक है—

श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॰ इत्याद्याः श्रुतयः 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासा-कर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी। (भाष्य)

ब्रह्मसूत्र उपनिषदर्थका निर्णायक ग्रन्थ है। यह अधिकरण-रचनापूर्वक युक्ति एवं मनन-प्रधान ग्रन्थ है। अतः सूत्रार्थका

निर्णय करते समय यह देखना पड़ता है कि सूत्रमें कौन-सा शब्द किस श्रुत्यर्थके अनुकूल है।

उपनिषद्‌का नाम वेदान्त है। श्रीशंकराचार्यने सात बातोंका नाम वेदान्तार्थ बताया है। और इन वेदान्तार्थोंके निर्णयमें श्रुति ही प्रमाण है।

१. वेदान्तका अधिकारी—यह पूर्वोक्त 'अथ' पदका अर्थ है। इसमें श्रुति थी—शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षु० इत्यादि।

२. गुरूपसत्ति—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'—यह श्रुति ब्रह्मको जाननेके लिए गुरुकी शरणमें जानेका निर्देश करती है। जहाँ बुद्धिका अभिमान होगा वहाँ अभिमानकी ही पुष्टि होगी। अभिमान-निरास-पूर्वक ही अद्वैत तत्त्वका बोध होगा।

आपकी बुद्धि काम करती यदि केवल विषयके सम्बन्धमें विचार करना होता या केवल बुद्धिकी परीक्षा करनी होती। बुद्धि और बोध्यकी परीक्षामें बुद्धि चल सकती है। परन्तु बोद्धाकी तलाशमें बुद्धि ज्यादा दूर तक काम नहीं देती। इस त्रिपुटीको छोड़कर जो है सो ब्रह्म है। इस त्रिपुटीके निषेधके लिए आपको गुरु चाहिए।

घट-पट बदलता है, वृत्ति भी बदलती है और घटज्ञता, पटज्ञताका अभिमान भी बदलता है; परन्तु अखण्ड ज्ञानस्वरूप साक्षी एकरस रहता है। साक्षीकी अपरिच्छिन्नताका बोध विषयत्वेन नहीं होगा, क्योंकि वह कभी प्रमाताका विषय नहीं बन सकती। इसलिए अलगसे ही अपनी अपरिच्छिन्नताका बोधक कोई प्रमाण चाहिए।

३. पदार्थद्वय—जीव और ईश्वर। जीव-पदवाच्यार्थ और

ईश्वर-पदवाच्यार्थं। व्यष्टि चैतन्य और समष्टि चैतन्य। वाच्यार्थ-निर्णय श्रुतिके आधारपर ही होना चाहिए।

४. **तदैक्य**—उपाधिसे अलग करके उपाहितके लक्ष्यार्थमें एकता। अल्प और महान्‌से अलग करके वह ज्ञप्तिमात्र है। भोग्य और भोक्तासे अलग करके चैतन्य आनन्दमात्र है। यह महा-वाक्यका अनुसन्धान है।

५. **विरोध-परिहार**—श्रुतियोंमें जहां जीव और ईश्वरके भेद-का कथन है उनका महावाक्य श्रुतियोंसे जो विरोध दीखता है उसका श्रुति, युक्ति, मनन और अनुभवके आधारपर परिहार करना।

६. **साधन**—ब्रह्मज्ञानका साधन क्या है? प्रमाण-प्रमेय विचार। श्रुतियोंमें जो अनेक साधनोंका वर्णन है उनका अधिकारी और साध्यकी दृष्टिसे समन्वय। ब्रह्मजिज्ञासा पदका लक्ष्य; यही साधन-विचार है।

७. **फल**—संसारकी बीज-अविद्याकी निवृत्ति तथा ब्रह्मप्राप्ति। इसका फल है अखण्ड अनन्त स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति। यह पूर्वोक्त अतः पदका लक्ष्य है।

इसलिए सम्पूर्ण वेदान्तार्थकी जिज्ञासाके लिए 'ब्रह्मजिज्ञासा'का प्रयोग है। ब्रह्मकी जिज्ञासा करो—'तद्विजिज्ञासस्व।'

ब्रह्मजिज्ञासा पदमें न शेष-शेषी भाव है और न चतुर्थी है। कर्ममें षष्ठी है; क्योंकि जहाँ कृदन्त प्रत्यय होता है वहाँ कर्ममें षष्ठी होती है—

कर्तृ-कर्मणोकृति कर्मणि च षष्ठी।

इसलिए 'ब्रह्मकी जिज्ञासा' यह अर्थ है। जिज्ञासा ब्रह्मकी और वह भी प्रमापर्यन्त। यह ब्रह्मानुभूति ही परम पुरुषार्थ है। ●

(८. ३.)

ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार-३

ब्रह्मकी जिज्ञासा क्यों ?

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म; फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात् तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्। (भाष्य)

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा।

जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है। जिज्ञासा पद ज्ञा धातुसे 'इच्छा' अर्थमें 'सन्' प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है। इसलिए इच्छा ज्ञानसे उत्पन्न होती है। परन्तु ज्ञानके लिए कोई ज्ञेय होना भी आवश्यक है। अतः ज्ञानका कार्य इच्छा, इच्छाका कर्म ज्ञेय-ज्ञान और (स्वयं) ज्ञेय इच्छाका फल। अब यदि ज्ञेय अन्य होगा तो इच्छा-ज्ञान-क्रियाका समुच्चय होकर उस ज्ञेयको भोक्ताके समीप उपस्थित करेगा। और यदि ज्ञेय 'स्व' होगा तो इच्छा और ज्ञान मिलकर, बिना कोई क्रियाके ही, 'स्व'की अविद्याको निवृत्त करके यथार्थ 'स्व'का बोध करायेगा। जो 'स्व' है वह ज्ञानस्वरूप है, उसमें इच्छा और ज्ञान औपाधिक हैं।

इसलिए जो ब्रह्म-ज्ञान है वह (सन् प्रत्ययवाच्य) ब्रह्मको जाननेकी इच्छाका कर्म है—'ज्ञानं सन् वाच्याया इच्छायाः कर्मः। क्योंकि

इच्छा सदैव फल-विषयक होती है—'फलविषयत्वात् इच्छायाः'। यदि कहो कि इच्छाका कर्म जो ज्ञान है उसकी अवधि क्या? तो कहा साक्षात्कारपर्यंन्त 'अवगतिपर्यन्तम्'।

यहाँ इच्छा है ब्रह्मज्ञानकी और फल है ब्रह्म। अतः ब्रह्म-साक्षात्कारपर्यन्त ब्रह्मज्ञानकी इच्छा—यह जिज्ञासा पदका अर्थ है। अथ = अधिकार-सम्पन्नताके अनन्तर; अतः = अविद्या-निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिए; ब्रह्मजिज्ञासा = ब्रह्मकी ब्रह्म-साक्षात्कारपर्यन्त जिज्ञासा करते हैं।

ब्रह्म माने क्या? जैसे समझो कि किसीने घड़ीको जान लिया। दूसरे किसीने चश्माको जान लिया। तीसरेने स्वर्ग, नरक, मृत्यु-लोकको जान लिया। यहाँ ज्ञानमें ज्ञानका विषय बहुत छोटा है। छोटे विषयको जानोगे तो पूर्णका ज्ञान कहाँसे होगा? श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञान ऐसी वस्तु है जिसके हो जानेपर अज्ञात कुछ नहीं रहता—

यस्मिन् एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

जिस एकके जान लेनेपर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है।

एक ज्ञान बाहरसे भीतर आता है और एक भीतरसे बाहर निकलता है। परन्तु एक तीसरा ज्ञान और है जो इन दोनोंका अटल साक्षी है।

जैसे यह बेला है, यह चमेली है—इस प्रकारका ज्ञान बाहरसे भीतर जाता है और उस-उस ज्ञानके आकारकी वृत्ति बनती है।

यह प्रिय है, यह अप्रिय है—यह ज्ञानसंस्कार भीतर भरा है और वह क्रमशः बाहर प्रकट होता है।

साक्षी शुद्ध ज्ञान है।

अब ब्रह्मजिज्ञासामें कौन ज्ञान काम आयेगा? जितना ज्ञान

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणोंके द्वारा बाहरसे भीतर लिया जाता है—उसमें ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि बाहर कहीं ब्रह्म देखनेको मिल नहीं सकता। तो कहो ब्रह्मज्ञान भीतरसे निकालेंगे! परन्तु पहले भीतर भरा क्या है? ब्रह्मज्ञानकी प्रकृति तो यह है कि वह एकबार आवे तो सारे संस्कारोंको नष्ट कर दे। ब्रह्मज्ञान न संस्कार-जन्य है और न संस्कारजनक है।

यह घट-पटादिका ज्ञान कैसा है? इनको पहले देखा है, देख कर इनकी पहचान भीतर भरी है। बादमें तभी तो देखते ही झट कह देते हैं कि यह अमुक है। उधर प्रिय-अप्रियके संस्कार भीतर हैं। वे संस्कार जिस आश्रयमें प्रतीत होते हैं वही प्रिय-अप्रिय हो जाता है। ब्रह्म कैसा है? उसकी पहचान तुमने देखकर भीतर भरी है, जो भीतर भरी है उसे निकाल रहे हो? जो ऐन्द्रियक ज्ञान होता है वह बाहरसे भीतर और भीतरसे बाहर आता-जाता रहता है। परन्तु जो अनन्त होता है उसमें द्वैत हो नहीं होता; उसमें मैं-तूका भेद ही नहीं होता। ऐसी स्थितिमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेमें क्या चाहिए?

हम ऐसे लोगोंको जानते हैं जो अपनेको कहते हैं—मैं नित्य अजर, अमर, अविनाशी हूँ। परन्तु आप इस दृष्टिमें जो संकोच है उसपर नजर डालें।

एक परमाणु भी अजर-अमर, अविनाशी-नित्य होता है, क्योंकि कालकी धारामें वह नित्य होता है। तो क्या तुम जड़-परमाणु हो अथवा स्वयं काल हो? यदि परमाणु हो तो भी तुम्हें अभी ब्रह्म-ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि परमाणु ब्रह्म नहीं है; ब्रह्म परमाणुका प्रकाशक है। और यदि काल हो तो भी तुम ब्रह्म नहीं हो; क्योंकि काल एक क्रम द्वारा सिद्ध ज्ञेय पदार्थ है और तुम उसके ज्ञाता हो!

एक 'ब्रह्मज्ञानी' अपनेको कहते हैं—मैं व्यापक हूँ, माने जो कुछ पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण है वह सब मैं ही हूँ। अच्छाजी! यह जो दिशाओंकी कल्पना है वह तो देहको बीचमें रखकर आयी है। न पूर्वका अन्त देखा न पश्चिमका। तुमने अपनेको केवल दिशा-तत्त्वसे, आकाशतत्त्वसे एक किया और पूर्ण मान लिया! इसमें ब्रह्मज्ञान कहाँ है?

एक कहते हैं—'मैं सर्वरूप हूँ। मैं ही घट हूँ, मैं ही पट हूँ, मैं ही सर्व हूँ।' अच्छाजी, तुमने सर्वको अपना मैं समझा; परन्तु सर्व तो अनेकोंका 'कुल' (जोड़, संघात) होता है। वह ब्रह्म नहीं है, वह तो तुम्हारा ज्ञेय है। तुमने सर्वात्मक सजीव सत्ताको अपना मैं समझ लिया। इसमें ब्रह्मज्ञान नहीं है।

एकने कहा—'हम तीनों (देश, काल, वस्तु)को एक करके उसको अपना मैं समझते हैं।' तब तुम प्रकृति हुए ब्रह्म नहीं।

बोले—'नहीं, हम सबके नियन्ता हैं।' ठीक है। तब तुम ईश्वर हो सकते हो, ब्रह्म नहीं।

'नहीं-नहीं, हम सबके द्रष्टा हैं।' कहा—'बहुत ठीक! तब तुम द्रष्टा-दृश्यके विवेकी हुए परन्तु तुम्हारी परिच्छिन्नता तो अभी शेष है। तुम ब्रह्म नहीं हो।'

आप किसीके बहकानेमें मत आना। ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान बिलकुल अलग चीज है।

कोई कहते हैं कि देहमें अत्यन्त अभिनिवेश होनेके कारण ब्रह्मज्ञान नहीं होता। मृत्युका भय लगा हुआ है। महात्मा कहते हैं—'इस अभिनिवेशको छाड़ो, तुम देह नहीं हो।' परन्तु उनका आग्रह है कि नहीं अभी ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता!

एक कहते हैं—अभी हम रागद्वेषमें फँसे हुए हैं—आओ वैराग्य

करें, तब ब्रह्मज्ञान होगा। मगर भाई मेरे! वैराग्यसे भी ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। दोषदर्शनमूलक रागद्वेषका त्याग ज्ञानका साधन नहीं है।

अच्छा, ईश्वरकी शरणागतिसे या समाधि लगाकर अस्मिताके त्यागसे ब्रह्मज्ञान होगा? तो इनसे भी ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। द्रष्टा-दृश्य-विवेकसे भी ब्रह्मज्ञान नहीं होगा।

हम यह समझाना चाहते हैं कि वेदान्त ब्रह्म जिसको कहता है वह क्या है?

देखो, यह जो द्रष्टा है वह सचमुच देश, काल, वस्तु, जीव, ईश्वर, प्रकृति सबसे विलक्षण है। सबसे विलक्षण होकर जब यह अपनेको अजर-अमर, अविनाशी कहता है तो कालसे एक हो जाता है। कालसे एक हो जाता है माने कालाकाराकारित बुद्धिसे एक हो जाता है। जब यह अपनेको व्यापक कहता है तो देशसे अर्थात् देशाकाराकारितबुद्धिसे एक हो जाता है। जब यह अपनेको सर्व कहता है तो द्रव्यसे अर्थात् नामरूपाश्रय सबीज सत्तासे एक हो जाता है। जब प्रकृति कहता है तो उपर्युक्त तीनोंसे एक हो जाता है, जब ईश्वर कहता है तो इनके नियामकसे एक होता है। ब्रह्म देश, काल, वस्तु, जीव, ईश्वर, प्रकृति, इन सबसे भिन्न तथा इनका प्रकाशक-अधिष्ठान एक अखण्ड सत्ता है।

अब एक विवेकपर ध्यान दें। घड़ा मिट्टी है, यह बात बिलकुल पक्की है। परन्तु घड़ा ही मिट्टी है, यह बात बिलकुल गलत है। मिट्टी घड़ा भी है और घड़ासे न्यारी भी है। घड़ाके फूटनेपर, न बननेपर और बना रहनेपर भी मिट्टी रहती है। इसलिए यद्यपि घड़ा मिट्टीसे जुदा नहीं है तथापि मिट्टी घड़ासे जुदा भी है। कार्यसे कारण न्यारा होता है परन्तु; कारणसे कार्य न्यारा नहीं होता। सोना जेवरसे न्यारा है; परन्तु सोनासे

जेवर न्यारा नहीं है। इसी प्रकार दृश्यसे द्रष्टा न्यारा है, यह विवेक आवश्यक है। घटमें प्रथम 'घ' तदनन्तर 'ट', इस क्रमके रूपमें बहता हुआ काल मौजूद है। यह दाहिना हाथ, यह बायाँ हाथ, इस दाहिने-बायें रूपमें देश मौजूद है। यह देह मैं, यह घट, यह पट इन वस्तुओंके रूपमें पदार्थ मौजूद है। परन्तु इन सबका जो जाननेवाला है, द्रष्टा, वह इनसे बिलकुल न्यारा है।

इस द्रष्टाके साथ तीन विपत्तियाँ हैं—

१. बड़ा विवेक करके अलग हुआ यह द्रष्टा फिर कब मिल जायेगा, कोई ठिकाना नहीं—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र (पातंजलि योगदर्शन १.४)

२. द्रष्टा अनेक हैं। दृश्यमें मैं-मेरा करके बैठे हुए जीव अनेक हैं।

३. दृश्यको नचानेवाली प्रकृति (या ईश्वर) है और तुम द्रष्टा हो।

जाव अनेक हैं, दृश्य मुझसे भिन्न है और नियन्ता मुझसे भिन्न है। ये तीन भ्रान्तियाँ द्रष्टाके साथ जुड़ी हैं। ये तब छूटेंगी जब द्रष्टा अपने सच्चे स्वरूपको जानेगा। द्रष्टाका सच्चा स्वरूप क्या? ब्रह्मस्वरूप।

देश, काल, वस्तु, उनका अभिमानी जीव और नियन्ता ईश्वर—ये सब द्रष्टामें बाधित भासमान हैं और द्रष्टा स्वयं जो अपना आत्मा या स्वरूप है वह अबाधित भासमान है। ब्रह्म-ज्ञानसे ईश्वरतकका बाध हो जाता है (माने मिथ्यात्व निश्चित हो जाता है); परन्तु द्रष्टाका बाध कभी नहीं होता, कभी नहीं हो सकता। 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता।

इसी द्रष्टाको ब्रह्म बतानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति है। वेदान्त बताता है कि हमारा आत्मा देशसे न्यारा है (इसलिए छोटा-बड़ा नहीं है); कालसे न्यारा है (इसलिए नित्य-अनित्य नहीं है); सर्वसे न्यारा है (इसलिए चींटी या हाथी नहीं है); सर्वमें बैठे उनके अभिमानी जीवोंसे न्यारा है और इनका नियन्त्रण करते हुए ईश्वरसे भी न्यारा है। केवल दृङ्मात्र है वह!

आत्मा कालसे न्यारा होनेके कारण काल-रहित अविनाशी है; देशसे न्यारा होनेके कारण व्याप्यरहित व्यापक है; सर्वसे न्यारा होनेके कारण विषयरहित विषयी है। अभिमानसे न्यारा होनेके कारण जीवत्वरहित चैतन्य है; नियन्तासे न्यारा होनेके कारण ईश्वरत्वरहित ईश्वर है। ऐसा जो अकाल, अदेश, अवस्तु, अजीव, ईश्वरेश्वर चैतन्य है वही आत्मा है, वही अपना आपा और वही अद्वितीय ब्रह्म है। यह ज्ञान करानेके लिए ही वेदान्त-की आवश्यकता है।

वेदान्त ऐसी अपूर्व बात बताता है जो समाधि लगानेसे, हाथ जोड़नेसे, लोकोंमें जानेसे नहीं आ सकती और इसका इलहाम भी नहीं हो सकता। इसीलिए ब्रह्मके सम्बन्धमें वेदान्त ही प्रमाण है। यदि ब्रह्मका ज्ञान किसी अन्य साधनसे सम्भव हो या होता तो वेदान्तको प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। वेदान्त प्रमाण है इसलिए कि वह अनधिगतार्थ बोधकत्व गुण-वाला है। अर्थात् वह ऐसी वस्तु (ब्रह्म)का ज्ञान कराता है जो प्रमाणान्तरसे अनधिगत है और प्रमाणान्तरसे अबाधित है।

ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म (भाष्य)

ब्रह्म ज्ञानरूप प्रमाणसे जानने योग्य है। 'ज्ञानेन प्रमाणेन = वेदान्त वाक्येन।'

यहाँ 'हि' निश्चयार्थमें है।

हम ब्रह्मको जानना चाहते हैं—'अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म'। परन्तु कैसे ? साधनसे ? नहीं, प्रमाणसे। जैसे हलवाके लिए साधन है सूजी, चीनी, घी इत्यादि; परन्तु हलवा बन जानेपर उसके स्वादके ज्ञानके लिए तो रसनेन्द्रिय ही चाहिए (हलवा बना तो साधनसे परन्तु हलवेका ज्ञान हुआ प्रमाण जीभसे); इसकी तुलनामें ब्रह्मके ज्ञानके लिए तो चाहिए वेदान्त-प्रमाण और जैसा कि आप जानते हैं ब्रह्म किसी साधनसे बनता नहीं। बनेगा तो वह ब्रह्म ही नहीं होगा। इसलिए ब्रह्म जो वर्तमान है उसको पहचाननेके लिए और मात्र पहचाननेके लिए ही केवल प्रमाण चाहिए और वह है वेदान्त (श्रुति)।

'इष्टम्=जिज्ञास्यम्'। यह जो जिज्ञास्य ब्रह्म है वह वेदान्त-वाक्यरूप प्रमाणसे ही जानने योग्य है। 'ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुम् इष्टं ब्रह्म'।

कई वस्तु ऐसी होती हैं जिनका ओर-छोर, आदि-अन्त इन्द्रियोंसे नहीं मिलता। और इन्द्रियोंमें मशीनें भी शामिल हैं; क्योंकि वे इन्द्रियोंकी शक्तिका ही विकास करती हैं। मशीनें स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं। यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओंके आधारके रूपमें फैला हुआ दीर्घविस्तारवान् एक देश नामका पदार्थ है। उसका ओर-छोर इन्द्रियोंसे नहीं मिलता; परन्तु उस 'देश'को कल्पना करके बुद्धिकी जो देशाकाराकारित वृत्तिके साथ तदाकारता है वही देशका साक्षात्कार है। अर्थात् देशका साक्षात् होता है देशकी कल्पनाके आकारसे आकारित बुद्धिके साक्षात्कारसे।

इसी प्रकार कालका आदि-अन्त नहीं मिलता। परन्तु कालका साक्षात्कार होता है कालकी कल्पना (क्रमकी कल्पना)के आकारसे आकारित बुद्धिके साक्षात्कारसे।

अब देखो ! बुद्धिकी कल्पनाको कौन देख रहा है ? मैं। बुद्धिके कल्प्यको कौन देख रहा है ? मैं। यह बुद्धिकी कल्पना किसमें है ? मुझमें। तब यह कल्प्य किसमें हैं ? मुझमें।

जो कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है वही कल्पनाका साक्षी है और वही कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य है। जो देशको देख रहा है वह देशसे अतीत है, वह देशका अधिष्ठान है, उसमें देश कल्पित है। जो कालको देख रहा है वह कालसे अतीत है, वह कालका अधिष्ठान है, उसमें काल कल्पित है।

रज्जुमें जो भासमान सर्प है वह रज्जुमें है या अन्तःकरणमें ? वह अन्तःकरणमें है। तो अन्तःकरणका जो साक्षी है वही सर्पका साक्षी है। कल्पनात्मक अन्तःकरण और कल्प्यात्मक सर्प—कल्पना कल्प्यका साक्षी अधिष्ठान अपना आत्मा है। ऐसे ही अनादि-अनन्तकालकी कल्पना और कल्प्य कालका साक्षी अपना आपा है। इसका अर्थ है कि कालातीत, कालसाक्षी, कालाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश अपना आत्मा है; उसमें काल कल्पित है। इसी प्रकार देशातीत, देशसाक्षी, देशाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश अपना आत्मा है; उसमें देश कल्पित है। द्रव्यातीत, द्रव्यसाक्षी, द्रव्याधिष्ठान, स्वयंप्रकाश अपना आत्मा है; उसमें द्रव्य और सर्व कल्पित हैं। तब तो देश, काल-द्रव्यका सवाल भी आत्मामें कल्पित है और इनके अभिमानी और नियंता भी आत्मामें कल्पित हैं। यही आत्मा ब्रह्म है।

द्रव्य, सर्व, जीव, प्रकृति और ईश्वर—ये सब साक्षीभास्य हैं। अर्थात् ये तत्तदाकाराकारित बुद्धि-वृत्तिके रूपमें ही जाने जाते हैं, निरपेक्षतया नहीं। इसलिए जो बुद्धिका साक्षी है उसीके वे भाष्य हैं। परन्तु जो साक्षी है वह इनसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। यह बात वेदान्तसे जाननी है।

वेदान्तमें भी सब वाक्य एक कोटिके प्रमाण नहीं हैं। कोई

भी परिच्छेद-बोधक प्रमाण या परिच्छिन्नता-बोधक प्रमाण ब्रह्ममें प्रमाण नहीं हो सकता। केवल महावाक्य ही ब्रह्मके अधिगममें प्रमाण हैं। यह प्रमाण-प्रमेयका विचार प्रमाणको सिद्ध करनेके लिए नहीं होता, प्रमाणके खण्डनके लिए ही विचार करते हैं।

एक महात्मा थे। वे स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक, इष्टलोक, समाधिकी खूब कथा करते थे। दूसरे महात्माने कहा—यह क्या गड़बड़ बोलते हो। वे बोले—'हम लोक-लोकान्तरकी कथा उनकी सिद्धिके लिए नहीं करते; अपितु निषेधके लिए करते हैं। 'नेति-नेति'में इतिका व्याख्यान भी तो जरूरी है।'

लोग तर्क करते हैं कि पहले प्रमाण या प्रमेय? पहले नेत्र या रूप? तो प्रमाण और प्रमेय दो हैं। एकसे दूसरेका लक्षण होता है—चक्षु क्या? रूप-ग्राहक इन्द्रियका नाम चक्षु है। और रूप क्या? चक्षुसे ग्राह्य गुणका नाम रूप है। इस प्रकार दो-को स्वतन्त्र सत्ता माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होगा।

ब्रह्म प्रमाणजन्य नहीं होता, वह तो प्रमाण-प्रमेय-प्रमाताकी त्रिपुटीका प्रकाशक है। परन्तु ब्रह्म सम्बन्धी अविद्या और तज्जन्य भ्रान्ति ज्ञानरूप प्रमाणसे नष्ट हो जाती है। 'ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म।'

यहाँतक यह बात हुई कि जिज्ञासा नाम है जाननेकी इच्छाका, किसको जाननेकी इच्छा? ब्रह्मको। ब्रह्मको कैसे जानेंगे? ज्ञान-रूप प्रमाण द्वारा। परन्तु ब्रह्मको जानें क्यों? इसपर कहते हैं—

ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।
(भाष्य)

यह जो ब्रह्मकी अवगति; ब्रह्मका साक्षात्कार है, यही पुरुषार्थ है। क्योंकि उससे निःशेष संसारके बीजभूत अविद्या आदि अनर्थोंकी निवृत्ति होती है।

ब्रह्मावगतिः—अर्थात् आत्माकी ब्रह्मरूपताका अनुभव। वेदान्तका पाण्डित्य ब्रह्मावगतिः नहीं होता।

काशीमें गोयन्दका संस्कृत-विद्यालयके प्रिंसिपल थे—श्रीचण्डी प्रसाद शुक्ल। वेदान्तके उद्‌भट विद्वान् थे वह। उन्होंने 'खण्डन खण्ड खाद्य'को हिन्दीमें अनूदित करनेका साहस किया है। मैं साहस ही कहता हूँ क्योंकि उस ग्रन्थमें प्रयुक्त संस्कृत शब्दोंके समान हिन्दीमें शब्द ही दुर्लभ हैं। वे एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास आये थे। वे कहते थे—'महाराज, हमलोग तो शास्त्रकी परम्पराकी रक्षाके लिए शास्त्रका अध्ययन-अध्यापन करते हैं। अनुभव हमारे पास कहाँ?

काशीमें ही एक पण्डितजी विश्वविद्यालयमें संस्कृत-विभागके अध्यक्ष थे। वे पूर्वाश्रमके सम्बन्धी भी होते हैं। उनका जमाई मर गया। मैं उनके पास गया। वे रोकर बोले—'स्वामीजी, मैं केवल वेदान्त पढ़ाता हूँ। मुझे आत्मानुभव नहीं है। मुझे आप शोकके उसपार पहुँचा दीजिए।'

जब दिग्गजोंकी यह हालत है तो अन्योंकी तो बात ही क्या! वेदान्त अपौरुषेय ज्ञान कराता है।

घड़ीका ज्ञान पौरुषेय ज्ञान है; यह पुरुषप्रयत्न-जन्य है। अन्तःकरणकी वृत्ति जब प्रमाण द्वारा प्रमेयाकार होती है तब प्रमेय (घड़ी)का ज्ञान होता है। परन्तु 'मैं हूँ' यह ज्ञान पुरुष-प्रयत्न-जन्य नहीं है। अर्थात् आत्माके अस्तिका ज्ञान अपौरुषेय है।

अब जो इस अपौरुषेय ज्ञानको लखा दे उस शब्दराशिको भी अपौरुषेय कहते हैं। इस अर्थमें वेद अपौरुषेय हैं। वेद ईश्वरसे उत्पन्न हैं या किसी सिद्धसे उत्पन्न हैं, इस अर्थमें वेद अपौरुषेय नहीं कहे जाते। अजन्य ज्ञानके साक्षात्कारमें हेतु होनेसे वेद अपौरुषेय हैं। इसमें न भ्रम है, न प्रमाद, न विप्रलिप्सा, न

करणापाटव। स्वरूपभूत ज्ञानमें अपनेको दूसरा माननेका भ्रम नहीं है; अपना कभी बाध नहीं हो सकता। इसलिए प्रमाद नहीं; आपा अद्वितीय है, इसलिए उसमें ठगाई कहाँ ? और स्वरूपज्ञान करणजन्य नहीं इसलिए उसमें करणापाटव नहीं। इसी ज्ञानको वेद बताता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। यह अविनाशी ज्ञान है, अविनाशी सत् नहीं है। यह ज्ञानस्वरूप अविनाशी है। सत्य तो जड़ भी होता है। यह ज्ञान सत् है और ज्ञान है और दोनों दो नहीं हैं; क्योंकि यह अनन्त है।

इसलिए 'ब्रह्मावगतिः'के माने हैं ब्रह्मकी अपौरुषेय ज्ञानके रूपमें साक्षात् अनुभूति। यह ब्रह्मावगति निश्चयरूपसे पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ है माने यह बड़े मतलबकी चीज है। इस ज्ञानसे सारा प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

जैसे दुःखसे त्राण पाना चाहते हैं वैसे असत्यसे, अज्ञानसे भी त्राण पानेको छटपटाना चाहिए।

असत्यमेव दुःखम् अज्ञानमेव दुःखम्।

असत्य ही दुःख है, अज्ञान ही दुःख है। यह जितना भी असत्याचरण है वह दुःखका ही पूर्वरूप है। इतना ही नहीं, यह नानात्व भी दुःख है; क्योंकि नानात्व असत्य है, अज्ञानजन्य है। इस असत्य, अज्ञानसे त्राण पाना पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ = पुरुषका अर्थ, पुरुषके मतलबकी चीज, पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिका साधन।

पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः।

जीव जिसको चाहे वह पुरुषार्थ है। जीव और मनुष्यमें भी अन्तर है। मनुष्य कभी रहता है कभी नहीं रहता; परन्तु जीव अनादि और नित्य प्रवाही है।

'अवगतं सवि आत्मनि सति'। जिसको जाननेके बाद अपनेसे जुदा न कर सकें वह पुरुषार्थ है। दुनियाके लोग तो पुरुषार्थ जानते ही नहीं। वे जिसे पुरुषार्थ कहते हैं वह पुरुषार्थ नहीं है।

वस्तु चाहिए और भोग चाहिए और उनको भोगनेकी शक्ति एवं स्वतन्त्रता चाहिए। परन्तु इष्ट और भोग मनुष्यको उच्छृङ्खल भी बना देते हैं। अतः उनके नियमनकी आवश्यकता होती है। यह नियामक धर्म है। परन्तु नियन्त्रित भोग जीवनका पुरुषार्थ नहीं है। इससे मुक्तिकी भी इच्छा होती है। अतः धर्म, भोग, अर्थ और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ सबके लिए हैं। इनमें शक्ति साधन है, पुरुषार्थ नहीं है। सिद्धि अथवा सफलता भी पुरुषार्थ नहीं है। जीवनके किसी क्रमको यदि पुरुषार्थ मान लेंगे तो आगे चलनेकी आवश्यकता ही कहाँ रहेगी!

देहकी कक्षामें द्रव्य (अर्थ) पुरुषार्थ है। मानस-कक्षामें भोग (काम) पुरुषार्थ है। बुद्धिकी कक्षामें धर्म पुरुषार्थ है और आत्माकी कक्षामें मोक्ष पुरुषार्थ है। मोक्षका सम्बन्ध तुरीयके साथ है। धर्म नियन्ता होनेसे ईश्वरकोटिका है। काम हिरण्यगर्भकी कोटिका और अर्थ विश्व-विराट्की कोटिका है।

हमारे कर्ममें (इन्द्रियोंमें) जो ईश्वरका अवतरण है उसका नाम धर्म है।

हमारे काममें (मनमें) जो ईश्वरका अवतरण है उसका नाम प्रेम है।

हमारी बुद्धिमें जो ईश्वरका अवतरण है उसका नाम योग है। ईश्वरका जो स्वयं अपना स्वरूप है, (कर्म, काम, बुद्धिसे रहित) वह ज्ञान है। वही अखण्ड सत्ता ब्रह्म है।

अतीन्द्रिय पदार्थ देश-कालादिका अनुभव कैसे होता है, इसको पहले बता चुके हैं। इसका अनुभव तदाकार बुद्धि-वृत्तिके रूपमें

होता है। छोटे-छोटे देश-काल-वस्तुके आकारोंके साथ तादात्म्य हुआ तो जीव हो गये। और सम्पूर्ण देश-काल-द्रव्यके साथ तादात्म्य हुआ तो ईश्वर हो गये। यदि तादात्म्यापन्न नहीं हुए तो द्रष्टा हो गये। वेदान्तसे जान लिया कि यह द्रष्टा ब्रह्म है।

एक दिन स्वामी प्रबुद्धानन्दजीसे बात चली। वे कहते हैं कि—मैं अविनाशी हूँ इसमें कालके साथ तादात्म्य है; मैं व्यापक हूँ, इसमें सर्वोपादानसे तादात्म्य है। इस प्रकार वृत्ति तो सभी अवस्थाओंमें रहेगी फिर वृत्तिका बाध कैसे होगा? इसका उत्तर है कि जो वृत्तिका प्रकाशक द्रष्टा आत्मा है वह जब अपनेको अद्वय ब्रह्माकार वृत्तिके साथ तादात्म्य करेगा, तब उस वृत्तिका विषय और आश्रय महावाक्य द्वारा एक हो जानेपर वृत्ति बाधित हो जायेगी। आत्मा और ब्रह्मकी एकता हुए बिना वृत्तिका बाध नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मात्मैक्य-बोधके द्वारा वृत्तिका बाध हो जानेपर साधन समाप्त हो जाता है। 'मैं अविनाशी हूँ' इसमें विषयकालका आश्रय मैं-के साथ एकता नहीं होनेसे वृत्ति बाधित नहीं होगी। इसी प्रकार देश और द्रव्यके सम्बन्धमें समझना चाहिए।

देश-काल-द्रव्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो ब्रह्मतत्त्व है उससे जब आत्माका अभेद होता है तब वृत्ति बाधित हो जाती है। तब देशमें गमनागमन नहीं होता, कालमें जन्म-मरण नहीं होता और द्रव्यमें योनि-परिवर्तन नहीं होता—इसलिए इस अनिर्वचनीय अनादि अविद्यामूलक प्रपञ्चके बखेड़ेसे छूटनेके लिए परम-पुरुषार्थ यही है कि ब्रह्मज्ञान हो।

ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।

जीवका सब झगड़ों—बखेड़ोंसे छूटनेका प्रयोजन है—मुक्ति या मोक्ष। और अविद्यानिवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका नाम ही मोक्ष है।

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वोपलक्षिता।

तो ब्रह्मात्मैक्य-बोधको ही परमपुरुषार्थ क्यों मानते हो ? क्योंकि इसीसे संसारके बीज और अनर्थोंकी जड़ अविद्याकी निःशेष निवृत्ति होती है, किसी अन्य साधनसे नहीं।

कालके साथ, देशके साथ, सबीज सत्ताके साथ तादात्म्य करनेपर भी अविद्याका निर्बीज निबर्हणन नहीं होता। परन्तु जो वृत्तिका आश्रय है वह और जो वृत्तिमें ये कल्पनाएँ आती हैं उनके अभावसे उपलक्षित अद्वय ब्रह्म, उनका जो एकत्वबोध है उसमें वृत्तिका ही बाध है। उसके बाद कोई ज्ञातव्य, प्राप्तव्य, भोक्तव्य शेष नहीं रहता। अतः ब्रह्मात्मैक्य-बोध ही परम पुरुषार्थ है।

निःशेष संसारका जो बीज है अविद्या और अविद्याका जो कार्य है वही सब अनर्थोंकी जड़ है। अविद्या रहते अपनी देश-कल्पनासे उत्पन्न गमनागमनरूप भ्रम, काल-कल्पनासे उत्पन्न जन्म-मरणरूप भ्रम और द्रव्य-कल्पनासे उत्पन्न योनि-परिवर्तनरूप भ्रम नहीं छूटेगा। इसलिए इन समस्त देश-काल-द्रव्यकी कल्पनाओंमें जो भी आकार, विकार, प्रकार, संस्कार और कल्पनाएँ हैं उन सबका अत्यन्त उच्छेद ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे ही होगा।

अविद्याकी निवृत्ति होनेपर इस ऐक्य-बोधकी भी आवश्यकता नहीं रहती। ब्रह्मात्मैक्य-बोध अविद्याका निवर्तक है। अद्वय ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध अपना स्वरूप है। इसलिए उसको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए।

तस्माद् ब्रह्मविजिज्ञासितव्यम् (भाष्य)

ब्रह्मकी विजिज्ञासा करनी चाहिए, वह विजिज्ञासा करने योग्य है। क्यों ? क्योंकि 'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजा-विद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।'

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष स्वयंमें पुरुषार्थ नहीं हैं, सुखका साधन होनेसे ये पुरुषार्थ हैं—अतः वास्तवमें तो सुख ही मात्र पुरुषार्थ हैं और वह पुरुषका अपना स्वरूप है। परन्तु अविद्यावश वह सुख आवृत है। ब्रह्मज्ञान उस अविद्यावरणको नष्ट कर देता है और स्वरूपभूत सुख जो कभी कहीं किसीसे बाधित नहीं होता प्रकट हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञान परम पुरुषार्थ है।

यह जीव ही जब बहिर्मुख हो जाता है तो बीज हो जाता है। जीवका उल्टा बीज है। वेदमें बकारान्त और वकारान्त दोनों प्रयोग हैं। असलमें जीवमें बहिर्मुखता ही बीज है। आत्मज्ञानकी ओर उन्मुख न होकर यह जो बहिर्विषय-ज्ञानकी ओर उन्मुखता है वही संसारका बीज है।

अपने आपको जाना नहीं और संसारभरको जाना। किसी महात्मासे एक सज्जनने पूछा—महाराज, ईश्वर कैसा ?

महात्मा—तुम कैसे हो ?
वे सज्जन—नहीं जानते।

महात्मा—पहले छोटेको, अपने आपको जानो। सबका ज्ञान अपना ज्ञान नहीं होता। अपनेको न जानकर जो कुछ भी जाना जायेगा वह सब अज्ञानपूर्वक होगा चाहे वह कर्म हो या उपासना या योग! अपनी औकात जानते नहीं, चले हो करोड़पतिकी लड़कीसे ब्याह करने! पहले अपने खज़ानेको टटोल लो। ऐसा तो नहीं कि तुम वास्तवमें लक्ष्मीपति ही हो और अर्थमें दूसरोंसे भीख माँग रहे हो—अपमान ले रहे हो!

जब आप अपनेको यथार्थमें जान जायेंगे तो आप पायेंगे कि स्वर्ग आपकी कल्पनामें है, उपासनाका फल आपके दिलमें है और समाधि तो भीतर नित्य लगी है। तुम्हारा एक शरीरके कर्म, उपासना और योगके साथ सम्बन्ध नहीं है और समष्टिके कर्म-

उपासना-योगके साथ भी तुम सम्बन्धित नहीं हो। केवल अज्ञानसे, अविद्यासे तुम अपनेको बद्ध, कंगाल, मरणधर्मा, संसरणशील और सुखी-दुःखी मानते हो। अपनेको ऐसा मानकर ही तुममें राग-द्वेष, अभिनिवेश घर कर गये हैं।

अब ब्रह्मज्ञानका प्रयोजन है कि तुम्हारी अविद्या-निवृत्तिपूर्वक रागद्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो। इसलिए ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करो, ब्रह्मकी जिज्ञासा करो।

तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

यह ब्रह्मज्ञान ही परमपुरुषार्थ है। 'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः।'

पुरुषार्थं माने जिसको पुरुष चाहना करे; और पुरुष माने होता है जीवमात्र, उसमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंका और स्त्रीपुरुषादि लिङ्ग-भेदका भेद नहीं है। तो क्या सब ब्रह्मज्ञान चाहते हैं ?

कोई वस्तु तुम्हें प्राप्त होगी तो ज्ञातरूपसे होगी या अज्ञात-रूपसे ? वस्तु मिल जाय और ज्ञात न हो—मालूम न पड़े, तो क्या वस्तु मिली कही जायेगी। किसीका ब्याह हो जाय और मालूम न पड़े, तो क्या उसका ब्याह हुआ ? रुपया बैंकमें आपके खातेमें जमा हो जाय और आपको मालूम न पड़े तो क्या रुपया मिला ? किसी भी चीजका मिलना दरअसल तब होता है जब वह मिली हुई मालूम पड़े। ज्ञानके बिना प्राप्ति कुछ नहीं होती। ज्ञानके बिना कोई स्वाद नहीं, ज्ञानके बिना कोई शब्द नहीं, कोई स्पर्श नहीं, कोई रूप नहीं, कोई गन्ध नहीं। गर्ज कि ज्ञानके बिना कोई कैसी भी प्राप्ति नहीं है। इष्ट-दर्शन भी ज्ञानके बिना कुछ नहीं होता। तुम्हारे सामने श्रीकृष्ण भगवान् मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर साक्षात् दर्शन दें परन्तु तुम्हें उसका ज्ञान न हो, तो क्या वह दर्शन होगा ?

नहीं। पाप-पुण्य भी ज्ञानके बिना नहीं होता। आपकी जेबमें-से पाँच रुपये गिर जाँय, तो क्या आपको उन पाँच रुपयेके दानका पुण्य होगा ? और अनजानमें आपका किसी अपवित्र वस्तुसे स्पर्श हो जाय तो क्या उसका पाप आपको लगेगा ? यहाँतक कि समाधि भी ज्ञात हुए बिना निस्तत्त्व है। इस प्रकार कोई भी पुरुषार्थ ज्ञानके बिना सिद्ध नहीं होता। तब ज्ञान (अवगति) ही पुरुषार्थ है।

अपने आपेका ज्ञान होना चाहिए, ठीक है। वह तो सबको है ही : हम हैं, यह मामूली ज्ञान है उससे काम नहीं चलता। वह पुरुषार्थ नहीं है। उनके साथ जो गैर-मामूली चीजें लग गयी हैं जैसे : हम देह हैं, हम पापी हैं, हम पुण्यात्मा हैं, हमारी अमुक जाति है, अमुक सम्प्रदाय, अमुक धर्म है, हमारी पूंछ है— ये सब बाहरकी चीजें जो हमारे साथ जुड़ गयी हैं, वे हमारे वास्तविक ज्ञान-स्वरूपको ढँके हुए हैं! इस अविद्याके ढक्कनको उतार फेंक देना अपने ज्ञानस्वरूपताको देश-काल वस्तुसे अपरि-च्छिन्न अद्वय ब्रह्म जानना, यह पुरुषार्थ है।

आप वास्तवमें अपनी ब्रह्मस्वरूपताको ही चाहते हैं परन्तु पहिचानते नहीं हैं। आप सोचते हैं कि जहाँ आप नहीं हैं वहाँ आपका नाम पहुँच जाये। आपकी कीर्ति बहुत दिन तक रहे। माने आप कालसे कटना पिटना पसंद नहीं करते। आप चाहते हैं कि बहुत लोग आपको जानें। माने आप सर्व होना चाहते हैं। अभिप्राय यह कि दर असल आप देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूपता चाहते हैं, आप अपनी स्वरूपताका अनुभव चाहते हैं, भले ही आप इसको साक्षात् न जानते हों। इसलिए 'ब्रह्मावगति' ही मनुष्यका पुरुषार्थ है।

आप चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख न हो। सुख भी आप ऐसा चाहते हैं जो हमेशा मिले, हर जगह मिले, हर एकसे मिले, बिना परिश्रम किये मिले और मालूम पड़ता हुआ मिले (सुषुप्तिके अज्ञात सुखकी तरह नहीं)। अर्थात् आप देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न आत्मनिष्ठ ज्ञात सुख मिले, यह चाहते हैं। दूसरे शब्दोंमें आप अपनी ब्रह्मरूपता चाहते हैं।

परन्तु आपने किया क्या ? जो चीज एक समयमें, एक देशमें और हरएकके लिए अलग-अलग सुख है और जो सुख वास्तवमें अन्यसे उत्पन्न होनेके कारण जड़ है उसको आप अपना सुख कह रहे हो ! मरनेवाली, जानेवाली, बदलनेवाली चीजको अपना मान बैठते हैं कि यह सुख हमारा है ! परन्तु भाई मेरे ! वह मरेगी तो दुःख देगी, बिछुड़ेगी तो दुःख देगी, प्रतिकूल होगी तो दुःख देगी। दूर जायेगी तो दुःख देगी, उसके मिलनेमें देर होगी तो दुःख देगी, पूरी न मिलेगी तो दुःख देगी, मनके अनुसार न चली तो दुःख देगी, मरेगी तो दुःख देगी। गर्ज कि परिच्छिन्न वस्तुकी प्राप्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकती।

'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः' का दूसरा मतलब भी है। पहिला मतलब था कि ज्ञान और वह भी आत्माकी ब्रह्मरूपताका, मनुष्यका पुरुषार्थ है। अब दूसरा मतलब यह कि ब्रह्मज्ञानके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ नहीं हैं।

यह ठीक है कि पशु धर्मानुष्ठान नहीं कर सकते, मनुष्य ही कर सकते हैं, परन्तु फिर तो मनुष्य जिन्दगीभर एकादशी ही करता रहे, अग्नि ही तापता रहे, अग्निमें होम ही करता रहे, दान ही करता रहे ! असलमें धर्म पुरुषार्थ है ही नहीं, धर्मजन्य सुख पुरुषार्थ है। हमेशा सुख ही पुरुषार्थ होता है। सुखके साधन-को लाक्षणिक ढंगसे पुरुषार्थ कहा जाता है। धर्मसे जो सुख

होता है वह मुख्य पुरुषार्थ है। उस सुखका साधन धर्म गौण पुरुषार्थ है।

इसी प्रकार हम अर्थ अर्थात् रुपया नहीं चाहते, बल्कि अर्थ-जन्य सुख चाहते हैं। यह मकान, यह वैभव, यह बंगला, कार, सब अर्थसे ही प्राप्त होते हैं। परन्तु ये वस्तुएँ सब सुखके लिए हैं। अतः यहाँ भी अर्थ नहीं, अर्थजन्य सुख पुरुषार्थ है।

कलकत्तेमें हम टकसाल देखने गये। वहाँ देखा : रुपयेके पैसे माँगो तो तौलकर पैसे देते हैं। वहाँके कर्मचारियोंके चारों ओर पैसों-रुपयोंका ढेर रहता है परन्तु वे कितने असंतुष्ट रहते है क्योंकि उस धन-राशिपर उनका आधिपत्य नहीं है। इसलिए सुख अर्थमें नहीं है। हाँ, उसके आधिपत्य और उससे प्राप्त सुविधाओं में ऐन्द्रियक तथा अभिमानजन्य सुख होता है।

असलमें जो आत्मनिष्ठ सुख है वह सुख पुरुषार्थ है। पति-पत्नी मारपीट करके भी भोग करते हैं और भोग करके भी मार-पीट करते हैं। इसलिए भोग स्वयं सुख नहीं है। क्योंकि भोग करते हुए भी सुख नहीं है। अतः भोग नहीं, भोगजन्य सुख पुरुषार्थ है।

अब रहा मोक्ष। जिसको धर्म, अर्थ, काम—इन तीनोंसे संतोष नहीं हुआ, जो तीनोंके बन्धनसे छूटना चाहता है, वह छूटना मोक्ष पुरुषार्थ है। परन्तु वास्तवमें तो उस छूटनेसे जो सुख होगा वह पुरुषार्थ है।

अब देखो, यदि धर्म, अर्थ और काममें दुःख न होता तो इनसे छूटनेकी इच्छा ही क्यों होती? काममें आग जलती है हृदयमें, अर्थके अभिमानमें दुनियाके लोग तुच्छ मालूम पड़ते हैं और धर्मा-भिमानमें दूसरे लोग पापी दिखायी पड़ते हैं! फिर मनुष्य क्यों न इनसे छुटकारा चाहे।

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं, इनसे उत्पन्न सुख पुरुषार्थ है सुख सदैव आत्मनिष्ठ और ज्ञानाभिन्न होता है। वह स्वरूप-सुख वास्तवमें ब्रह्मसुख है, अतएव यह ज्ञान ही परम-पुरुषार्थ है। यह 'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः' का तात्पर्य हे।

अब प्रश्न यह है कि यदि सुख आत्मनिष्ठ ही है तो सुख मिलता क्यों नहीं, दुःख ही क्यों मिलता है? इसका उत्तर यह है कि हमने अपने आपको इतना छोटा कर लिया है कि प्रत्येक कदमपर अभाव अनुभव करते हैं—हमारे पास यह नहीं है, हमारे पास वह नहीं है! सिनेमा देखकर यह अभाव-वृत्ति ही ता साथ लाते हो। सिनेमा देखकर अभाव, वासना और दुःखसृष्टिका बीज, बस यही साथ आता है। जब आप अपनेको ब्रह्म अनुभव करेंगे तब आप दुःखसे मुक्त हो जायेंगे।

आपको मरनेका दुःख है क्योंकि आप अपनेको देह मानते हो। आपको वासनाका दुःख है क्योंकि आप अपनेको मन मानते हैं। आपको भूख-प्यासका दुःख है क्योंकि आप अपनेको प्राण मानते हो। अपनेको परिच्छिन्न माननेसे ही मनुष्य दुःखकी लपेटमें आता है। आपका मैं कहां है? सपनेमें अपनेको किसीका दोस्त, किसीका दुश्मन मानते हो और सुखी-दुःखी होते हो लेकिन वहाँ न दोस्त होता है, न दुश्मन। ऐसी यह मनोवृत्ति है। अभिमान ही दुःख देता है।

दुःख माने क्या? अपनेको देह माननेके कारण मरनेके डरका दुःख होता है। किसीसे मुहब्बत करनेके बाद उसके मिलनेका दुःख दुःख है। दुश्मनीके बाद जलनका नाम दुःख है अपने अभि-मानपर चोट लगनेके कारण मान-अपमान होनेसे दुःख है। आप दुनियाकी असलियतको ठीक-ठीक समझते नहीं हैं; इस नासमझी-का नाम दुःख है। परिच्छन्नता दुःख है, राग-द्वेष दुःख हैं।

यदि आप अपने आपको ठीक-ठीक जान जायेंगे तो सबका फल मिल जायेगा। धर्मका फल है अपने आपको जानना। अर्थका फल है अपने आपको जानना। कामका फल है अपने आपको जानना। क्योंकि धर्मजन्य सुख, अर्थजन्य सुख, भोगजन्य सुख आत्मसुख है। कर्ममें सुख नहीं, कर्म-फलकी प्राप्तिरूप निष्कर्मतामें सुख है। भोगमें सुख नहीं, वासनाकी शान्तिमें सुख है। बन्धनमें सुख नहीं, मुक्तिमें सुख है।

तो पुरुषार्थ क्या है? ब्रह्मावगति अर्थात् अपनी ब्रह्मताका ठीक-ठीक ज्ञान।

पलटू हम मरते नहीं साधो करो विचार।

ब्रह्म माने जो जन्म-मृत्युरूप कालके चक्रमें नहीं फँसता; जो बाहर-भीतर-रूप देशके चक्रमें नहीं फँसता; जो मनुष्य पशु, पक्षी, स्त्री-पुरुषादि शरीरोंके चक्करमें नहीं फँसता। ऐसे ब्रह्मको जो सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओंके कार्य और कारण दोनों रूपोंका अधिष्ठान है और जो अपने आत्मासे जुदा नहीं है, जाननेसे क्या होगा? तो इसपर कहते हैं कि निःशेष संसारके बीज अविद्या और उनसे उत्पन्न सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति हो जायेगी।

निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।

दुनियाके जितने दुःख हैं उनका बीज है अविद्या—नासमझी; अपने आत्माके ब्रह्मरूपकी अविद्या। जेसे आमके पेड़के पत्ते, फूल, फल, तने, शाखाएँ सब उसके बीजमें-से ही निकलते हैं उसी प्रकार संसारके सारे दुःखोंका बीज है अविद्या। जब कभी आप दुःखी हो रहे होते हैं तब कहीं-न-कहीं नासमझी आपके जीवनमें रही होती है।

नासमझी और उल्टी समझमें अन्तर है। वस्तुको न जानना नासमझी है; इसीको अविद्या कहते हैं, और वस्तुको ठीक-ठीक न

जाननेके कारण उसे दूसरी वस्तु समझ लेना उल्टी समझ है। उल्टी समझको भ्रान्ति भी कहते हैं। रस्सीको न जानना अविद्या है और उसे सर्प समझना भ्रान्ति है। यह प्रसंग पहिले आ चुका है।

यदि आप अपने दुःखोंकी छाँट करो कि आपके जीवनमें वास्तविक दुःख कितने हैं और मानसिक कितने हैं तो आप देखेंगे कि ९९ प्रतिशत दुःख मानसिक निकलेंगे। दुःख आपके मनकी कमजोरी है। इस समय नहीं है दुःख, इस जगह नहीं है दुःख, इस शरीरमें नहीं है दुःख, परन्तु हम दुःखी होते हैं! बेटेकी बीमारीका दुःख ऐसा ही है। आपके शरीरमें भी दुःख नहीं होता, मनमें ही होता है। वरना इन्जेक्शनसे, दवासे, दर्दका अनुभव बन्द क्यों हो जाता है? नींदकी दवा मनको ही अनमना कर देती है। मनको ही सुला देती है। सुला देनेसे जो दुःख छूट जाता है वह मनका दुःख है।

असलमें सुख-दुःखका विवेक न करनेके कारण ही, असली-नकली दुःखोंकी पहिचान न कर पानेके कारण ही आप दुःखी रहते हैं। अरे बापरे! अगले साल क्या खायेंगे? पूंजी घटती जा रही है! घट रही है तो कल बढ़ भी सकती है। और न भी बढ़े तो क्या दुनियामें पूंजीके बिना लोग नहीं रहते? क्या पूंजी-विहीनोंके पास शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा नहीं हैं? मगर दुनियामें अविद्याका बोलबाला है। गांवके कुएंमें ही भांग पड़ गयी है।

तो नारायण! तुम ब्रह्म हो! ब्रह्मावगति माने सर्वात्मबोध।

श्रीविद्यारण्य स्वामीसे किसीने कहा—स्वामीजी, ब्रह्मलोक चलोगे?

स्वामीजी—अरे बावरे! ब्रह्मलोकमें मैं ही ब्रह्म होकर सृष्टि कर रहा हूँ।

वह—अच्छा स्वामीजी ! आपको विजयनगरका बादशाह बना दें ?

स्वामीजी—अरे ! मैं ही तो बादशाह बना बेठा हूँ ।

वह—स्वामीजी ! जब सब ब्रह्म है तो क्या आप रक्त पी सकते हैं ?

स्वामीजी—हाँ, इसीके लिए मैंने मच्छरका शरीर धारण किया है ।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मावगति अथवा सर्वात्मबोध, यही जीवका परम पुरुषार्थ है ।

'मैं ही दिशा बनकर सबको अवकाश देता हूँ । मैं ही काल बनकर सबको बदलता हूँ । मैं ही द्रव्य होकर सर्वरूप होता हूँ । मैं ही सबके अभावमें रहता हूँ । मैं सबसे न्यारा हूँ और मुझसे भिन्न, मेरे सिवाय, कोई दूसरी वस्तु नहीं है ।' यह ब्रह्मावगति है ।

ज्ञानकी यह चरम अनुभूति है और इसके अभावमें सारे दुःखों-का बीज है । इसलिए ऐसे ज्ञानकी जिज्ञासा करनी चाहिए—

तस्मात् ब्रह्मविजिज्ञासितव्यम् ।

यह मत समझना कि जिन्दगी भर—बचपनसे बुढ़ापे तक—ब्रह्मज्ञानके लिए भटकना पड़ेगा ! ऐसा मत समझना कि ज्ञानके पश्चात् आप बाबाजी हो जायेंगे । भगवान् रामको विश्वामित्रने, वसिष्ठने ज्ञान दिया और उसके बाद रामने विवाह भी किया । अर्जुनको भगवान् कृष्णने एक घण्टेमें ब्रह्मज्ञान दिया और उसके बाद उसने महाभारतका युद्ध किया । इसलिए आप डरना नहीं । ब्रह्मज्ञानको कठिन मत समझना । ब्रह्मकी जिज्ञासा करो । तुम्हें अवश्य परम शान्ति मिलेगी, परमानन्द होगा । आपके सारे दुःख मिट जायेंगे ।

●

(८.४.)

ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–४

ब्रह्मके जिज्ञास्य स्वरूपपर आक्षेप तथा उसका समाधान

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् ?

यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथ अप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। (भाष्य)

इससे पूर्व भगवान् भाष्यकारने कहा—'तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।' अर्थात् 'इसलिए ब्रह्मका विजिज्ञासा करनी चाहिए।' वादी तुरन्त प्रश्न करता है कि क्या ब्रह्म विजिज्ञास्य है भी जो उसकी जिज्ञासा की जाय ? इसी बातको लक्ष्य करके वह कहती है—'तत्पुर्नब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा ?' अर्थात् पहले यह बताओ कि तुम्हारा ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध ?

इस प्रश्नका मन्तव्य प्रकट करते हैं कि—यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जिस वस्तुको सब जानते ही हैं उसकी जिज्ञासा करनेसे लाभ क्या ? और यदि कहो कि ब्रह्म अप्रसिद्ध है अर्थात् उसे कोई जानता ही नहीं तो उसकी जिज्ञासा की ही नहीं जा सकती; क्योंकि अत्यन्त अप्रसिद्ध वस्तु जिज्ञासाका विषय नहीं हो सकती।

प्रश्नकी इस शैलीको जरा समझो। बोलनेका भी एक ढंग होता है। भाषाकी भी अपनी एक प्रकृति होती है। उसको समझे बिना ठीक अर्थ समझनेमें नहीं आता।

सीधा प्रश्न है कि ब्रह्म किसी दूसरे प्रमाणसे सिद्ध होता है या नहीं ? माने नाकसे, कानसे, आँखसे, ब्रह्मको देख सकते हैं या नहीं ? यदि ब्रह्म आँखसे देखा जाय तो उसकी जिज्ञासा करनेकी क्या जरूरत है ? और यदि ब्रह्म किसी भी इन्द्रियसे बिल्कुल ही देखा न जाता हो तो उसकी जिज्ञासा क्या करेंगे ?

मतलब यह कि प्रश्न है—ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिए कौन सा प्रमाण है ?—आँख, कान, जीभ, त्वचा या नाक ? या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संस्कारित मन ? या ज्ञानेन्द्रियोंके ही द्वारा अन्वय-व्यतिरेक करके विचार करनेवाली बुद्धि ? या सारी वृत्तियोंको ठप्प करके समाधिस्थ चित्त ? आखिर ब्रह्मका साक्षात्कार किस प्रमाणसे होता है ?

असलमें साधक साधन-सङ्कर हो गया है, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य वर्णसङ्कर होता है। किसीने कहा—'चुप बैठ जाओ तो ब्रह्म-साक्षात्कार हो जायेगा।' किसीने कहा—'अमुकका ध्यान करो, अमुकका नाम जपो, अमुक जगह ध्यान करो, कानमें रूई ठूंसो, त्रिपुटीमें ध्यान लगाओ'। ब्रह्मज्ञान क्या हुआ, कोई तमाशा हो गया। बाबा ! ब्रह्मकी अवगति अपने एक ढंगसे होती है।

पहली बात यह कि जो चीज देखी जायेगी वह ब्रह्म ही नहीं होगी, क्योंकि देखनेवाला तो उससे न्यारा ही रह गया। जबतक देखनेवाला अपने आत्माके रूपमें ही ब्रह्मको नहीं देखेगा, तब वह ब्रह्म ही नहीं होगा।

एक बच्चेने कहा—आज हम स्वामीजीके पास गये थे। उन्होंने हमें ब्रह्मज्ञान करा दिया। पूछा—ब्रह्मज्ञान हुआ बेटा ? तो बोला—'उन्होंने मुझसे पालथी मरवायी, पीठ सीधी करके बैठाया, आँखें बन्द करवायीं पूछा कि क्या दीखता है ? मैंने कहा—'कुछ नहीं

दीखता। इसपर उन्होंने बताया कि 'यह कुछ नहीं दीखना ही ब्रह्म है।'

सचमुच बहुत सारे जिज्ञासु भी उस बच्चेसे ज्यादा बुद्धिमान् नहीं होते। आप लोग बुरा मत मानना। माफ करना भाई! पहिलेसे ही माफी माँग लेते हैं।

ब्रह्म उस ज्ञानको कहते हैं जिसमें देश-काल-वस्तु, इनका प्रकाशक छोटा चेतन्य (जीव-चैतन्य), इनका नियामक बड़ा चेतन्य (ईश्वर-चैतन्य), इनका बीज और इनका अङ्कुर यह कोई भेद न हो। भेद ज्ञानका विषय होता है; भेदमात्र ही भास्य होता है—यह नियम है। ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। इसलिए ऐसी ब्रह्मवस्तुका ज्ञान न मनसे हो सकता है, न इन्द्रियोंसे, न बुद्धिसे हो सकता है, न समाधिसे या शान्त होकर चुप बैठनेसे, किसी भी साधनसे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता (सिवाय वेदान्त-विचारके) और यदि हो सकता हो तो वेदान्तका विचार व्यर्थ है। वेदान्तियों-की यह प्रतिज्ञा है कि आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान वेदान्तके सिवाय किसी अन्य साधनसे सम्भव नहीं है और यदि सम्भव हो जाय तो हम अभी वेदान्तको नष्ट करनेके लिए तैयार हैं।

अच्छा, अब प्रश्नको दूसरे ढंगसे रखते हैं।

यदि वेदान्तों (श्रुतियों)में ब्रह्मका स्पष्ट वर्णन है तो वेदान्तको बाँच जानेसे ब्रह्मज्ञान हो जायेगा या नहीं ? यदि हाँ, तो जिज्ञासा करनेकी क्या जरूरत है ? दो पैसेका 'तत्त्वबोध' और दो आनेका 'आत्मबोध' खरीद लो बाजारसे और बाँच जाओ। ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। और यदि नहीं तो जिज्ञासा ही नहीं हो सकती। जिज्ञासा (इच्छा)का यह नियम है कि वह जानी हुई चीजके बारेमें होती है। ज्ञातके सम्बन्धमें ही इच्छा होती है, अज्ञातके सम्बन्धमें नहीं।

तो प्रश्न यह है कि ज्ञानको (ब्रह्मको) जानकर ज्ञानको चाहते हो या ज्ञानको बिना जाने ज्ञानको चाहते हो ? इस प्रकार प्रश्नमें दोनों ओरसे गलेमें फाँसी है ।

केवल वेदान्तसे ही ब्रह्मज्ञान कैसे सम्भव है ? अन्य साधनोंसे जैसे धर्मानुष्ठान, उपासना, योग या विवेकसे क्यों नहीं ? यद्यपि इसका विवेचन पहिले भी कर चुके हैं तथापि उपयोगी होनेके नाते संक्षेपमें फिर विचार दोहराते हैं ।

'मैं देह हूँ'—यह भ्रम है। परन्तु यह भ्रम सीधा नहीं होता, इसके बच्चे-कच्चे होते हैं। जैसे 'मैं मनुष्य हूँ, मैं संन्यासी हूँ' इत्यादि। ये सब देहाभिमानके बच्चे हैं। 'मैं देह हूँ' या इससे आगे बढ़े तो 'मैं नर हूँ।' जो अपनेको केवल मनुष्य मानते हैं वे पुनर्जन्म नहीं मानते और जो मनुष्यके अतिरिक्त अपनेको जीव भी मानते हैं वे लोक-परलोकका सम्बन्ध एवं पुनर्जन्मको भी मानते हैं। कोई अपनेको द्रष्टा मानते हैं जो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिके पीछे बैठा देखा करता है, परन्तु जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अपने अधिष्ठानमें कल्पित हैं, ये मिथ्या हैं, यह उनको ज्ञात नहीं है तथा दूसरा द्रष्टा नहीं है, यह भी उन्हें ज्ञात नहीं है। साथ ही अवस्थाओंका कोई नियन्ता नहीं है; यह ज्ञान भी उनको नहीं है।

तो 'मैं देह हूँ' या 'मैं जीव हूँ'—यह वृत्ति जो हमारे अन्तःकरणमें बैठी हुई है, उसका निवारण कैसे हो ? यदि इसका निवारण नहीं होगा तो मुक्ति तो हो नहीं सकती। निवारण करनेवाली चीज चाहिए।

यदि कहो कि 'यह ब्रह्म है' या वह ब्रह्म है' तो भी इससे 'मैं जीव हूँ' इस वृत्तिका निवारण तो होगा नहीं। यदि कहो कि 'मैं जीव नहीं हूँ' इस अभ्याससे मुक्ति हो जायेगी तो इससे भी 'मैं जीव नहीं हूँ, इस वृत्तिवाला मैं हूँ', इस जीवत्वकी निवृत्ति कैसे

होगी ? आप ध्यानपूर्वक अपने आपका आत्मनिरीक्षण करो। आप एकान्तमें बैठ सकते हो, वृत्तियोंको इदमाकार या तदाकार कर सकते हो, भगवदाकार भी कर सकते हो या बिलकुल निरुद्ध कर सकते हो, परन्तु इससे आपकी जीवत्वकी निवृत्ति नहीं हो सकती। सुषुप्तिमें जब कोई वृत्ति नहीं रहती तो क्या आप अपनेको ब्रह्म जान जाते हैं या आपके जीवत्वका निवारण हो जाता है ?

चोट यह है कि मैं देह हूँ या मैं जीव हूँ या मैं दूसरोंसे अलग द्रष्टा हूँ, ये सब परिच्छिन्नताएँ हैं आपकी। यह जो परिच्छिन्नाभिमान है उसका निवारण क्या सुषुप्तिसे, समाधिसे हो जायेगा ? आपको सबसे न्यारा जाननेसे हो जायेगा ? जबतक अपनेको अद्वितीय ब्रह्म नहीं जानेंगे, जिसमें जीव, जगत् और ईश्वर तथा इन तीनोंका भेद बाधित है, तबतक आपके जीवत्वकी निवृत्ति नहीं होगी। जिस अधिष्ठानके ज्ञानसे यह जीव-जगत्-ईश्वरका भेद बाधित नहीं होता, उस अधिष्ठानके ज्ञानसे तुम्हारे जीवत्वकी निवृत्ति नहीं हो सकती। 'मैं जीव हूँ' इस भ्रमको निवृत्त करनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान है।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानकी एक पहिचान बता दें! यदि आपको किसी वृत्तिकी आवश्यकता पड़ती है—हमारी ब्रह्माकार-वृत्ति बनी रहे, आत्माकार-वृत्ति बनी रहे, शान्ति बनी रहे—तो वह वृत्ति तो अन्तःकरणकी है, उसके साथ तुम्हारा तादात्म्य बना हुआ है। तब आपको ब्रह्मज्ञान अभी नहीं हुआ।

बोले—अच्छा 'हम द्रष्टा हैं' हमें वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है। अब तो हमें ब्रह्मज्ञान हो गया ? नहीं। आपकी दृष्टिमें वृत्ति सत्य है या मिथ्या ? बोले—वृत्ति द्रष्टामें टिकती नहीं। तो वृत्ति तो न तुम्हारे साथ टिकेगी, न किसी औरके साथ। यह नहीं कि वृत्तिका ब्याह किसी औरके साथ कर दो तो टिक जाय। ऐसी शोख

लड़की है यह कि दूसरेके साथ ब्याह दो तो छोड़कर बापके घर भाग आये और पिता यदि अपने पास रखना चाहे तो दूसरेके साथ भाग जाती है।

जबतक तुम्हें अपने अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होगा, यह वृत्ति बाधित नहीं होगी। 'मैं अविनाशी हूँ' सोचते रहो; कालमें फँसे रहोगे। 'मैं परिपूर्ण हूँ' सोचते रहो; देशमें फँसे रहोगे। जब तुम इन वृत्तियोंको छोड़ दोगे तो तुम खण्ड हो जाओगे, विनाशी हो जाओगे। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह जो बोध है, इसमें एकबार ब्रह्माकार-वृत्ति अपेक्षित है। इसमें वृत्तिके आश्रयने वृत्तिके विषय ब्रह्मको आत्मरूपसे जाना अर्थात् वृत्तिको ब्रह्माकारितासे उपलक्षित विषय ब्रह्म तथा उसके अभावसे उपलक्षित आश्रय आत्मा दोनोंका ऐक्य जानना अपेक्षित है। फिर आपके पास वृत्ति रहे या न रहे! जबतक तुम किसी स्थितिमें टिकना चाहते हो तबतक तुम अपनेको परिच्छिन्न जानते हो, जीव जानते हो। तुम्हारे जीवत्वका भ्रम अभी मिटा नहीं है।

इसलिए कोई धर्म, कोई उपासना, कोई समाधि, सुषुप्ति या व्रत, कोई एकान्तवास तुम्हारे इस भ्रमको मिटानेमें समर्थ नहीं है कि 'मैं जीव हूँ।' केवल तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य प्रज्ञामें ही वह सामर्थ्य है।

गुरुने कहा—ऐ शिष्य, वह तू है—'तत्त्वमसि।' तुम्हारे अन्तःकरणके भावाभावसे उपलक्षित साक्षी जो प्रत्यक् चैतन्य प्रज्ञान है वह तुम ब्रह्म हो—'प्रज्ञानं ब्रह्म।'

शिष्यने सोचा—ऐं! क्या यह अहमर्थ आत्मा ब्रह्म है—'अयमात्मा ब्रह्म?'

और सोचनेके बाद निर्णय हुआ—हाँ! यह आत्मा ही ब्रह्म है। हाँ, हाँ, मैं ही ब्रह्म हूँ—'अहं ब्रह्मास्मि।'

महावाक्योंकी एक संगति बतायी आपको। वैसे चारों महा-वाक्योंका एक ही लक्ष्यार्थ है—

मैं सबसे न्यारा हूँ, सबका द्रष्टा हूँ, यह भी एक प्रकारकी परि-च्छिन्नता ही है।

'यह ब्रह्म है' इससे मैंकी परिच्छिन्नता नहीं कटेगी। जिसके विषयमें ज्ञान होगा उसकी परिच्छिन्नता कटेगी। इसी प्रकार 'वह ब्रह्म है' इससे भी परिच्छिन्नता नहीं कटेगी। यदि वह परि-च्छिन्नता नहीं है तो इस ज्ञानसे हमारा क्या बना-बिगड़ा? 'मैं अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानसे भ्रम निवृत्त होता है—यह वेदान्तका डिण्डिम घोष है।

तुमको ईश्वर मिल सकता है, तुमको समाधि लग सकती है, तुम सृष्टिके कर्ता, धर्ता, संहर्ता बन सकते हो परन्तु यह अद्वितीय आत्म-बोध वेदान्तके बिना नहीं हो सकता। पहले सबका त्याग करके अपने स्वरूपमें आ जाओ, फिर वेदान्त कहेगा कि तुम्हारा काम न्यारे रहना है, सुषुप्ति, समाधिमें बैठनेका नहीं है। तुम तो अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म हो। अस्तु।

वादीका प्रश्न यह था कि 'तत्पुनर्ब्रह्मप्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्? वह ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध? अप्रसिद्ध अर्थात् नितान्त अज्ञातके प्रति जिज्ञासा हो नहीं सकती और प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञातके प्रति जिज्ञासा निरर्थक है; ज्ञानमें निवर्तकत्व भी नहीं होता। इसलिए ब्रह्मकी जिज्ञासा नहीं हो सकती।

श्रुति और सूत्रमें (ब्रह्मसूत्रमें) ब्रह्मशब्दका प्रयोग किस अर्थमें है? 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इस श्रुतिमें अनन्तके साथ ब्रह्मशब्दका प्रयोग है। अतः ब्रह्मशब्दका अर्थ मूलतः 'निरतिशय बड़ा' अर्थमें है। व्याकरणके अनुसार 'वहि वृद्धौ' धातु पाठ है। वृद्धि धातुसे निरतिशय महान् अर्थमें ब्रह्मशब्द निष्पन्न हुआ है।

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेति गीयते (भामती)

वृद्धिका कारण होनेसे और बृहत् होनेसे आत्मा ही ब्रह्म कहा जाता है।

पाणिनिने भी अपने व्याकरणका प्रारम्भ किया तो वृद्धिसे ही।

बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् (भाष्य)

बृहिधातुके अर्थके अनुगम होनेसे ब्रह्मशब्दका अर्थ नित्यत्व-शुद्धत्व आदि प्रतीत होते हैं।

कितना बृहद् है ब्रह्म ? बोले—निरतिशय, निरवधिक बृहत्।

यह जो मोरका पंख है इसका नाम है बर्ह (जो 'बर्हापीडं नटरवपुः' श्लोकमें है), उसमें भी बर्हका अर्थ ब्रह्म ही है।

ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा (तैत्ति० उप० २.५)

'ब्रह्म पूँछ एवं प्रतिष्ठा है।'

इस प्रकार ब्रह्म माने देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न (सत्-वाच्य), अविद्यादि दोषोंसे अपरिच्छिन्न तथा सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणोंसे सम्पन्न (चित्-वाच्य), दुःख-सुखादि द्वन्द्वोंसे अतीत (आनन्द-वाच्य) और अद्वितीय चेतनतत्त्व।

ब्रह्म महान् इसलिए है कि वह गुणाश्रय, निर्दोष, अमृत एवं अजन्मा है।

ऐसा ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध ? इसपर कहते हैं—

उच्यते—**अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्; ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते; बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।** (भाष्य)

'बृहि' धातुके अर्थके अनुगम होनेसे ब्रह्मशब्दके नित्यता, शुद्धता, आदि अर्थ प्रतीत होते हैं। कौन-कौनसे ? इसपर कहते हैं कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान।

नित्य = जन्ममरणादि दोषोंसे रहित। जिसका कभी ध्वंस न हो और जिसका प्रागभाव न हो। जो हमेशा रहे।

शुद्ध = राग-द्वेषादि मलिनतासे रहित।

बुद्ध = जड़ता और अविद्यासे रहित।

मुक्तस्वभावं = बन्धनसे रहित। जिस कालमें बन्धनकी प्रतीति होती है उस कालमें भी जो मुक्त रहता हो—

बन्धकालेऽपि स्वतो बन्धाभावः मुक्तत्वम् (रत्नप्रभा)

एक बचपनकी बात है। हमारा गांव छोटा-सा है और निहायत गँवारू गांव है। उसके नो मीलसे कमपर रेल नहीं है। मोटरका नाम नहीं था। बेलगाड़ी या पालकीपर बड़े घरके लोग चलते थे और छोटे घरके लोग पेदल चलते थे। गांवमें जब छोटे (गरीब) लोगोंकी लड़की घरसे बिदा होती थी तो हमको देख-देखकर बड़ा मजा आता था। आगे-आगे पति चलता और पीछे-पीछे लड़की पेदल चलती और रोती जाती। मेरे मनमें यह तर्क उठता था कि यह लड़की पांवसे चल रही है और मुंहसे रो रही है (उधर लोग बोल-बोलकर रोते हैं)। आंखसे आंसू गिर रहे हैं। यदि इसे जानेमें दुःख है तो यह जाती क्यों है? बेठ जाय, और जब जाती है तो रोती क्यों है? हमको लगता था कि वह जाने न जानेमें स्वतन्त्र है इसलिए तर्क उठता था कि जाना और रोना दोनों एक साथ केसे सम्भव है?

संसारमें जीवकी स्थिति भी उसी लड़कीके समान है। भोगते भी जाते हैं और रोते भी जाते हैं। क्यों रो रहे हो भाई? क्या पांच रुपये आज नहीं आये इसलिए रो रहे हैं! अरे जब आये ही नहीं तो अब रोते क्यों हो? अपने मनकी कमजोरीके सिवाय कुछ नहीं है। जब हम किसी चीजके लिए रोते हैं तो हम अपनी इस सामर्थ्यको भूल जाते हैं कि हम इसके बिना भी रह सकते

हैं। जब हम किसीकी मुहब्बतमें फँस जाते हैं और सोचते हैं कि उसके बिना नहीं रह सकते; अथवा जब हम यह मान लेते हैं कि यह रुपया हमारा, यह मकान हमारा, यह सम्बन्धी हमारा, उस समय भी हम अपने अस्तित्वको भूल जाते हैं कि उसके बिना भी हमारी सत्ता है। यह जो संसारमें हम बन्धनका अनुभव करते हैं वह सोलह आना (सौ प्रतिशत) मानसिक कमजोरी है।

अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्।

मृत्युसे हम मरते नहीं हैं; राग-द्वेषादिसे अशुद्ध होते नहीं हैं, सुषुप्ति, मूर्च्छा, प्रलयकालमें भी हमारा बोध समाप्त होता नहीं है और बन्धनकालमें भी हम बद्ध होते नहीं है—यह हमारी आत्माका स्वभाव है। जब हम अपने इसी आत्माको नहीं जानते हैं, तब इसी चेतनको कर्ताके रूपमें जानते हैं। सृष्टिको किसने बनाया? किसी चेतनने बनाया। वह चेतन सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान है।

अविद्याविषयीकृतम् आत्मचैतन्यमेव सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम् प्रतीयते।

'सर्वज्ञं सर्वशक्तिमन्वितम्'—ये अविद्या सम्बन्धी शब्द हैं। अविद्याका जो आश्रयभूत चैतन्य है, वही जब अविद्याके द्वारा विषयीकृत होता है अर्थात् जब हम उसको यथावत् नहीं जानते हैं तब हम सोचते हैं कि एक ऐसा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान चैतन्य है जो इस सृष्टिको बनाता है।

जिसके अन्दर शक्ति और ज्ञान है वही सृष्टिका निर्माण कर सकता है और जिसमें नहीं है वह नहीं कर सकता—

यो हि जानाति शक्नोति च स करोति नेतरः।

इसीलिए 'सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्'का अर्थ भामतीकारने किया कि—

शक्तिज्ञानभावाभावानुविधानात् कारणत्वभावाभावयोः

(भामती)

शक्ति और ज्ञान इन दोनोंका जहाँ भाव है वह कारण है और जहाँ इनका अभाव है वहाँ कारणताका भी अभाव है।

जब हम ब्रह्म शब्दके अर्थपर विचार करते हैं तो वृद्धि धातुके अर्थका अनुगम होनेसे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म नित्य, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है, सर्वज्ञ है और सर्वशक्ति-समन्वित है। 'प्रतीयन्ते' पद देकर आचार्यने विचारका मार्ग प्रशस्त किया है। यदि कह देते ब्रह्म ऐसा है (नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि) तो उसमें विचार करनेका कोई अवकाश ही न रहता। और यदि कह देते ब्रह्म ऐसा नहीं है तब भी विचार नहीं कर सकते थे। प्रतीयन्ते कहकर आचार्यश्रीने बताया कि ब्रह्म शब्दसे ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति है। मालूम पड़ती हुई चीज सच्ची भी हो सकती है और झूठी भी। अतः विचार करना चाहिए कि यह सच है या झूठ। कैसे विचार करें ? तो वेदान्तकी आवश्यकता पड़ गयी।

ऐसा ब्रह्म जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, वह प्रसिद्ध है कि अप्रसिद्ध ? तो कहते हैं कि वह आत्मरूपसे प्रसिद्ध है—

सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।

सर्वकी आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व प्रसिद्ध है। 'सर्वस्य'का अन्वय 'आत्मा'के साथ न करके यदि 'प्रसिद्धिः'के साथ किया जाय तो इस वाक्यका अर्थ होगा कि "ब्रह्मके आत्मा होनेसे सर्वकी इससे प्रसिद्धि है।" यह दूसरा अर्थ ही अनुभवारूढ़ होता है।

अभी एक सवाल उठा था—ईश्वरके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर देनेसे पहले यह निर्णय करना आवश्यक है कि तुम

ईश्वर किसको कहते हो ? यदि तुम्हारा ईश्वर बैकुण्ठवाला ईश्वर है, कारण ईश्वर है, व्यापक ईश्वर है, ऐसा ईश्वर है जिसमें सृष्टि नहीं है, दाढ़ी-मूँछवाला ईश्वर है तो जहाँ तुमने सुना है वही उसके बारेमें प्रमाण है। महात्मा लोग कहते हैं कि इस शरीरमें जो आत्माकी सिद्धि है कि 'मैं हूँ' उसको तुम जानते हो कि नहीं ? यदि इसको जानते हो तो ईश्वरका भी अस्तित्व सिद्ध हो जायेगा। ईश्वरकी सत्तामें सर्वापेक्षा अधिक अकाट्य प्रमाण है आत्माका अस्तित्व। यदि देहमें आत्माका अस्तित्व सिद्ध होवे तो ईश्वरका भी अस्तित्व सिद्ध हो; यदि न होवे तो ईश्वरका भी न हो।

सब शास्त्रार्थ व्यर्थ हैं। किताबोंके श्लोकोंको लेकर आपसमें लड़ना कि ईश्वर गोरा है कि काला[1], ईश्वर औरत है या मर्द[2], ईश्वरका मुँह हाथी जैसा या सूरज जैसा[3], निराकार या साकार[4], ऐसा ही है जैसे दो अन्धे आपसमें लड़ें कि फूलका रंग लाल है कि पीला। अपने बारेमें सोचो कि तुम कौन हो, क्या हो, कैसे हो ? यदि देहगत चैतन्यका ज्ञान हो जाय तो समष्टिगत चैतन्य (ईश्वर) का भी ज्ञान हो जायेगा। ईश्वरका अकाट्य प्रमाण तुम हो।

जब इस आत्माका ज्ञान होता है तब खुद ही जीव सिद्ध नहीं होता, जीव और ईश्वर दोनोंका परमेश्वर सिद्ध होता है। तब ईश्वरके बारेमें प्रमाण नहीं पूछना पड़ता।

आत्माका अस्तित्व प्रत्यक्षसिद्ध है। इसमें न वेदकी जरूरत है, न श्रुतिकी या पुराणकी, न गुरुकी जरूरत है न आचार्यको। 'मैं हूँ' यह सबको मालूम पड़ता है और 'मैं नहीं हूँ' यह किसीको मालूम नहीं पड़ता। इसमें वेदान्त भी क्या करेगा ? वेदान्त यदि यह कहे कि तुम नहीं हो तो क्या तुम मान लोगे ? भारतमें बौद्ध-

१. शैव, वैष्णव, २. शाक्त, शैव, ३. गाणपत्य, सौर, ४. आर्यसमाजी, सनातनी।

थर्व इसीलिए नहीं बना कि यह शिक्षा देता था कि तुम नहीं हो। 'शून्यं शून्यम्'। 'मैं नहीं हूँ' यह प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है और 'मैं हूँ' यह प्रत्यक्षसिद्ध है। शान्तिमें, विक्षेपमें, समाधिमें, मूर्च्छामें, जाग्रतमें, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें मैं हूँ। न होऊँ तो अवस्थान्तरका पता कैसे चले? आबाल-वृद्ध-वनिता, कीटपतंग, पशु-पक्षी, देव-दानव सबको अपनी आत्माका अस्तित्व बिना किसी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारके ही सिद्ध है।

सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। (भाष्य)

'आत्माके अस्तित्वका अनुभव सबको होता है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसीको नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो सब लोग 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव करते। (यह) आत्मा ही ब्रह्म है (अतएव ब्रह्म प्रसिद्ध है)।'

यह जो स्वयं-सिद्ध आत्मा है उसके अस्तित्वकी बात तो प्रत्यक्ष है परन्तु 'यह आत्मा ही ब्रह्म है,' यह बात प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। इसी अंशमें अज्ञात है। अहमस्मि (मैं हूँ) इस अंशमें अज्ञान नहीं है। अस्मि, अस्मि (मैं-मैं) स्फुरित होता हुआ भी 'मैं सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान सबको नहीं है।

अब वेदान्तका प्रामाण्य किस अंशमें है? आत्माके अस्तित्वके अंशमें जैन-धर्म प्रमाण है। चार्वाक भी प्रमाण है क्योंकि वे देहको ही आत्मा कहते हैं। बौद्ध-धर्म भी प्रमाण है क्योंकि वे विज्ञानकी बदलती धाराको ही आत्मा कहते हैं। आस्तिक दर्शनोंमें पूर्व-मीमांसा आत्माको जड़ चेतनात्मक, विभु, नाना और कर्त्ता-भोक्ता बताता है; न्याय-वैशेषिक उसे ज्ञानादि चतुर्दश गुणवान, कर्त्ता,

भोक्ता, जड़, विभु और नाना स्वीकार करता है; सांख्य आत्माको असंग, चेतन, विभु, नाना और भोक्ता प्रमाणित करता है और योग उसे सांख्यकी अपेक्षा कर्ता एक अधिक मानता है। परन्तु यद्यपि ये सब दर्शन आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं तथापि इनमें-से कोई भी आत्माको नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव, सर्वज्ञ और सर्व ब्रह्म नहीं बताता। अकेला वेदान्त ही आत्माको ब्रह्म बताता है। 'आत्मा च ब्रह्म।'

वेदान्तका प्रामाण्य आत्माको ब्रह्म बतानेमें है। उसके अस्तित्वको प्रमाणित करनेमें नहीं है। वह तो प्रत्यक्ष ही है। यदि आप किसी महात्माके पास जाकर यह सीख आये कि 'मैं हूँ' यही ब्रह्मज्ञान है तो आप कुछ सीखकर नहीं आये।

तुम हो सो ठीक! परन्तु तुम हो क्या? बोले मैं देह हूँ। वेदान्त कहता है तुम देह नहीं हो। तो कहा—मैं जीव हूँ, आने-जानेवाला हूँ, पापी-पुण्यात्मा हूँ। वेदान्तने कहा—गलत, तुम पापी-पुण्यात्मा आने जानेवाले जीव नहीं हो। बोले—मैं कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, परिच्छिन्न जीव हूँ। वेदान्तने कहा—गलत; तुम वह भी नहीं हो। तुम तो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, अपरिच्छिन्न, सच्चिदानन्द, अद्वय ब्रह्म हो—

धर्म, उपासना, योग सभी कहते हैं कि 'मैं हूँ' परन्तु इसमें जो यह अलगावकी ख्याति है वह भ्रम है। वेदान्त इस भ्रमको नष्ट करता है। एक है अस् अर्थात् सत् इसमें चैतन्य अस्मि-अस्मिका अनुभव कर रहा है, सूक्ष्मरूपमें। परन्तु कोटि-कोटि अन्तःकरणोंमें जो सत्की अस्मिरूप फुरना हो रही है—अस्मि, अस्मि, अस्मि वह शुक्तिकामें रजतवत् है। बिना विचारके अस्मिकी अनेकताका भ्रम उच्छेद नहीं हो सकता।

आत्मसत्ता है शुक्तिकावत् और इदंवत्के समान अहं और अस्मिका स्फुरण है रजतवत्। मूल जो धातु है वह है ब्रह्म; वह है शुक्तिकावत्। और एक ही धातुमें पृथक्-पृथक् अन्तःकरण और उन अन्तःकरणोंमें 'मैं हूँ, मैं हूँ' यह फुर रहा है, रजतवत्। उस अखण्ड ब्रह्मके अज्ञानसे तुम उसी स्फुरणको अपना स्वरूप मान रहे हो। जिस स्वयंप्रकाश अधिष्ठानमें जिस दिक्-कालसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मतत्त्वमें यह अस्मि, अस्मिका स्फुरण हो रहा है, वह एक है। उस एकत्वका बोध करानेके लिए ही वेदान्तकी प्रवृत्ति है।

'मैं ब्रह्म हूँ' इसका अज्ञान है और इस अज्ञानको मिटानेके लिए ही वेदान्तकी जरूरत है। अन्वय-व्यतिरेकका नाम वेदान्त नहीं है—अनुवृत्ति-व्यावृत्तिका नाम वेदान्त नहीं है। पञ्चकोषके निरूपण, अवस्थात्रयके निरूपण, पंचीकरणका निरूपण वेदान्त नहीं है। अपने प्रत्यक् चैतन्यकी ब्रह्मरूपताका निरूपण ही वेदान्तकी अपूर्वता है।

आत्माके ब्रह्मत्वमें इसलिए-किसलिए नहीं होता—'हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।' अपनी ब्रह्मता किसी हेतु या दृष्टान्तसे सिद्ध नहीं होती है; यह केवल वेदान्तैकबोध्य है।

प्रक्रियाओं; युक्तियों, शान्ति या समाधिका नाम वेदान्त-ज्ञान नहीं है। आत्माका ब्रह्मत्व-बोधन कराना—यह वेदान्तकी अपूर्वता है। योग, सांख्य, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा आदि किसीसे यह बोधन नहीं होता और न चार्वाक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई आदि किसी धर्मसे इसका बोधन होता है। इसलिए वेदान्त जिसके लिए है और जो वेदान्तके अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाणसे प्रमाणित नहीं होता वही (ब्रह्मात्मैक्य-बोध) वेदान्त है। वेदान्तके नामपर कूड़ा-कचड़ा मत भरो।

आत्मा है, यह सब जानते हैं। यह आत्मा देश, काल, वस्तुका

साक्षी है। साक्षी माने गवाह। लोक-व्यवहारमें गवाह दो प्रकारके होते हैं—कूटसाक्षी (अर्थात् झूठा गवाह) और वस्तुसाक्षी (अर्थात् सच्चा गवाह)। वस्तुसाक्षी भी दो प्रकारका होता है—प्रत्यक्ष साक्षी (चश्मदीद गवाह जिसने वारदाताको मौकेपर अपनी आँखोंसे देखा है) और दूसरा अप्रत्यक्ष साक्षी (जिसने स्वयं नहीं देखा परन्तु दूसरोंके देखे गये अनुभवके आधारपर वारदातको जाननेकी गवाही देता है)।

अब यह आत्मा जो साक्षी है वह कौन-सा साक्षी है। आत्मा वस्तुतः इनमें-से कोई-सा भी साक्षी नहीं है। असलमें लोक-व्यवहारमें जो साक्षी है वह तो साक्षी ही नहीं है। चश्मदीद गवाहने देखा, परन्तु किससे? आँखसे। अर्थात् वास्तवमें साक्षी नहीं देखा, बीचमें आँखका पर्दा था। आत्मा चैतन्य है; वह आँखके द्वारा भी देखता है, आँखको भी देखता है और आँखके अभावको भी देखता है।

यह जो शब्द, स्पर्शमयी सृष्टि दिखायी पड़ती है वह साक्षीको इन्द्रियोंके द्वारा दिखायी पड़ती है। शत्रु-मित्र, पति-पत्नी हृदयकी उपाधिसे दिखायी पड़ते हैं। स्वर्गादि, इन्द्रादि देवता भावनासहकृत अन्तःकरणसे दिखायी पड़ते हैं। जगत्कारण प्रकृति, ईश्वर युक्ति-सहकृत बुद्धिसे दिखायी पड़ते हैं—साक्षीसे ये कोई दिखायी नहीं पड़ते। बुद्धिके अभावको साक्षी देखता है।

अब, एक बुद्धिके अभावको साक्षी देखता है या सब बुद्धियोंके अभावको साक्षी देखता है? यदि एक बुद्धिके अभावको साक्षी देखता तो 'सब बुद्धियाँ हैं' इस अनेकताकी बुद्धिको कैसे देखता। अतः सर्व बुद्धियोंके अभावका साक्षी जो है वही एक बुद्धिके अभावका साक्षी है।

यह साक्षी बिगड़ता कैसे है? इन्द्रियोंके भोगकी लालसामें यह भोक्ता हो जाता है। कल-कारखाने खोलने लगता है तो यह कर्ता हो जाता है। तब कर्ता भोक्तासे एक होकर सुख जिधर मिलता है उधर ढुलक जाता है। इसीसे विरक्त अन्तःकरणमें ही शान्तिका अनुभव होकर साक्षीका विचार होता है। साक्षी जहाँ दयालु या कठोर होगा वहाँ साक्षी बिगड़ जाता है।

यही साक्षी जो सचमुच ब्रह्म है परन्तु ब्रह्मत्वेन जो ज्ञात नहीं है, वेदान्तका आत्मा है और वेदान्त इसीको ब्रह्म बताता है। 'आत्मा च ब्रह्म।'

नित्य, अनित्य जो कालके भेद हैं, उनका साक्षी होनेसे यह कालपरिच्छिन्न नहीं है। बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दांये-बांये, देश-बुद्धिका साक्षी होनेसे यह देश-परिच्छिन्न नहीं है। कारण-कार्यका साक्षी होनेसे यह द्रव्य-परिच्छिन्न नहीं है। इस देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न साक्षीमें (प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें) यह सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च मिथ्या भासमान है।

अब कहते हैं कि—ठीक है, ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है। परन्तु यदि प्रसिद्ध ही है तब पुनः ब्रह्ममें अजिज्ञास्यत्व प्राप्त हुआ। क्योंकि ज्ञात ब्रह्मकी जिज्ञासा नहीं हो सकती।

यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्य-जिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न; तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः (भाष्य)

उत्तर देते हैं कि ऐसी शंका ठीक नहीं है। ब्रह्म आत्मरूपसे सबको सामान्यतः ज्ञात है। सब यही अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ'। परन्तु इस मैंके विशेष ज्ञानमें विप्रपिपत्ति अर्थात् विवाद है। सामान्यरूपसे ज्ञात परन्तु विशेषरूपसे अज्ञात ब्रह्मकी जिज्ञासा सम्भव हो है। इसलिए आओ ब्रह्मकी जिज्ञासा करें।

जैसे घड़ा है परन्तु कोई कहता है घड़ा सोनेका है और कोई कहता है ताँबेका है, अर्थात् जैसे घड़ेके अस्तित्वके प्रति कोई विवाद नहीं है परन्तु उसकी धातुके प्रति विवाद है; उसी प्रकार 'आत्मा है', यह निर्विवाद है परन्तु यह देह है कि इन्द्रिय है, कि मन है, कि जड़ है, कि चेतन है, कि अणु है कि विभु है, कि परिच्छन्न है या अपरिच्छिन्न है—यह विवाद है। विवादमें विवादास्पद वस्तुका अस्तित्व असंदिग्ध होना चाहिए।

कहो आत्मा तो है। बस शान्त होकर बैठो। विचार क्यों करें? निर्विचार ही सबसे बड़ा विचार है। सावधान जिज्ञासुओ! निर्विचार क्या है, तुम्हें मालूम है क्या? विचार करोगे तभी निर्विचारका स्वरूप भी मालूम पड़ेगा। कुसंगसे बचो! जिस सत्संग, कथा, चर्चासे तुम्हारी ब्रह्मात्मैक्य-जिज्ञासा मन्द पड़ती हो, विचार छूटता हो, ज्ञान हुए बिना ही ज्ञानकी इच्छा मरती हो, वह सत्संग नहीं कुसंग है।

विचार करो—यह जो सबके हृदयमें मैं-मैं-मैं फुर रहा है जिस इदंतामें रजत भास रहा है, जिस सत्में अस्मि-अस्मि भास रहा है, जिस सत्तामें अस्ति-अस्ति भास रहा है, वह अखण्ड सत्ता कौन सी है? इस मैंकी, इस आत्माकी, धातु क्या है? असलमें आत्मामें आत्मा (चैतन्य) के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सम्पूर्ण देश-काल-वस्तु आत्मामें आत्मासे आत्माको दीखते हैं और आत्मामें आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं। तब आत्मा ही सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुके रूपमें भासमान है और इस भासके अतिरिक्त भी स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी ब्रह्मत्वकी महिमामें ज्यों-की-त्यों स्थित है। ●

(८. ५.)

ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार—५

आत्माके विशेष स्वरूपके प्रति विवाद

(नास्तिकमत)

तद्विशेषं प्रतिविप्रतिपत्तेः देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। (भाष्य)

ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है। 'मैं हूँ' यह सबको अनुभव होता है; 'मैं नहीं हूँ' यह किसीको अनुभव नहीं होता। परन्तु यह मैं

है क्या, इसकी धातु क्या है, इसमें विवाद है। अतः ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा या विचार उचित है। 'मैं'के विशेषरूपके प्रति विप्रतिपत्ति अर्थात् विवाद है।

तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः।

वह विवाद क्या है, उसके कुछ नमूने देते हैं।

मूल प्रश्न यह है कि 'मैं हूँ' यह जो सार्वजनीय अनुभूति है वह चीज क्या है? दूसरे शब्दोंमें अहमस्मि किस अधिष्ठानमें फुरता है? अथवा 'मैं हूँ' इस स्फुरणका आलम्बन क्या है?

वह क्या चीज है जिसको सब मैं-मैं बोलते हैं। मनुष्य भी बोले 'मैं हूँ'। आम भी बोले 'मैं हूँ'। अंगूर भी बोले 'मैं हूँ'। दाड़िम भी बोले 'मैं हूँ'। सब अपना होना बता रहे हैं, अंगूर दाड़िम नहीं है, दाड़िम आम नहीं है। तो यह देखना पड़ेगा कि मिट्टीसे तो सब ही बने—आम भी, अंगूर भी और दाड़िम भी—और मरनेपर सभी मिट्टी (भस्म) बन जाते हैं। फिर सब पञ्चभूत ही तो रहे। परन्तु इनमें अन्तर भी है। नाम अलग है, रूप अलग है, आकार अलग है, स्वाद अलग है, गुण अलग है, सबके तने, पत्ते फूल अलग हैं। यह बात ध्यान देनेकी है कि सब तत्त्वतः पञ्चभूत होनेपर भी सबका अलगाव कैसे होता है। तभी जीवकी स्थिति भी ठीक-ठीक समझ सकोगे।

अंगूर और दाड़िम तत्त्वतः एक होनेपर भी एक अनादि परम्परासे बीजकी एक धारा प्रवाहित होती चली आयी है। उससे उसी पञ्चभूतमें एक ग्रन्थि बन गयी है। जो पञ्चभूतरूप उपादानमें बीजरूप एक गाँठ बन गयी है। वह किसकी है? पञ्चभूतमें ही एक विशेषता जुड़ गयी है। यह विशेष कबसे? यह गाँठ कबसे? तो कहा कोई इसका पता नहीं लगा सकता। अनादि कालसे—प्रवाहरूप। कैसे? जरा इस बातको समझो। पहला आमका पेड़ कब पैदा

हुआ ? पहला दाड़िमका पेड़ कब हुआ ? बता सकते हो ? एक-एक बीजमें आप अनन्त-सा देखो।

एक दृष्टान्त आपने सुना होगा। एक सेठकी लड़की विदा हो-रही थी। सेठने पूछा—विदाईमें क्या लेगी ? लड़कीने कहा—१६ सुपारी हर बार १६-१६ गुना करके ३२ बार देदो। सेठने कहा—इसमें क्या रखा है ? मगर जब दिया तो पूरा करना मुश्किल हो गया।

एक आमके बीजसे एक आमका पेड़। अब एक आमका पेड़ समझो २००० फल प्रतिवर्ष देगा और २५ सालतक देगा। इस प्रकार एक बीजसे ५०,००० बीज तैयार हुए। इसी प्रकार उनमें-से अब एक-एकको परम्परा चली। कुछ वर्षोंमें एकका अनन्त विस्तार हो गया। एक बीजमें अनन्त बीजोंकी सम्भावना भरी हुई है। इस मूल बीजको हिरण्यगर्भ बोलते हैं।

जो-जो जीव ग्रन्थियाँ हैं, पशुग्रन्थि, पक्षीग्रन्थि, उद्भिज्जग्रन्थि, ऊष्मज ग्रन्थि, जरायुजग्रन्थि इन सबकी अलग-अलग अनादि बीज-परम्परा है।

आप अपना आदि-अन्त पा सकते हैं ? तनिक दस पीढ़ी अपने पिताकी ओर दस पीढ़ी अपनी माताकी बीज-परम्पराका अवलोकन करो। दिमाग चक्कर खा जायेगा ! मनुष्यकी एक वीर्यबिन्दुसे कितने जीव उत्पन्न हुए या होंगे, कोई हिसाब नहीं।

तत्तत् संस्कारविशिष्ट पाञ्चभौतिक ग्रन्थिका नाम बीज होता है। ऐसे ही तत्तद् संस्कारविशिष्ट चेतनका नाम जीव होता है। चैतन्यकी प्रधानतासे जीव होता है और जड़त्वकी प्रधानतासे बीज होता है। वैसे जीवमें भी जड़त्व होता है और बीजमें भी चैतन्य होता है। अब पञ्चभूत लगा हुआ है जीवके साथ तो बीज

तो हो ही गया और बीजमें भी कीड़े पड़ जाते हैं तो चेतन्यका विकास भी होता ही है।

लोग बिना विचारे रास्तेमें कहते चलते हैं—पुनर्जन्म नहीं है, परलोक नहीं है। कभी विचार ही नहीं किया उन्होंने कि यदि एक ही मिट्टी-में-से आम और अंगूर और अनारके विविध गुण धर्मवाले पौधे हो सकते हैं तो वे केवल मिट्टीके बिकार कैसे होंगे ? उनमें बीज होना जरूरी है।

बीज शब्दमें जो 'ब' अक्षर है वह ओष्ठ्य है और जीवमें जो 'व' अक्षर है वह अन्तःस्थ है। तो अन्तःस्थ वस्तुका बोधक है जीव और बहिष्ठ वस्तुका बोधक है बीज। शब्द बनानेका प्रणाली तो देखो।

बीज = ब + ई + ज : जीव = ज + ई + व

इनमें अक्षरोंकी अनुलोम-प्रतिलोम व्यवस्था है।

आप यदि समझते हों कि एक ही चेतन्य जो अनेक स्वभाव-वाला अनेक शरीरोंमें दीख रहा है वह केवल शुद्ध चेतन ही अनेक रूपरूपाय दीख रहा है, सो नहीं है। स्वभाव बीजगत है और जीवत्व चेतन्यगत है। आपके देहकी आकृति, प्रकृति, संस्कृति, स्वभाव, गुण, विद्या, बुद्धि, अन्तःकरण, प्रज्ञा कर्मसंस्कार सब बीजगत हैं।

परलोक, पुनर्जन्म, ईश्वर, वेदके बारेमें निर्णय वोटसे नहीं होता। बच्चोंके सामने व्याख्यान देकर ताली पिटवायी और कह दिया—परलोक नहीं है, पुनर्जन्म नहीं है। लेबोरेटरीमें परीक्षण करके इनका निर्णय नहीं किया जाता। विज्ञान दूसरी चीज है और दर्शन दूसरी चीज है। जब हम विज्ञानके द्वारा दर्शनको समझनेकी कोशिश करते हैं तो ऐसा ही है कि जीभसे चखकरके

इत्रको पहिचान करना चाहते हों। इत्रकी पहिचानका कारण नाक है, जीभ नहीं।

करि फुलेलको आचमन मीठा कहत सराहि।
ए गंधी मति अंध तू इत्र दिखावत काहि॥

अतीन्द्रिय विषय दर्शनशास्त्रका विषय होता है और इन्द्रियक विषय विज्ञानका विषय होता है। अतएव आओ! ब्रह्म-जिज्ञासा करें। 'जीवस्य किं स्वरूपं इति जिज्ञासा कर्त्तव्याः'। जीवका क्या स्वरूप है इसकी जिज्ञासा करना कर्त्तव्य है।

बीज अग्निदाह्य है क्योंकि उसमें जड़की प्रधानता है परन्तु जीव अग्निदाह्य नहीं है क्योंकि उसमें चेतनकी प्रधानता है। तब जीव कैसे जलेगा? तो कहा कि ज्ञानाग्निसे। जैसे जड़ बीजको जलानेके लिए जड़ अग्नि चाहिए और जलनेके बाद जैसे बीजमें संस्कारविशिष्टता नहीं रहती जिससे उसकी परम्परा वहीं नष्ट हो जाती है; उसीप्रकार चेतन जीवको जलानेके लिए ज्ञानाग्नि (चेतन-अग्नि) चाहिए और और ज्ञानाग्निसे जलनेके बाद जीवत्व-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है और रह जाता है शुद्ध चैतन्य; फिर उसमें पुनर्जन्मकी परम्पराका अन्त हो जाता है।

वह ज्ञानाग्नि कैसे उत्पन्न होगी? विचारसे। अविचारसे यदि कुछ-का-कुछ मान बैठोगे तो महान् हानि होगी। तुम्हें मोक्ष नहीं मिलेगा। अतः विचार करो। शंकर भगवान्‌का यह वाक्य स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है—

तत्राविचार्यं यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्॥ (भाष्य)

अस्तु; आओ आत्माके रूपपर विचार करें।

आत्माके विशेषरूपके प्रति मतभेद है। वर्तमान कालमें अपना अस्तित्व सबको स्वीकार है। अब मतभेद यह है कि आत्मा

पहले था या नहीं, आगे रहेगा या नहीं, केवल देह है या देहसे अन्य है, देहके बराबर है या देहके किसी कोनेमें है या देहमें रहता हुआ भरपूर है, इत्यादि।

मतभेद वस्तुके स्वरूपाज्ञानके कारण होता है और ज्ञानकी प्रणाली यह है कि उस वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमें जितने मत हैं उन सबका अपवाद किया जाय। तब मतोंके अध्यारोपोंसे विनिर्मुक्त वस्तु-तत्त्वका ज्ञान होगा—

अनारोपिताकारं तत्त्वम्।

आत्माके विशेष स्वरूपके प्रति विप्रतिपत्ति क्यों है? आत्माके स्वरूपाज्ञानके कारण। अतः अब आत्माके ज्ञानके लिए अलग-अलग अध्यारोपोंका वर्णनमात्र करते हैं—

(१) देहमात्रं चैतन्यविशिष्टम् आत्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः।

'चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृतजन और लोकायतिक (चार्वाक) मानते हैं।'

भगवान् शंकरने सबसे पहले चार्वाक-मतका उल्लेख किया। क्यों? क्योंकि बहुमत उन्हींके पक्षमें रहता है। 'लोकायत'का अर्थ भी यही है—'लोके आयतम्।' लोकमें जो खूब फैला, जिसको बहुमतने माना। 'प्राकृता जना' कहकर आचार्यने उन सभी विचारोंको इसमें शामिल कर लिया है जो प्रत्यक्षके आधारपर ही केवल अन्वय-व्यतिरेकका सहारा लेकर विचार करते हैं। इसमें चार्वाक, भौतिकवादी और साधारण अबोध लोग जो केवल ऐन्द्रियक सुखकी प्रेरणासे ही जीवनमें प्रवृत्त होते हैं और जिन्हें यथार्थ अथवा अन्तिम सत्यसे कोई मतलब नहीं।

शास्त्रज्ञानशून्याः प्राकृताः वेद बाह्यमतान्युक्त्वा तार्किकादिमतमाह। (रत्नप्रभा)

प्राकृता—अर्थात् शास्त्रज्ञानसे शून्य असंस्कृत बुद्धिवाले। वेदसे बाहरके मतोंसे युक्त बुद्धिवाले तार्किक आदि सब इसमें शामिल हैं।

प्राकृता जना=शास्त्रासंस्कृतधेया दृष्टमात्रः विकल्पतः प्रवृत्तयः जना जननमरणधर्माणाम्।

=शास्त्रमें असंस्कृत जिनकी बुद्धि है, देखेको ही जो सच मानते हैं, प्रकृतिमें विकल्प लिये जो प्रवृत्त होते हैं, जन्मने—मरनेवाले जो लोग हैं वे प्राकृता जना हैं।

चार्वाकको चार्वाक क्यों कहते हैं इसकी एक पौराणिक कथा है।

इन्द्रको जब स्वर्गका राज्य मिला तो वह सिंहासनपर बैठ गया और बोला—इन्द्रोऽहं, इन्द्रोऽहं अर्थात् मैं इन्द्र हूँ, मैं ऐश्वर्य-शाली हूँ। इसी बीचमें आये गुरुजी। इन्द्रने ऐश्वर्यके मदमें गुरुजीका आदर नहीं किया। वह सिंहासनसे नहीं उठा। और उसने आँखें फिरायीं जैसे उसने गुरुजीको देखा ही नहीं।

यों वृहस्पतिजीने ही इन्द्रको याग कराया था, जिसके करनेसे ही इन्द्रको असुरोंपर विजय और राज्य मिला था। वृहस्पतिजी इन्द्रके मन्त्री भी थे और गुरु भी। परन्तु ऐश्वर्यका मद तो देखो—

इन्द्रने सत्पथका उल्लंघन कर दिया। वृहस्पति दो मिनट तो खड़े रहे। फिर अपमानित अनुभव करते हुए घर चले आये। हृदयमें बदलेकी आग जलने लगी। वृहस्पति जीव हैं न; वे ईश्वर तो हैं नहीं। आखिर उन्होंने चार्वाकके रूपमें जीवावतार ग्रहण किया। (चार्वाकका एक नाम जीव भी है)। बोले—ले बेटा इन्द्र! अब धर्म (यज्ञ-यगादिक) ही समाप्त किये देते हैं। तुम

अब भूखे मरना। उन्होंने 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र'की रचना की। बताया कि धन ही सब कुछ है; गुरुको नमस्कार मत करो; वेदको मत मानो; यज्ञयाग मत करो। मरने लगे इन्द्र और अन्य देवता! यह पौराणिक कथा है।

अब इसकी दार्शनिक कथा सुनो।

चार्वाकका कहना है कि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, देह ही आत्मा है; लोकभोग्य सुख ही पुरुषार्थ है और मृत्यु ही मोक्ष है। लो इस दर्शनमें आत्महत्याके लिए भी जगह निकल आयी! इसका प्रचलित श्लोक है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

जबतक जीये सुखसे जीये। ऋण लेकर भी घृत पीये। देह (आत्मा) अन्तमें भस्मीभूत हो जाता है उसका पुनर्जन्म कहाँ?

चार्वाक चारुवाक् है अर्थात् मीठा बोलनेवाला है। बोलते हैं—भैय्या, यह तुम्हारा देह ही आत्मा है। हम तुम्हें सर्टीफिकेट (प्रमाण-पत्र) दिये देते हैं (भले ही वह झूठा हो।) कि न तुम कहींसे आये हो और न देहपातके पश्चात् तुम्हें कहीं जाना है। देह जबतक है तभीतक सारा खेल है। कौन किसके पूर्व जन्मको जानता है? इसलिए कोई किसीके उत्तर जन्मको भी नहीं जानता। अतः जबतक जीओ, सुखसे जीओ, भले ही उधार खाकर सुख मिले।

पूछा—'अच्छा चार्वाकजी, देहमें जो चैतन्य है वह क्या है?' तो बोले—'अरे, वह तो चार महाभूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु)का एक विशेषण है।' यह विशेषण क्या होता है? तो बोले—देखो भाई! जैसे एक कमलका बीज (कमलनाल) लेकर आपने सरोवरमें डाल दिया। उसमें-से एक तना निकला, फिर उसमें एक कमलकी कली निकली। अब जब कमल खिला तो कमल नीला-

नीला दीखता है। यह नीलापन कमलका विशेषण है। इसी प्रकार चारों भूतोंमें एक शरीररूप कमल खिला और इस कमलमें नीलिमाके समान यह चैतन्य विशेषण है जो 'अस्मि-अस्मि' रूपसे प्रकट होता है। जबतक देह रहेगा वह विशेषण रहेगा; जब देह मिट जायेगा तो वह भी मिट जायेगा। चैतन्य नामकी कोई अलग धातु नहीं है; वह जड़ताका ही एक विकास है।

देह एव इति देहमात्रम्।

आत्मा केवल देह ही है और कुछ नहीं। और कुछ नहींसे क्या मतलब? तो—

मात्रशब्देन देहातिरिक्तं स्वतन्त्रचैतन्यं नास्तीत्युच्यते।
(पूर्णानन्दी)

देहके साथ मात्रत् प्रत्यय लगानेका अभिप्राय है कि देहसे अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चैतन्य नहीं है।

देहातिरिक्तं चैतन्यं स्वतन्त्रं अस्वतन्त्रं वा नास्ति। देहाकार-परिणतभूतचतुष्टयान्तरं भूतमेव तत् इति मात्रतो ग्रहणम्।

देहसे स्वतन्त्र या अस्वतन्त्र कोई चैतन्य नहीं है। चारों भूतोंका यह देहाकार परिणाम ही आत्मा है। 'देहमें आत्मा' ऐसा व्यवहार नहीं है 'देह ही आत्मा है' ऐसा व्यवहार है। चैतन्य देहका, भूतोंका विशेषण है। 'देहमात्रं चैतन्यविशिष्टम् आत्मा इति।'

अब इस सिद्धान्तपर थोड़ा विचार करो।

देह अर्थात् ढेर। 'दिह उपचये' धातुसे देह शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है ढेर। यह हड्डी, चाम, रुधिर, मल, मूत्रका ढेर या संघात—यही देह है। देहकी पहिचान क्या?

'चर्माधिकरणम्' देहकी पहिचान है। चामके बन्धनमें यह बँधा है। वास्तवमें त्वगिन्द्रियका निरपेक्ष अधिकरण है शरीर। स्पर्शज्ञान देहमें होना चाहिए।

अब देखो देह आत्मा है यह अनुभव-विरुद्ध है। कोई व्यक्ति यह नहीं कहता कि 'मैं देह हूँ।' 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा बोलते हैं, 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा बोलते हैं। 'मैं गृहस्थ हूँ,' 'मैं संन्यासी हूँ' इत्यादि बोलते हैं परन्तु 'मैं देह हूँ' ऐसा सीधा अभ्यास किसीको नहीं होता। मधुसूदन सरस्वतीने अपने 'सिद्धान्त-विन्दु'में इसका वर्णन किया है।

अच्छा, देह तो प्रत्यक्ष ज्ञेय है, दृश्य है, मुझ ज्ञाताका, द्रष्टाका विषय है; फिर यह आत्मा कैसे ? पुनः यदि देह-संघात है तो वह किसी अन्यके लिए होगा।

संघातस्य परार्थत्वात्

इसलिए भी देह मैं (आत्मा) नहीं हूँ।

यह चार्वाक-दर्शन विरोचन ज्ञान है। वाक्पति वृहस्पतिने आत्मा इन्द्रको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट करनेके लिए इसका प्रचार-प्रसार किया। यह लोकायत है अर्थात् वोटका धर्म है। इसमें विवेक विचार नहीं है; प्रत्यक्ष विषयोंके प्रति प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रियताका अनुवादमात्र है इसमें। अतः रोचक होते हुए भी पतनोन्मुख है। इससे बचना चाहिए।

क्या उपनिषदोंमें चार्वाक सिद्धान्त नहीं है ? न हो सो बात नहीं 'स वा एव पुरुषोऽन्नरसमयः' (तैत्तिरीय० २-१-१), 'वह पुरुष अन्नरसमय है'। तथा

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्' (कठो० २-४) परन्तु यह उपनिषद्-सिद्धान्त नहीं है। विचारकी कक्षामें अनुभवका अनुवाद है तथा ब्रह्मविद्के लिये सर्वात्मबोधका प्रतीक है।

मूल प्रश्न यह है कि 'मैं हूँ-मैं हूँ' यह जो ज्ञान है इसका आलम्बन क्या है ? चार्वाकने कहा देह है। देह रहते यह ज्ञान रहता है कि 'मैं हूँ और देह न रहनेपर नहीं रहता।

अब कल्पना करो कि देह है परन्तु इन्द्रियाँ नहीं हैं। क्या उसे 'जगत् है', यह ज्ञान हो सकेगा? इन्द्रियोंसे ही ज्ञान होता है, इन्द्रियोंके बिना ज्ञान नहीं होता, अतः ज्ञानका आश्रय इन्द्रियाँ हैं, केवल देह नहीं। देह तो इन्द्रियोंका अधिष्ठान है एवं जड़ है। सुषुप्तिमें देह तो रहता है परन्तु इन्द्रियाँ सुषुप्त रहती हैं जिससे ज्ञान भी सुषुप्त रहता है। अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा है—ऐसा प्रतीत होता है।

'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ' इत्यादि प्रत्यय सब इन्द्रियोंसे ही स्वीकार किये गये हैं। इसीलिए 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवमें 'मैं' अनुस्यूत रहता है क्योंकि इन्द्रियाँ ही आत्मा है।

अच्छा जी! मान लिया कि इन्द्रियाँ ही आत्मा है। आत्मा माने मैं ज्ञानका आलम्बन। तो क्या प्रत्येक इन्द्रिय अलग-अलग आत्मा है? नहीं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो देखनेवाला, सूँघनेवाला अलग-अलग होता है। परन्तु अनुभव तो यह है कि जो मैं देखनेवाला हूँ वही मैं सुननेवाला हूँ और मैं सूँघनेवाला हूँ। अतः प्रत्येक इन्द्रिय अलग-अलग आत्मा नहीं है, अपितु इन सब इन्द्रियोंका समूह ही आत्मा है। माने 'मैं हूँ' इस ज्ञानका समूहालम्बन इन्द्रियाँ हैं और इसलिए वह आत्मा है।

श्रुतिमें भी 'ते ह वाचमूचुः' (बृहद्० १.३.२) अर्थात् 'उन चक्षु आदिने वाणीसे कहा'—ऐसा वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त इन्द्रिय आत्मवादी मतको भगवान्‌ने यों प्रकट किया कि—

इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। (भाष्य)

'दूसरे चेतन इन्द्रियोंको ही आत्मा कहते हैं।'

मूलतः यह पक्ष भी चार्वाक मत है। इन्द्रिय उसे कहते हैं जो इन्द्रके द्वारा सृष्ट हो अर्थात् आत्माने हो जिनको बनाया हो और जो आत्मासे अनुगत हो—

इन्द्रसृष्टं इन्द्रजुष्टं इन्द्रदत्तम् इन्द्रिय-इन्द्रियम्।

इन्द्रके उपकरणका नाम इन्द्रिय है। यह इन्द्र जो हृदयमें बैठा हुआ स्वर्गका राजा है, उसके आस-पास रहनेवाली जो अप्सराएँ हैं वे इन्द्रियाँ हैं। ये ऊँची-नीची कल्पनाओंके रूपमें रहती हैं—ऐसा देखेंगे, ऐसा खायेंगे, ऐसा सुनेंगे इत्यादि। यह इन्द्र इन्द्रिय वृत्तियोंके सम्पर्कसे सुखका अनुभव करता है, इसलिए इनको इन्द्रियाँ बोलते हैं। इन्द्र देवता है—'दीव्यति इन्दति।'

यह इन्द्रियोंके साथ खेलता है। इन्द्रको क्रीड़ाकी सामग्री होनेसे इन्द्रियोंको इन्द्रिय बोलते हैं।

चार्वाक पक्षकी भाँति ही इस मतका निराकरण हो सकता है।

इस पक्षमें मुख्य कमजोरी इन्द्रियोंकी अनेकता है। अनेक आत्मा हो नहीं सकता (अर्थात् मैं अनेक नहीं हो सकता) और अनेकको एक सूत्रमें बाँधनेके लिए उन अनेकसे अन्वित तथा व्यतिरिक्त कोई अलग मैं होना चाहिए। फिर स्वप्नमें इन्द्रियोंके न रहनेपर भी ज्ञान होता है, इससे भी सिद्ध है कि इन्द्रियाँ ही आत्मा (ज्ञानालम्बन) नहीं हैं।

इसपर मनको आत्मा माननेवालोंने कहा कि मन आत्मा है—

मन इत्यन्ये। (भाष्य)

मनवादियोंका कहना है कि जाग्रतमें ज्ञान मनको ही होता है, इन्द्रियाँ तो उसकी करण हैं और स्वप्नमें भी इन्द्रियोंके न रहनेपर मन शेष रहता है। उसीको स्वप्नका ज्ञान होता है। अतः मन ही ज्ञानालम्बन आत्मा है। श्रुतिमें भी मनको आत्मा बताया है।

अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः (तैत्ति० ६.३)

(प्राणमयके भीतर और उससे भिन्न आत्मा मनोमय है)।

'अहम्'का बहुवचन नहीं होता जैसे त्वं और सः के होते हैं।

'तत्' शब्द है और उसके एकवचन, द्विवचन और बहुवचनमें रूपमें होते हैं (क्रमशः)—सः, तौ, ते (वह दोनों, वे सब)। इसी प्रकार 'युष्मद्' शब्द है और उसके रूप हैं (क्रमशः)—त्वम्, युवाम्, यूयम्। 'अस्मद्' शब्द है और उसके रूप हैं (क्रमशः)—अहं, आवाम्, वयम्। अब देखो तत्का बहुवचनमें है 'ते', युस्मद्का बहुवचनमें है यूयम्। और अस्मद्का ? वयम्। अस्मद्का कोनसा अक्षर वयम्में है—भला बताओ तो ? कोई नहीं। अतः वयम् अस्मद्का रूप नहीं है, वस्तुतः विवर्त है। सारांश अहम् प्रति शरीर अनेक प्रतीत होता हुआ भी अनेक नहीं होता। अनेकता एक आत्माका विवर्त ही है।

तो देह जड़, दृश्य, संघात होनेसे आत्मा नहीं है और इन्द्रियाँ अनेक होनेसे आत्मा नहीं है। मैं देखता हूँ, मैं नहीं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं नहीं सुनता हूँ, मैं सोचता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ इत्यादि अनुभववाक्य मैंको इन्द्रियोंसे भिन्न तथापि इन्द्रियोंमें ओतप्रोत मनको आत्मा बताते हैं। ज्ञानदृष्टि और अहंबुद्धिका आश्रय मन है। यह बात स्वप्नमें स्पष्ट हो जाती है

अब देखो इसपर विचार करो।

इतनी सूक्ष्म गति है मनकी, इतनी तीव्र गति है मनकी कि वायु और शब्द भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते। ये सामने दो अंगुली हैं। लगता है कि ये अंगुली एक साथ दीख रही हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि मनकी नेत्रवृत्ति प्रथम पहली अंगुलीको देखती है, फिर अंगुलियोंके बीचके आकाशको देखती

है और तब दूसरी अंगुलीको देखती है। मनकी यह सूक्ष्म गति पकड़में नहीं आती।

अच्छा, इस तीव्रगामी मनका रूप, रंग, आकार, वजन क्या है? कभी आपने देखा? दिनमें हजार बार हजार रूप-वेश धारण करता है, लाख बार सुखी, दुःखी, ज्ञानी, अज्ञानी होता है यह मन, परन्तु क्या इसके परिवर्तनमें आप ऐसा अनुभव करते हैं कि आप भी बदल गये। बदलनेसे दीखते हुए भी 'मैं वही हूँ जो पहले सुखी था' यही बोध होता है। अतः मन मैं (आत्मा) नहीं हो सकता। फिर सुषुप्तिमें मनके न रहनेपर अभावका अनुभव कौन करता है? इसलिए भी मन ज्ञानका आलम्बन (आत्मा) नहीं हो सकता।

इस बहुरूपिया मनको जो 'मैं' मान लेगा उसके दुःखोंका अन्त कैसे होगा? संसारमें दुःखी व्यक्ति ही वह है जो मनमें आयी बातको ही ठीक मान लेता है। मनमें क्रोध आया तो मैं क्रोधी, लोभ आया तो मैं लोभी, काम आया तो मैं कामी। परन्तु जब वेग समाप्त हुआ तब? तब मैं दुःखी, पश्चातापी। यह सब बताते हैं कि मन आत्मा नहीं है।

मनमें जो संकल्प-विकल्प, भाव, विकार आते हैं उनके साथ हम अपना तादात्म्य बनायें या न बनायें इसका स्वातन्त्र्य हमको है। जिसका निषेध हो सके, वह आत्मा नहीं हो सकता।

मनका नियामक बुद्धि है, अतः बुद्धि आत्मा है। जहाँ मन बुद्धिका अनुगामी होता है वहाँ उत्थान होता है और जहाँ मन बुद्धिपर हावी होता है अथवा जहाँ बुद्धि मनकी अनुगामिनी होती है, वहाँ पतनका मार्ग है।

घरमें बैठे हैं। ठंड लगी। गरम कपड़ा चाहिए, यह बुद्धिमें निश्चय हुआ, मनको हुकुम मिला। तत्काल पैरसे गये और कपड़ा

ले आये। यह बुद्धि-नियन्त्रित मनकी बात है। इसके विपरीत मार्गमें चल रहे हैं। रास्तेमें देखा किसीको अच्छा कपड़ा पहिने। लुभा गयीं आँखें, लुभा गया मन। बुद्धिने वितर्क किया—तेरे पास कपड़ा है तुझे क्यों चाहिए? दबा दिया मनने—ऐसा कहाँ है? हमारे पास यह कपड़ा तो होना ही चाहिए। बुद्धिने कहा—तेरे पास पैसा कहाँ है इसे खरीदनेको? मनने कहा—चोरीसे ले लेंगे। बुद्धिने अन्ततः कहा—ठीक है करले चोरी, खरीद ले कपड़ा। यह मन-नियन्त्रित बुद्धिका उदाहरण है।

अबसे २४ साल पहले हमें एकने बताया था कि उनका ड्राइंगरूम (बैठक) करोड़ रुपयेसे अधिककी वस्तुओंसे सजा है। पेरिस गये तो जो वहाँ पसन्द आगया ले आये। लन्दन गये तो जो वहाँ पसन्द आगया सो ले आये। इस तरह प्रत्येक वस्तुएँ कमरेको सजानेके लिए इकट्ठी की गयीं थी। अब ठीक है तुम्हारे पास रुपया है परन्तु इस तरह खर्च करनेमें भोग क्या है? न तो रुपया और वस्तुओंको तुम साथ ले जाओगे और न यही निश्चित है कि वह तुम्हारे असली बेटे-पोतोंको मिलेंगी। इस रुपयेसे महान् कार्य हो सकता था। तो यह सब मन-नियन्त्रित बुद्धिका मार्ग है जो मनुष्यको पतनकी ओर ले जाता है।

सामान्यतया प्राकृतिक नियमके अनुसार मनकी गति बुद्धि-पूर्वक ही चलती है—हिताहितका विचार करके बच्चोंकी यह गति अनुकरणात्मक ढंगसे चलती है और मनीषियोंकी विचार पूर्वक होती है।

अब यह बुद्धि जो आत्मा है वह क्या है? तो कहा कि यह विज्ञानमात्र है।

विज्ञानमात्रं क्षणिकम् इत्येके। (भाष्य)

क्षणिक विज्ञानवादी (योगाचार बौद्ध)का मत है कि क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि ही आत्मा है।

विज्ञानकी धारा बह रही है। उसके झटकेसे प्रत्यय बनते रहते हैं, बिगड़ते रहते हैं। जैसे पहले प्रत्यय वैसे बादके प्रत्यय। ये प्रत्यय (बुद्धि) क्षणिक होते हैं; अपनी उत्पत्तिके क्षणसे दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाते हैं।

'विज्ञानमात्रम्'में मात्रके प्रयोगसे बताया कि बुद्धिवादीकी आत्माका उपादान केवल विज्ञान ही है। विज्ञानके आत्मा होनेमें श्रुति प्रमाण भी है।

अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमय—(तैत्तिरीय २-४)

(मनसे भीतर और मनसे भिन्न आत्मा विज्ञानमय है)।

अब इसपर विचार करो। यदि मैं क्षणिक हूँ तो प्रत्येक क्षण मैं मर जाता हूँ और नवीन उत्पन्न होता हूँ; फिर भूत और वर्तमानका समन्वय कैसे होता है? सुषुप्तिमें बुद्धि नहीं रहती फिर भी ज्ञान शेष रहता है, मैं तो रहता हूँ। वह शेषज्ञान बुद्धि नहीं है। तब बुद्धि आत्मा कैसे? विज्ञान क्षणिक है परन्तु क्षणिकताका विज्ञान किसको होता है? मैं तो बुद्धिकी क्षणिकता, बुद्धिकी निश्चितता, बुद्धिका अभाव, सबका साक्षी हूँ। अतः 'मैं' (आत्मा) बुद्धिसे भिन्न और बुद्धिसे अतीत होना चाहिए।

देखो, यदि केवल अहं-अहं होता और उसके साथ अस्मि-अस्मि (हूँ, हूँ) न होता तो? तो बिना मिट्टीका घड़ा होता! जैसे घड़ा सत्य है, तो क्या केवल घटके आकारको सत्य बोलते हो या उसके साथ जो लगी माटी है उसके सहित घटको सत्य बोलते हो? घट आकृतिमात्र है और उसमें जो मिट्टी है वही सत्य है।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

यह जो अहं-अहं है वह घड़ा है, घड़ेका आकार है। उसमें जो अस्मि है, वह सत्ता है; वह मृत्तिका है, वह सत्य है। जो चिनगारी है वह घट है, घटका आकार है; उसमें जो अग्नि है वह मृत्तिका है वह सत्य है। शरीरके भीतरका अवकाश घट है, घटका आकार है; उसमें जो महाकाश है व मृत्तिका है, वह सत्य है।

अहमस्मि, अहमस्मि, अहमस्मि यह तीन बार स्फुरण हुआ; प्रथम कालमें प्रथम अहम्। परन्तु अस्मित्व सब कालोंमें एक है। अस्मि एक है, वर्तमान कालमें है, प्रत्यक्ष है और अस्तिमात्र है, अर्थात् क्रियाशील नहीं है। अहं प्रत्यय है, तरंगके समान और अस्मि स्वसत्ता है जलके समान। अहं है नीलिमाके समान और अस्मि है आकाशके समान। अहं है चलती श्वासके समान और अस्मि है वायुके समान।

मनमें बदलती वृत्तियाँ हैं—अहं, अहं, अहं। उनमें जो एक विज्ञान है वह आत्मा है अहमाकार-इदमाकार क्षणिक बुद्धियोंकी धारा आत्मा नहीं है।

अच्छा, अब आगे चलें।

प्रसंग यह चल रहा है कि 'अहं-अहं' यह जो प्रत्यय सबको अनुभव हो रहा है उसका आधार, उसका आलम्बन क्या है? त्वं-पदवाच्यार्थका वह असली स्वरूप क्या है जिसकी श्रुति तत्पदके साथ एकता बताती है।

इसके उत्तरमें अबतक जो विकल्प उठाये वे थे—देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि।

चार भूतोंसे उत्पन्न देहमें जो चैतन्य रस है; वही आत्मा है; वही अहं-अहं प्रत्ययका आलम्बन है—यह चार्वाक-मत है। परन्तु

यह उत्पन्न रस क्या तत्-पदार्थसे एक होनेके योग्य है ? यह तो उत्पन्न हुआ है और मर जायेगा। कालमें पहिले नहीं था और कालमें बादमें नहीं रहेगा। इसके विपरीत तत्-पदार्थ तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' बताया गया है। उसका प्रागभाव और प्रध्वंसा-भाव नहीं है। फिर उसकी देहरूप आत्मासे एकता कैसे संभव हो सकती है ? अतः श्रुतिके अनुसार देह आत्मा नहीं है। देह तो जड़ है। 'मैं हूँ'को जाननेवाला मैं हूँ। तो क्या जड़ सोचता है कि जाननेवाला मैं हूँ ? भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशाबल्यको, सब वृत्तियोंको, क्या जड़ देह जानता है ? नहीं भाई, इनको जाननेवाला जड़ नहीं चेतन है।

इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं क्योंकि वे अनेक हैं। मन आत्मा नहीं है क्योंकि वह परिवर्तनशील है। मन और इन्द्रियां काल पाकर अथवा रोगसे अशक्त हो जाती हैं। विकार उनके स्वभावमें है; फिर भला वे तत्-पदके साथ ऐक्यकी योग्यता कैसे रख सकती हैं ? अब रहा विज्ञान, अथवा बुद्धि। बुद्धि पौरुषेय ज्ञानका आधार है। इन्द्रियां जो संविद् भीतर भेजती हैं उन्हींको इकट्ठा करके हमारी बुद्धि बनती है। कल आंखने वस्तु देखी। वस्तुका संस्कार बुद्धिमें रह गया। आज वस्तु फिर देखी। संस्कार कलका आज स्मृतिरूपमें उदय हो गया। विज्ञान एक चिद् धातु है; बाहरसे (इन्द्रियों द्वारा) विज्ञानको पकड़ना और पकड़े हुएको बाहर निकालना—यह उसका स्वभाव है। उसमें बहुत-से विज्ञान आते-जाते रहते हैं। एक धारा भी कालके अन्दर उसमें बहती रहती है।

विज्ञानमें मुख्यतः—तीन धाराएँ हैं—द्रव्यकी, देशकी, कालकी। चार्वाक लोग द्रव्यके साथ तादात्म्य करके देहको आत्मा बताते हैं। जैन लोग देशके साथ तादात्म्य करके आत्माका वर्णन करते

है—यथा आत्मा सिद्धशिलापर बैठती है, अलोकाकाशमें भ्रमण करती है तथा चींटी और हाथीके शरीरके आयामके अनुसार संकोच-विस्तारको प्राप्त होती है। बौद्धलोग कालके साथ तादात्म्य करके 'क्षणिकम्'वाले विज्ञानकी धाराको आत्मा बताते हैं। वास्तवमें द्रव्याकार, दिक्तत्त्वाकार, कालाकार-परिणत बुद्धिके साथ तादात्म्य करके अहमर्थको स्वीकार करनेकी पद्धति है यह !

परन्तु इन तादात्म्योंका साक्षी कौन है ? 'मैं-मैं' यह ज्ञान है, ज्ञान होता है, अतः इसका प्रकाशक चेतन्य होना चाहिए। देश, काल, द्रव्य सब-के-सब साक्षी-भास्य हैं। देशाकार बुद्धि, कालाकार बुद्धि, द्रव्याकार बुद्धि और इनके अभावाकार बुद्धिका जो साक्षी है वह चेतन है। वही आत्मा है।

इसी शृंखलामें अब एक विकल्प और उठाते हैं। कहते हैं—

शून्यमित्यपरे (भाष्य)

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा शून्य है। यह शून्यवादी माध्यमिक बौद्धोंका मत है। इनका कहना है कि अहं-अहं यह जो ज्ञान है वह सुषुप्तिमें नहीं रहता। तब वहाँ क्या रहता है ? कुछ नहीं। अथवा वहाँ असत् रहता है। छान्दोग्य उपनिषद्की श्रुति भी है—

असदेवेकमग्र आसीत् असतः सज्जायत (छां० ६.२.१.)

अर्थात् आरम्भमें यह एकमात्र असत् ही था, असत्से सत्की उत्पत्ति हुई।

तो सुषुप्तिमें अहंवृत्तिका असत्में लय हो जाता है और जाग्रत होनेपर उसी असत्में 'अहं-अहं' रूप ज्ञान बाहर निकल आता है। अतः शून्य अथवा असत् ही अहम्का आलम्बन है, वही आत्मा है।

असदालम्बनः अहं धीः

यह जो अहं बुद्धि है वह असदालम्बना है।

यह शून्य एक ऐसा रेगिस्तान है जिसमें बालूका एक कण नहीं है, एक ऐसा जंगल है जिसमें कोई वृक्ष नहीं है, एक ऐसी अग्नि है जिसमें ज्वाला नहीं है, एक ऐसा जल है जिसमें कोई जल-बिन्दु नहीं है, एक ऐसा आकाश है जिसमें घटाकाश, मठाकाश नहीं है।

अन्तः शून्यं बहिःशून्यं शून्यकुम्भविवाम्बरे।

असलमें बौद्ध लोग इस शून्य तत्त्वको चतुष्कोटि अनिर्वचनीय मानते हैं। इसीसे अहं-बुद्धिका उदय होता है और इसीमें अहं-बुद्धिका अस्त होता है। अतः शून्य ही आत्मा है।

भगवान् शंकराचार्यसे किसीने कहा—'शून्यम् तत्' अर्थात् वह परमार्थतत्त्व शून्य है। उन्होंने तुरन्त प्रतिप्रश्न किया—'स साक्षितं निस्साक्षितं वा'? अर्थात् उस शून्यका कोई साक्षी है या नहीं?

यदि शून्यका साक्षी है तो परमार्थ तत्त्व साक्षी सिद्ध होता है; और यदि शून्यका कोई साक्षी नहीं है तो शून्य कल्पित सिद्ध होता है। 'मैं शून्य हूँ' यह अनुभूति भी किसीको नहीं होती। उल्टे 'मैं हूँ' इसका ज्ञान होता है। 'अहमस्मि' इस वृत्ति-ज्ञानका प्रकाशक और सुषुप्तिके अहमाकार-वृत्तिके अभावका प्रकाशक शून्य नहीं हो सकता; वह कोई चेतन ही होना चाहिए। फिर यदि मान भी लें कि अहम्का आलम्बन शून्य है तो क्या उस शून्यमें तत्-पदार्थके साथ ऐक्यकी योग्यता हो सकती है? नहीं। इसलिए भी श्रुत्यर्थ-निश्चयमें आत्मा शून्य नहीं हो सकता।

एक शून्यता है और एक शून्यतासे व्यतिरिक्त अस्तित्व है। जैसे 'घड़ा है' इसमें 'घड़ा' और 'है-रूप' उसका अस्तित्व—ये

दो चीजें हैं। कम्बुग्रीवादिवान आकृति विशिष्ट घड़ा है, परन्तु घड़ेकी सत्ता कम्बुग्रीवादिवती नहीं है, उससे विलक्षण है। घड़ा, सकोरा आदि आकृतियोंमें वैषम्य है परन्तु मिट्टीसे बनी उन आकृतियोंके अस्तित्वमें विषमता नहीं है। 'घड़ा है' 'सकोरा है' इनमें 'है' रूप सत्ता न घड़ेकी है और न सकोरेकी; वह उनके उपादान मिट्टीकी है। मृत्तिका ही सत्य है, आकृतियाँ मिथ्या है।

इसी प्रकार 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं जीव हूँ, मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ', इन सबमें ब्राह्मण, संन्यासी, जीव, सत्, असत्— ये सब आकृतियाँ हैं और इनमें सत्तासामान्यरूपसे 'हूँ' मृत्तिकाकी भाँति ओत-प्रोत है। ये सत् ज्ञानस्वरूप सत्तासामान्य ही अहम्का आलम्बन है।

जैसे घटका आलम्बन मृत्तिका है, जैसे पटका आलम्बन तन्तु है ऐसे ही अहमस्मिका आलम्बन अहमस्मिका प्रकाशक ज्ञान है। यही आत्मा है। वह शून्यसे व्यतिरिक्त है, शून्यमें अनुगत है, शून्यत्वका प्रकाशक है।

रज्जुमें रज्जुके अज्ञानसे प्रतीयमान सर्प कहाँ है? वह रज्जुमें नहीं है। वह तो वहीं है जहाँ रज्जुकी कल्पना है। अर्थात् अन्तः-करणमें है। रज्जुके अज्ञानसे उस सर्पको रज्जुमें समझ रहे हो। इसलिए जो अन्तःकरणका प्रकाशक है वही सर्पका अधिष्ठान है। जो कल्पनाका अधिष्ठान है उसीमें सर्प प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह होता है कि सर्प कल्पनाका प्रकाशक और अधिष्ठान मैं हूँ।

इसी प्रकार यह जो जगत् प्रतीत होरहा है (सर्पकी भाँति) उसका अधिष्ठान अन्तःकरण है और अन्तःकरणका प्रकाशक 'मैं' हूँ। अतः मुझको मुझमें यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है।

'मैं हूँ' यह भी प्रतीति है। इस अस्मिका जो प्रकाशक है—मैं, वही अहमस्मिका आलम्बन है, वही आत्मा है। 'मैं हूँ' यह

प्रत्यभिज्ञा स्थायी है, भ्रान्ति नहीं है क्योंकि स्वानुभूति है अपना अस्तित्व सादृश्यके अधीन नहीं है। यह घट-सदृश पट-सदृश प्रत्यय नहीं है। फिर इसका आलम्बन शून्य कैसे हो सकता है ? अरे बाबा ! कहीं असत्से सत्की उत्पत्ति होती है। कहीं शून्यसे, ज्ञाना-भावसे अहमस्मि ज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है ? 'शून्यम् ततः' 'अस्ति शून्यम्' ऐसा अनुभव होता है, मैं शून्य हूँ ऐसा अनुभव नहीं होता और यदि किसीको होता भी हो, तो भी इसमें मैंको ज्ञानस्वरूपता अखण्ड ही रहती है।

उपनिषदोंमें जहाँ आत्माकी निष्प्रपञ्चताका वर्णन है वहाँ एक जगह 'शून्यम्' शब्दका प्रयोग है। यह या तो कौषीतिकी उपनिषद्में है या मैत्रेय उपनिषद्में है। ठीकसे याद नहीं है। परन्तु वहाँ शून्यका अर्थ प्रपञ्चशून्य है, स्वरूपशून्य नहीं है।

उपनिषद्में शून्य शब्दका प्रयोग होनेसे शून्यतावलम्बी भी भारतीय ही हैं। विचारकी अलग-अलग कक्षाओंमें सब मत स्वीकार किये जा सकते हैं।

जहाँ अहम्का आलम्बन दृश्यमें ढूंढा जायेगा वहाँ अन्तमें या तो अहम्को जड़का विकास जाड्य मानना पड़ेगा और या तो दृश्यके अभावको, शून्यको, उसका आलम्बन मानना पड़ेगा। और जहाँ अहम्का आलम्बन द्रष्टामें ढूँढा जायेगा वहाँ चेतन-ब्रह्मकी, शून्याशून्य साक्षीकी उपलब्धि होगी। अब दृश्यका, चाहे शून्य हो या अशून्य, विना द्रष्टामें अस्तित्व ही नहीं है। अतः परमार्थमें अहमालम्बनके रूपमें चेतन ब्रह्म ही स्वीकार करने योग्य है। अपने चेतन होनेमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। अस्तु।

यहाँतक नास्तिकमतोंका उल्लेख हुआ। अब भगवान् भाष्यकार आस्तिक मतोंका उल्लेख करेंगे। ●

(८. ६)

ब्रह्मजिज्ञासा-पद-विचार—५

आत्माके विशेषस्वरूपके प्रति विवाद

(आस्तिकमत)

अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्ति-रिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। (भाष्य)

दूसरे लोग कहते हैं देहादिसे भिन्न संसारी, कर्ता, भोक्ता आत्मा है; (वही 'अहमस्मि इस ज्ञानका अवलम्बन है)। यह पूर्व-मीमांसा तथा न्यायादिका मत है। कोई ऐसा मानते हैं कि

आत्मा केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं है । यह सांख्यमत है। कोई कहते हैं कि जीव से भिन्न ईश्वर है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है वह ईश्वर ही भोक्ता जीवका आत्मा है । यह ईश्वरवादी उपासकोंका मत है । 'आत्मा स भोक्तुरित्यपरे' एक दूसरा अर्थ भी होता है :

भोक्तुः मम स सर्वज्ञः ईश्वरः आत्मा इति अपरे ।

मुझ भोक्ताका आत्मा ही वह सर्वज्ञ ईश्वर है, ऐसा दूसरे लोग कहते हैं । यह वेदान्तमत है ।

अब इन विषयोंपर विचार प्रारम्भ करते हैं ।

आस्तिकोंका मत है कि अहमस्मि प्रत्ययका आलम्बन देहसे अलग, आने-जानेवाला, कर्ता, भोक्ता चैतन्य है इस चैतन्यकी संज्ञा जीव है ।

असलमें चैतन्य संसारी, कर्ता, भोक्ता है नहीं, होता नहीं है, बस, अज्ञानसे ऐसा प्रतीत होता है । चैतन्यात्माके सदंशकी प्रधानतासे आत्मामें द्रव्यकी भ्रान्ति हो रही है, चिदंशकी प्रधानतासे भोगकी भ्रान्ति हो रही है और आनन्दांशकी प्रधानतासे सुखकी भ्रान्ति हो रही है । विषयमें सत्ता होना (अस्ति); विषयका भासना, प्रतीति होना (भाति) और विषयका सुखरूप होना (प्रिय), ये सच्चिदानन्दके सदंश, चिदंश, और आनन्दांशकी भ्रान्तियाँ है । आत्मा है सच्चिदानन्द । जब वह विषयको सत्ता देता है तो अपनी सत्ताको ही अन्यमें डाल देता है । जब वह विषयको ज्ञानस्वरूप समझता है तब वह अपनी चित्ताको ही अन्यमें डाल देता है । जब वह विषयको सुखरूप समझता है तब वह अपनी आनन्दरूपताको ही अन्यमें डाल देता है । इस प्रकार विषय तो हो जाता है सच्चिदानन्द और आत्मा अपनी सच्चिदानन्दरूपताको खो बैठता है ।

बाणिया लोग, लड़ाकू लोग कहते हैं कि अन्य ही सत्य है और उसके सामने 'मैं' कुछ नहीं। अब देखो, सबको जाननेवाला तो मैं—लोकको-परलोकको, इनके होनेको, न होनेको, कार्यको, कारणको, जगत्को, प्रकृतिको, ईश्वरको, इन सबको जाननेवाला 'मैं' और 'मैं' ही तो कुछ नहीं ? आज हमारा 'मैं' मशीनोंके आगे घूटने टेक रहा है। अपना आनन्द अपने पास नहीं रह गया : वह अन्यमें यात्रा करने चला गया है।

जो लोग अपनेको आनन्द और ज्ञान मानते भी हैं वे भी अपनेको अल्प-आनन्द और अल्पज्ञानवाला मानते हैं। यह क्या है ? यदि वे अपनेको देह न मानते तो अपनेको अल्पसत्तावाला क्यों मानते ? यदि वे अपनेको देह न मानते तो अपनेको अल्पज्ञान-वाला क्यों मानते ?

हुआ यह कि अपने सत्‌रूपमें भ्रान्ति होकर अपनेको शरीर मान बैठे। अपने चित्‌रूपमें वृत्तिरूपसे भ्रान्ति होनेसे अपनेको अल्पज्ञ मान बैठे और अपने आनन्दरूपमें विशेष सुखकी भ्रान्ति होनेसे अपनेको अल्पभोक्ता या अल्प-आनन्द मान बैठे।

जब आप देहमें कर्मेन्द्रियोंके साथ जुड़ते हैं, अपनी मानते हैं तब आप कर्ता बन बैठते हैं। 'हाथवाला मैं हाथसे मशीन चलाता हूँ' अतः मैं मशीन चलानेकी क्रियाका कर्ता हूँ—ऐसा आप मानते हैं। पाँववाला मैं चलता हूँ, जीभवाला मैं बोलता हूँ, इत्यादि ये सब कर्ताभावके अन्तर्गत हैं। कर्मेन्द्रियोंवाला 'मैं' और उनसे जो कर्म होता है उसका कर्ता 'मैं' अपनेको कर्मेन्द्रियोंके साथ और कर्मे-न्द्रियोंको अपने साथ मिला लिया। यह परस्पराध्यास है।

इसीप्रकार ज्ञानेन्द्रियोंके साथ जब आप जुड़ते हैं तब आप अपनेको ज्ञाता मानते हैं। जब आप प्रिय-अप्रिय संस्कारोंके साथ जुड़ते हैं तो आप अपनेको भोक्ता, सुखी, दुःखी मानते हैं।

जब आप अपनी वासनाके साथ जुड़ते हैं तब अपनेको गमना-गमन करनेवाला संसारी मानते हैं। आप सत्संगमें आये मोटरमें। सत्संगकी इच्छाने आपसे मोटर स्टार्ट करायी न ? ऐसे ही मनुष्य-को मरणोपरान्त लोकलोकान्तरमें ले जानेवाली वासना है।

तो देहके संसर्गसे आप अपनेको जन्म-मरणवाला, वासनाके संसर्गसे संसारी, कर्मेन्द्रियोंके संसर्गसे कर्त्ता, ज्ञानेन्द्रियोंके संसर्गसे ज्ञाता, प्रिय-अप्रियके संसर्गसे भोक्ता, बुद्धिके संसर्गसे मूर्ख-बुद्धिमान् मानते हैं। ये सब आत्मामें अध्याससे प्रतीत होते हैं वास्तवमें हैं नहीं।

इतना सब लवाज़मा अपने साथ जोड़कर यह चैतन्यात्मा जीवात्मा बना हुआ है और देहसे व्यतिरिक्त होकर इस 'नवद्वारे पुरे देही' रूप नगरीका राजा बना हुआ है तथा संसारी, कर्त्ता, भोक्ता प्रतीत होता है।

देहमें बैठनेका हेतु क्या है ? अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति। यह भ्रान्ति क्यों ? अपनी अपरिच्छिन्नताके अज्ञानतासे।

अपने आपको न जानना अज्ञान है और उलटा जानना भ्रान्ति है।

अपनेको अपरिछिन्न ब्रह्म न जानना यह मनुष्यका प्रथम अपराध है। अपनेको परिछिन्न जीव मानना, यह दूसरा अपराध है। अपनेको वासनावान् जानकर संसारी मानना यह तीसरा अप-राध है। अपनेको प्रिय-अप्रियका भोक्ता जानना यह चौथा अपराध है। अपनेको कर्मेन्द्रियवाला कर्ता जानकर पापी-पुण्यात्मा मानना यह पांचवां अपराध है। और अपनेको देह मानकर जन्ममरण-वाला मानना यह छठा अपराध है।

इन छः अपराधोंसे ग्रस्त आत्मा जीव होता है। आत्मामें ये छः बातें कहाँसे आयीं ? तो शंकर भगवान् आगे बतानेवाले हैं कि

अविचारसे ये आयीं। बिना विचार किये, बिना गुरुकी शरण गये, बिना वेदान्तके सत्संग किये, बिना सोचे हुए ही 'गतानुगतिको-न्याय'से आत्मामें ये आरोप स्वीकार कर लिये गये हैं।

अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ता इति अपरे।

ये जो अपरे हैं वे वेदान्ती नहीं हैं। वे तो मानते हैं कि देहमें देहसे न्यारा एक चेतन है जो संसारी, कर्त्ता, भोक्ता है और उसकी संज्ञा जीव है, अद्वैत वेदान्ती चैतन्यमें संसारित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और परिच्छिन्नत्व अविद्यासे भासते हैं, ऐसा मानते हैं जबकि 'अपरे' (न्याय आदि) ये मानते हैं कि जीव वास्तवमें संसारी, कर्ता और भोक्ता है।

प्रश्न यह है कि अद्वैत वेदान्तमें आत्माका कर्त्ता, भोक्ता, संसारीपन मान्य है या नहीं? प्रश्नोपनिषद्में स्पष्ट आत्माको 'मन्ता बोद्धा कर्त्ता' (प्रश्न० ४.९) बताया गया।

इसका उत्तर है कि विचारकी एक कक्षामें यह मान्य है। कक्षाके क्रमसे ही वेदान्तका स्वाध्याय होता है। इसीलिए उपनिषद्में सब प्रकारके वाक्य मिलते हैं। यह बात इसलिए सुनाता हूँ कि आपके मनपर सनातनधर्मका संस्कार बना रहे और आप इसे हिन्दू-हिन्दू कहकर, पोथी-पोथी कहकर, इस सिद्धान्तका तिरस्कार न करने लग जाओ।

सृष्टिमें परिवर्तन स्वयं हो रहा है। बचपन जवानी बन रहा है, जवानी बुढ़ापा बन रही है। काले बाल सफेद हो रहे हैं। बीजमेंसे अंकुर निकलता है, वृक्ष बनता है, उसपर फल लगते हैं; फिर नष्ट हो जाता है। सृष्टिमें भाव-विकार सर्वत्र व्याप्त है। निरुक्तने इन्हींको कहा—जायते, अस्ति, वर्धते, परिणमते, अपक्षीयते और नश्यति। वस्तु उत्पन्न होती है, अस्तित्वमान होती है, बढ़ती है, बदलती है, क्षय होती है और नाशको प्राप्त हो जाती है। जवानी

बनाये रखनेके लिए कोशिश करनी पड़ती है, बुढ़ापा लानेके लिए कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती।

इसका अर्थ है कि विकार प्राकृत होते हैं जबकि संस्कार जान-बूझकर करने पड़ते हैं। यदि आधुनिक मनोविज्ञानकी रीतिसे आप अपनेको प्रकृतिकी दयापर छोड़ दोगे तो आपका आत्मा माटी-में मिल जायेगा, राख हो जायेगा और बहुत समयके बाद अपनी पूर्वस्थितिको प्राप्त होगा; क्योंकि आपने अपनी चैतन्यात्माको, जो जड़ प्रकृतिसे न्यारा है, प्रकृतिकी दयापर छोड़ दिया। जो विचार आया वैसा कर लिया। काम आया—भोग लिया; क्रोध आया—उबल पडे; लोभ आया चोरी करली। इन विकारोंके वशीभूत होकर यदि आप काम करेंगे तो उसका फल यह होगा कि क्रिया और विकार आपको प्रकृतिमें लीन कर देंगे।

परन्तु इस विकृति और प्रकृतिके कार्य-कारणसे बचकर, सृष्टि और प्रलयसे बचकर, जन्म और मृत्युसे बचकरके, मुक्ति प्राप्त करें—इसके लिए क्या अपेक्षा है?

इसके लिए हम अपनेको देहसे और विकारी पदार्थोंसे अलग करें। अपनेको देहमें देहसे अलग कर्ता-भोक्ता मानना, यह भी विकारोंसे अपनेको अलग करने की प्रक्रिया है।

हम चैतन्य हैं, जड़ नहीं हैं। जड़में सृष्टि, विकार और प्रलय होते हैं, चैतन्य जड़से न्यारा है।

यदि आप अपनेको देहसे न्यारा चेतन आत्मा जान जाँय, तो देहके बाहरके लोगोंमें जो दुःख होता है वह आपको प्रभावित नहीं करेगा। क्या यह शोक और भयसे मुक्त होनेका स्पष्ट उपाय नहीं है? सत्संगका, वेदान्त-विचारका फल इसी जीवनमें मिलता है। यह मरनेके बादकी चीज नहीं है। सत्संग कोई पुरोहितवाद नहीं है।

पुरोहितवाद क्या ? वेदकी व्यवस्था कई तरहसे होती है— पुरोहितवादकी रीतिसे, विज्ञानवादकी रीतिसे, इतिहासवादको रीतिसे, मीमांसकोंकी रीतिसे, यज्ञवादकी रीतिसे, अधिदैववादकी रीतिसे, अध्यात्मवादको रीतिसे, इत्यादि। और ये सब आपसमें लड़ते हैं। इतिहासवादी कहता है 'मीमांसा मत करो'। मीमांसक कहता है, वेदको इतिहास मत बनाओ।' 'विज्ञानवादी कहता है— 'इसमें चेतनको मत जोड़ो।' पुरोहितवादी कहता है 'वेदार्थमें स्वर्ग-नरककी बात जरूर निकालो।'

आपको कर्म और भोगमें संकोच करना पड़ेगा क्योंकि आपको देहके कर्म और भोगसे अपनेको ऊपर उठाना है। तब आपको अपनेको विकारी नहीं क्रियावान् मानना पड़ेगा। श्रुतिमें उसको जो ब्रह्मज्ञानको ओर बढ़ता है विक्रियावान् नहीं क्रियावान् कहा गया है। वह जान-बूझकर कर्म करता है, जो अनजानमें विकार आते हैं उनके वशीभूत नहीं होता और उनके औचित्य- अनौचित्यका विचार करके कर्म करता है। इसमें ओचित्म धर्म है और अनौचित्य अधर्म है।

इस प्रकार देहसे आत्माकी पृथक्ताका ज्ञान, उसके धर्मानुकूल कर्म और भोगमें कर्तापन और भोक्तापन और अधर्माचरणका त्याग—यह भी आत्मोन्नतिका मार्ग है। संसारी मानकर भी उन्नतिका मार्ग प्रशस्त रहता है। विवेकका उदय होनेपर आत्मामें यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि उपहित करणकी उपाधिसे है, यह बोध हो जाता है।

अब सांख्यमत प्रस्तुत करते हैं :

भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। (भाष्य)

एके—कोई ऐसा मानते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं है। सांख्यमतमें केवल प्रकृति कर्ता है और पुरुष केवल

भोक्ता है। श्रुतिमें 'असंगो नहि सज्यते' 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' आत्माके भोक्तृत्वमें प्रमाण हैं।

यह बात युक्तिके विरुद्ध है कि कोई वस्तु केवल कर्ता हो, या केवल भोक्ता हो। क्यों ? यदि आप पुरुषको केवल भोक्ता मानते हैं तो वह अवस्थाओंका भोक्ता होगा, भोजनका भोक्ता होगा, स्त्री-पुरुषका भोक्ता होगा। माने भोक्ताके भोगोंमें वैविध्य तो होगा न ! पर बिना कर्मके भोग में वैविध्य आया कहाँसे ? प्रियताका वैविध्य तो स्पस्ट हो है। अतः आत्मा केवल भोक्ता है यह बात युक्तियुक्त नहीं है। असलमें जो कर्ता है वही भोक्ता है, जो भोक्ता है वही कर्ता है।

अच्छा, कर्म और भोगमें कहीं सन्धि है ?

आप भोजन करते हैं तो वह कर्म है या भोग ? यदि केवल भोग हो है (अर्थात् केवल प्रारब्धजन्य फल ही है) तो उसमें केवल सुख-दुःखका भोग ही होगा। फिर किसो समयका भोजन करनेसे पाप नहीं लगना चाहिए, क्योंकि फल से नवोन कर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। दण्डका दण्ड नहीं होता। उदाहरणार्थ चोरो-का दण्ड कारावास हो सकता है परन्तु कारावासरूप दण्डका पुनः दण्ड नहीं होता। अब भोजनरूप जो भोग है उसमें कर्म कहाँसे आता है ? भोजनको जो हाथसे उठाकर मुंहमें डालते हो उसमें हाथसे जो उठाना है वह कर्तृत्वपूर्वक उठाया गया है और जिह्वा-पर जो भोजनका स्वाद आता है उसमें भोक्तृत्व होता है। भाग ज्ञानेन्द्रियके द्वारा होता है। और कर्म कर्मेन्द्रियके द्वारा होता है, भोग कर्मेन्द्रियसे नहीं होता। हाँ, जीभ और मूत्रेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय भी हैं और ज्ञानेन्द्रिय भी। इसोलिए ये सुखदुःखजनक भी हैं और पापजनक भी। बुद्धिपूर्वक हाथसे उठाया, मुंहसे चबाया, निगला

यह सब कर्तृत्वपूर्वक हुआ, इसलिए कर्तापन आया। कर्तापन आया तो निषिद्ध वस्तुके भोजनसे पाप और विहितके भोजनसे पुण्य, यह होगा। विधिका उल्लंघन अत्यन्त अहंकार और वासनाके द्वारा होता है।

और लो—समाधि कर्म है या भोग ? स्पष्ट है आसन प्राणायाम कर्त्तृत्वपूर्वक किया, तब समाधि लगी! इसलिए समाधि कर्म है। समाधि योगका फल नहीं है। योगका फल तो द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान है। समाधि तो साधन है, कर्म है, कर्मके द्वारा निष्पाद्य है, स्वयं कर्मसंस्काररूप है क्योंकि टूटती है (सहज होती तो टूटती नहीं)।

कर्म और भोगकी सन्धि कहीं नहीं है और कर्ता तथा भोक्तामें पृथक्त्व नहीं है। जो कर्ता सो भोक्ता जो भोक्ता सो कर्ता। जहाँ कर्म होगा वहाँ भोग होगा जहाँ भोग होगा वहाँ कर्म होगा। चलना कर्म है परन्तु उसमें तकलीफ या मजा आना भोग है। चलनेकी क्रियामें स्वातन्त्र्य है परन्तु भोगमें ? भोगमें आप स्वतन्त्र हैं या नहीं ? यदि स्वतन्त्र होते तो दुःख क्यों भोगते हैं ? निरन्तर सुखी क्यों नहीं रहते ? क्या भोगमें स्वातन्त्र्य कहीं चरने चला जाता है ?

जहाँ कर्ता-भोक्ता वास्तविक है वहाँ स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य भी वास्तविक होते हैं। उसी कक्षामें एक अलग सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की जाती है, जो जीवका नियन्त्रण करता है परन्तु जहाँ (अद्वैतमें) कर्ता-भोक्ता अवास्तविक हैं अर्थात् अपने स्वरूपके अज्ञानसे कल्पित हैं, आरोपित हैं, प्रतीयमान हैं, वहाँ आत्माके स्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्यकी अवास्तविकताका ज्ञान हो जाता है। वहाँ कर्ता-भोक्ता जीवका आत्मा ही ईश्वर है; यह बोध हो जाता है।

सांख्य जिस संसारको सत्य मानता है, वेदान्तमें वह अज्ञानीके लिए है। प्रकृतिका द्रष्टा पुरुष अज्ञानदशामें कर्म और भोगसे युक्त है इसलिए वह परिच्छिन्न है और संसारी है तथा अपरिच्छिन्नताका अज्ञानी है। द्रष्टाका जो स्वरूपमें अवस्थान है वह भी अज्ञानसे कलुषित होनेके कारण वास्तविक नहीं है क्योंकि द्रष्टाका द्वैत-भ्रम अभी मिटा नहीं है; उसके लिए दूसरा दृश्य, दूसरा ईश्वर, दूसरा द्रष्टा यह संसार बना हुआ है।

वेदान्तमें पाप किसको मानते हैं ? कार्य-दृष्टिकी प्रधानता ही पाप है। रज्जुको न देखकर सांप देखना पाप है। शुक्तिको न देखकर रजत देखना पाप है। क्योंकि भ्रम-दृष्टि है। दृष्टि ही भटक गयी है।

तो फिर कारणदृष्टिकी प्रधानता पुण्यदृष्टि होगी ? हां, परन्तु कारण विवर्ती है परिणामी नहीं। जेवरदृष्टि छोड़कर स्वर्णदृष्टि—ऐसा नहीं; यह ता परिणामी कारणका उदाहरण है। बल्कि सर्पदृष्टि छोड़कर रज्जुदृष्टि; रजतदृष्टि छोड़कर शुक्तिदृष्टि—यह विवर्ती कारणके उदाहरण हैं। यहाँ कारणमें तीनकालमें कार्य हुआ ही नहीं है। यदि शुक्तिदृष्टि छूट गयी तो लोभरूप पापजनक दृष्टि होगी और यदि रज्जुदृष्टि छूट गयी तो भयजनक दृष्टि होगी।

वाल्मीकिरामायणमें आया है :

> योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।
> किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

होवे तो शूद्र, और बतावे अपनेको ब्राह्मण, तो वह पापी होगा। होवे तो ब्राह्मण, और बतावे अपनेको चाण्डाल ! तुम हो तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अद्वयब्रह्म और बताते हो अपने को पापी, पुण्यात्मा, परिच्छिन्न जीव ! इससे बड़ा और पाप क्या होगा !

देहरूप कार्यदृष्टि, अन्तःकरणरूप कार्यदृष्टि और भ्रान्तिरूप कार्यदृष्टि—यह दृष्टि मत रखना। वेदान्तकी दृष्टिसे यही पाप-पुण्यकी व्याख्या है कि 'अद्वैत दृष्टि ही पुण्य है और द्वैत दृष्टि ही पाप है।'

अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन् निमिषमच्युतम्।
भूयः तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः॥

अच्युत आत्माका निमिष भरका ध्यान भी अतिपाप-प्रसक्तको भी पंक्तिपावनपावनः बना देता है। एक क्षणका जागरण कोटि-कोटि वर्षोंके स्वप्नोंका बाधक है। भगवान्ने गीतामें कहा :

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।

इसी प्रसंगमें रत्नप्रभाने कहा कि कर्ता-भोक्ता संसारी जीव है तो इसकी तो बिना ईश्वरके चलेगी ही नहीं। ईश्वर तो इससे अलग मानना ही पड़ेगा। क्योंकि जीवके कर्म, भोग और संसरण-में जीवका स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता, परिच्छिन्न होनेके कारण, देहमें रहनेके कारण। तब जीव किसके परतन्त्र है? तो कहा कि इस जीवसे भिन्न एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर है; उसके जीवपर तन्त्र है। वही जीवका अवलम्बन है।

अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः इति केचित्।

यह उपासकोंका मत है।

जीव और ईश्वर दोनों चेतन हैं। परन्तु जीव देह-परिच्छिन, अल्पकर्ता, अल्पभोक्ता और संसारी है। इसीलिए वह परतन्त्र है। परन्तु ईश्वर सर्वकर्मा होनेसे अनन्तकर्ता या सर्वशक्ति है, सर्वकामः होनेसे अनन्तभोक्ता है, सर्वरूप होनेसे सर्वज्ञ है और उसका शील ही शासन है अतः ईश्वर है। ईश्वर जीवका नियामक है और जीव ईश्वरके परतन्त्र है।

शील अर्थमें वरच् प्रत्यय होता है तब ईश्वर शब्द बनता है—

ईशितुम् शीलम् अस्य इति ईश्वरः ।

जिसका शील ही हो शासन करना, स्वभाव हो हो लोगोंको हुकूमतोंमें रखना, वह ईश्वर कहलाता है। ऐसा न हो तो उसकी तो ईश्वरता ही चली जायेगी। एक-एक मच्छर भी उसके सामने सिर उठाने लग जायेंगे।

तो ईश्वर कौन ? जिस चेतनका शील ईश्वरता हो, सब कुछ जानता हो, सब कुछ कर सकता हो और उसकी हुकूमतकी कोई सीमा न हो। वह चेतन आत्मचेतन भी हो सकता हो, ऐसी आशंकाका निवारण करते हैं—'तयव्द्तिरिक्तः अर्थात् भोक्तृ व्यतिरिक्तः'। यानी भोक्ता जीवसे अलग ईश्वर है और ईश्वर और जीवमें नियामक और नियम्यका सम्बन्ध है।

अद्वैत-वेदान्तकी दृष्टिसे जब जीवत्व आत्मामें सन्निहित करणोंकी उपाधिसे प्रतीयमान होता है तब उन समष्टि उपाधियोंकी कारणभूता मायाकी उपाधिसे वही आत्मा ईश्वररूपसे प्रतीयमान होता है। उपाधिके नियमसे ही जीवमें नियम्यभाव और ईश्वरमें नियन्ताभाव प्रतीत होता है। परमार्थतः जीव और ईश्वर एक अपरिच्छिन्न अद्वितीय आत्मा ही है।

उपासकोंकी दृष्टिमें जीव और ईश्वरका भेद सत्य है, परन्तु अद्वैतियोंकी दृष्टिमें भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। ब्रह्मात्यैक्यबोधसे यह भेद बाधित हो जाता है। क्योंकि जीव और ईश्वर दोनोंका परमार्थ-स्वरूप एक शुद्ध-चेतन ही है। इसीका संकेत भगवान् भाष्यकारने 'आत्मा स भोक्तुरित्यपरे'में किया है।

ईश्वरकी सत्तामें दो हेतु मुख्य हैं—कर्मफलदाताकी समस्या और सृष्टिमें जीव-जगत्के नियमनकी समस्या। यद्यपि पूर्वमीमां-

सकोंने इस समस्याका हल कर्म और तज्जन्य 'अपूर्व'को मानकर कर लिया है तथापि उपासकोंने दोनों समस्याओंका हल एक ईश्वरको सत्ता मानकर किया है। प्रथम पक्षमें जाड्य कर्मकी प्रधानता है और दूसरेमें चेतन तत्त्वकी प्रधानता है।

कर्मके फलमें यदि कर्मसे उत्पन्न अपूर्व ही हेतु हो तो किसी कर्मका विपरीत फल नहीं होना चाहिए। कर्म होता है वर्तमानमें और फल होता है भविष्य-कालमें। इस अन्तरालमें अपूर्वका आश्रय कौन रहता है? चेतन जीव ही उसका आश्रय ठहरता है। अनेक जीव, उनके अनेक कर्म, उनके अनेक अपूर्व, इन सबका सृष्टिमें समन्वय जड़ताके अन्तर्गत ठीक नहीं होता। एक ईश्वरको जीवोंसे अलग, जीवों और जगत्के नियन्ताके रूपमें, स्वीकार कर लेनेपर यह समस्या आसानीसे और अधिक यथार्थरूपसे हल हो जाती है। श्रुतिको ईश्वर-सिद्धान्त मान्य है, यह श्रुतिके सभी पाठकोंको निर्विवादरूपसे स्पष्ट है।

परन्तु ईश्वर जीवके कर्मोंका फल एक निरंकुश सम्राट्की भाँति मनमानीसे नहीं देता। उसमें भी कर्म बीजमें हेतु है। यदि कर्मको कर्मफल (भोग)में हेतु न मानें तो दो दोष प्राप्त होंगे— १. अकृताभ्यागम और २. कृतविपरिणाम।

जो नहीं किया उसका भोग भोगना अकृताभ्यागम दोष है। और जो कर्म हम कर रहे हैं, उसका फल बिना भोगे ही समाप्त हो जाय, वह कृतविपरिणाम दोष है। जो सुख-दुःख हमको आज प्राप्त हो रहे हैं वह बिना किसी कारणके नहीं हैं। (हमारे पूर्वकृत कर्मोंका फल है) और जो कर्म हम आज कर रहे हैं वह बिना सुख-दुःख दिये समाप्त नहीं होगा। ईश्वर कर्म, भोग और भोक्ताके बीच एक चेतन कड़ी है। यह श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है।

यदि सांख्यका आत्मा भोक्ता है तो उसे ईश्वरकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। आत्मा भोक्ता है, सो तो ठीक है। परन्तु प्रश्न यह है कि सब आत्माओंको एकसरीखा ही भोग मिलता है या उनमें कुछ अलगाव होता है? अलगाव होता है तो फिर उस अलगावका निमित्त क्या है?

कहो द्रष्टाओंको इच्छा निमित्त है तो पहले तो द्रष्टाके साथ इच्छाका जुड़ना ही कठिन है। यदि भोक्ताओंकी इच्छा मान भी लें ता इच्छाओंमें भेद क्यों है? भोगमें भेदका कारण तो बताना ही पड़ेगा न! आया कि विषयमें भेद है, कि विषयकी भोगशक्तिमें भेद है, कि विषयकी इच्छाओंमें भेद है या कि ऐसी कोई परतन्त्रता आ बैठती है कि जिसके कारण भोगमें भेद हो जाता है?

बोले—भाई कर्ममें भेद है। भोगके अलगावका हेतु कर्म है। यदि कर्म हेतु है तो पुरुष भोक्ताके साथ कर्ता भी सिद्ध होता है। इससे सांख्यसिद्धान्तकी हानि होती है।

यदि कहो कि ईश्वर निमित्त है, तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर स्वतन्त्रतासे भोग (कर्मका फल) देता है या कर्मके अनुसार भोग देता है? यदि स्वतन्त्रतासे भोग देता है तब तो ईश्वर पुरुषके ऊपर हो गया, पुरुषका स्वामी तीसरा तत्त्व हो गया और वह ईश्वर स्वयं पक्षपाती, निर्दयी और तानाशाह हो गया कि जिसको जो चाहे सो भोग देता है। उसमें पहले कहे हुए अकृताभ्यागम और कृतविपरिणाम दोष भी आते हैं। और यदि ईश्वर कर्मके अनुसार पुरुषको भोग देता है, तो भी पुरुष भोक्ता और कर्ता दोनों सिद्ध होता है।

अब कहो कि भोगमें अलगाव नहीं है, क्योंकि जब चित्तवृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं और द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें अवस्थिति होती है तो उस समय सब द्रष्टाओंको एकसरीखा भोग ही मिलता

है। इसमें दो स्थितियाँ हैं—वृत्तिसारूप्य और स्वरूपावस्थान। अब हमारा प्रश्न यह है कि—अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर कि मैं द्रष्टामात्र हूँ, अन्तःकरणकी हालत क्रियाशील रहती है या निष्क्रिय रहती है ?

यदि निष्क्रिय रहती है तब तो निरोध दशा है, समाधि दशा है और यदि क्रियाशील रहती है तो फिर प्रपञ्चका भान हो रहा है।

हम कहते हैं कि द्रष्टा तो द्रष्टा ही है। उसके लिए वृत्तिके निरोधमें और वृत्तिकी चंचलतामें कोई भेद नहीं है। प्रकृति द्रष्टाके सामने नृत्य करती है। कभी द्रष्टाके इतने निकट आजाती है कि द्रष्टा उसे देख नहीं पाता (समाधि) और कभी एक-एक भाव, एक-एक कटाक्ष, चेष्टा, अंग-विक्षेप, सब दिखायी पड़ते हैं। द्रष्टा प्रकृतिका द्रष्टा है; वह प्रकृति चंचल हो तो भी और स्थिर हो तो भी। इसलिए द्रष्टाका द्रष्टापना ही भोक्तृत्व है—

भोक्तृत्वं नाम उपलब्धित्वम्।

यह अद्वैत-वेदान्तकी दृष्टिसे भोक्तापना है। परन्तु सांख्यवादी आत्माको भोक्ता और प्रकृतिको भोग्य मानते हैं। उनका आत्मा प्रकृतिके आनन्दका भोक्ता है, स्वयं आनन्दस्वरूप नहीं है। इसका अर्थ है कि सांख्यका आत्मा (द्रष्टा) भले ही क्लेशसे रहित हो परन्तु आनन्दका तो कंगाल ही है, और वह आनन्द वह प्रकृतिसे ही लेगा—चाहे नित्यानन्दके लिए उसे प्रकृतिका स्थैर्य अपेक्षित हो या हर्षानन्दके लिए उसका चांचल्य अपेक्षित हो। फलतः आनन्दका कंगाल सांख्यदर्शनका आत्मा-भोक्ता होनेके नाते अपनी भोग्य प्रकृतिके किसी विकार-संस्कारके साथ राग और किसी (विरोधी) विकार-संस्कारके साथ द्वेष किये बिना नहीं रह सकता। उसे प्रकृतिके साथ आसक्ति और राग दोनों करने पड़ेंगे। जिससे आनन्द लेना होता है उसे खुश भी रखना पड़ता है, यह बात गृहस्थ

लोग खूब अच्छी तरह जानते हैं। तब आत्मा गृहस्थानन्दका उप-भोक्ता होगा। सांख्यके भोक्ता आत्माकी यह दशा होती है।

अब आनन्दमें खलल न पड़े, अधिक आनन्द हो, उसके लिए प्रकृतिके स्वामी ईश्वरको माननेकी आवश्यकता होती है। इसलिए योगदर्शनमें इष्ट समाधिकी उपलब्धिमें ईश्वरकी सत्ता-कृपा स्वीकार की गयी है। वह ईश्वर कैसा है, इसपर योगदर्शन कहता है--

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

क्लेश और कर्म विपाकाशयसे अपरामृष्ट जो विशेष पुरुष है, वह ईश्वर है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। शुभाशुभ आदि कर्म और उनके विपाक अर्थात् फल-भोग और उनसे उत्पन्न वासनाएँ कर्मविपाकाशय हैं। ईश्वर इनसे अछूता है। पुरुषविशेष कहकर ईश्वरको कर्ता-भोक्ता जीवात्मासे अलग बनाया गया है।

यहाँ भी सूत्ररूपसे यही बात कही गयी है—'तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः।'

जो अपनेको कर्ता, भोक्ता, संसारी परिच्छिन्न भी माने और अपनेसे व्यतिरिक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सत्ता नहीं माने, तो उसे सुख प्राप्त नहीं हो सकेगा। तुम्हारे अल्प सुखका सम्बन्ध यदि अनन्त सुखसे नहीं रहेगा, तो वह अल्प सुख भी क्षयको प्राप्त हो जायेगा।

ईश्वर कैसा है? जैसे तुम, वैसा ईश्वर। यदि तुम चेतन हो तो तुम्हारा ईश्वर भी चेतन होगा। यदि तुम देहधारी हो, तो तुम्हारा ईश्वर भी देहधारी होगा। विशेषता स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यमें है। तुम अज्ञानसे संसारमें भटकते हो, वह लीलासे, माया-से, अवतार-शरीर धारण करके। तुम कर्मवश सुखी-दुःखी होते हो; वह लीलाके लिए सुखी-दुःखी होता है। और जिस दिन तुम्हें

यह ज्ञान हो जायेगा कि तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य, सच्चिदानन्द, अद्वय ब्रह्म हो, उस दिन तुम्हारा ईश्वर भी तुमसे पृथक् स्वरूप और पृथक् अस्तित्ववाला नहीं रहेगा। इसी बातको आचार्यने कहा कि—

आत्मा स भोक्तुरित्यपरे।

इस भोक्ताका जो परमार्थ-स्वरूप है, वही ईश्वर है, वही इस क्षुद्र अहमस्मि प्रत्ययका आलम्बन है, ऐसा वेदान्ती मानते हैं।

श्रीरमण महर्षिने कहा—'साकारधीरात्मनि यावदस्ति।' आत्मामें साकार वुद्धि कबतक? जबतक हमें अपनेमें साकार बुद्धि है।

ईश्वर और जीवमें भेद सिर्फ अज्ञानकाल और ज्ञानकालका है। अज्ञानकालमें जैसे तुम वैसा ईश्वर; ज्ञानकालमें जैसे तुम वैसा ईश्वर। यह केवल ज्ञानकाल और अज्ञानकालका ही अन्तर है; परन्तु जीव और ईश्वरका भेद कहीं भी विवेकसे सिद्ध नहीं है।

लोग अवतारवादको लेकर भेदकी पुष्टि करते हैं। परन्तु यह भेदका प्रत्याख्यान करनेके लिए, भेदका निषेध करनेके लिए ही अवतारवाद है, भेदकी स्थापना करनेके लिए नहीं है। यह हम अवतारके भीतर पैठकर उसको जानते हैं।

अच्छा, ईश्वर भोक्ता है या नहीं? भोक्ता होगा तो कर्ता भी होगा। प्रलयका कर्ता होनेसे उसे पाप लगेगा और पालनका कर्ता होनेसे उसे पुण्य होगा। फिर वह ईश्वर कभी सुखी होगा और कभी दुःखी होगा!

यदि ईश्वर कर्ता होगा, तो भोक्ता भी होना पड़ेगा उसे। तब वह ईश्वर कैसा! परतन्त्र हो जायेगा। ईश्वरका ईश्वरत्व ही बिगड़ जायेगा।

विज्ञान भिक्षुकी एक टीका है योग-दर्शनपर। उसमें उन्होंने एक मनोराज्य उठाया है कि ईश्वरको सुख कभी मिलता है या

नहीं ? सुख न हो, तो ईश्वर कैसा ? और दुःख तो ईश्वरको मिल ही नहीं सकता। क्योंकि ईश्वर अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य नहीं है; वह तो अन्तःकरण सामान्य-परिच्छेदाभावावच्छिन्न चैतन्य है। अर्थात् संसारमें पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य, देवता सबके जितने भी किस्म-किस्मके अन्तःकरण हैं उनके परिच्छेदका जो अभाव है, उस अभावसे उपलक्षित या अवच्छिन्न जो चैतन्य है वह ईश्वर है। इसका मतलब है कि ईश्वरमें किसी किस्मका अन्तःकरण नहीं है। 'अब ईश्वर हँसता है, अब ईश्वर रोता है, अब ईश्वर नाराज होता है', इत्यादि यह सब तो हम अपने अन्तःकरणमें सोचते हैं। ईश्वर तुम्हारी तरह तुनकमिजाज हो, तो वह तुम्हारी तरह ही विकारी होगा।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य कूटस्थ आत्मा है। अन्तःकरणसामान्यपरिच्छेदाभाववाच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। और अन्तःकरणके भावाभावोपलक्षित, अन्तःकरणके साहित्य, राहित्य और साहित्य-राहित्य उभयभावावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है।

तो ईश्वरको भी सुख होता है, किन्तु वह सुखका भोक्ता नहीं है; भोक्ताका अन्तर्यामी है। ईश्वर भोक्ता नहीं, भोजयता है!

इसप्रकार भोक्ताके भी दो विभाग हो गये। एक समष्टि भोक्ता ईश्वर, जो भोक्ता नहीं, भोजयता है। दूसरा व्यष्टिमें बैठा हुआ चैतन्य जीव, जो भोक्ता है। वस्तुतः आत्म-चैतन्य तादात्म्यके कारण (ज्ञानेन्द्रियोंके साथ) भोक्ता होता है। स्वरूपसे अभोक्ता हुआ भी मायासे भोक्ता प्रतीत होता है।

यह जो कर्ता-भोक्ता संसारी जीव है, उसका काम बिना ईश्वरके नहीं चल सकता। जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र या परतन्त्र? भोगमें स्वतन्त्र या परतन्त्र ? इसलिए भोग देनेके लिए कोई बलवान चाहिए जो डण्डेके बलपर उससे पापका फल भुगतवावे।

वेदान्तके विचारसे दो-का विचार किया जाता है—एक दृक् और एक दृश्य। दूसरे शब्दोंमें एक चेतन और एक चेतनका विषय। एक जिसको मालूम होता है सो और दूसरा जो मालूम पड़ता है सो। मालूम पड़ना जिसका धर्म है सो दृक् नहीं, वरन् मालूम पड़ना ही जिसका स्वरूप है, वह ज्ञानस्वरूप दृक्। वेदान्तके मतमें जो दृक् है वही ब्रह्म है; वह अद्वितीय सच्चिदानन्दघन है। इसलिए उसके दृश्य मिथ्या हैं। परन्तु दृक्का जो भान होता है, वह उपहित और अनुपहित दो रूपसे मालूम पड़ता है। उपहित = उपाधि सहित; अनुपहित = उपाधि रहित।

जो अनुपहित है वह ब्रह्म है। जो उपहित है वह दो प्रकारका है। व्यष्टि या कार्योपाधिसे वह दृक्तत्त्व कर्ता, भोक्ता, संसारी भासता है और समष्टि या कारणउपाधिसे वही दृक् (चैतन्य तत्त्व) सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके रूपमें भासता है।

दृश्य (अपने) अधिष्ठान-ज्ञान-पर्यन्त सत्य है और ज्ञानोत्तर कालमें मिथ्या हो जाता है। तब वह उपाधि भी जो जीव-चैतन्य और ईश्वर-चैतन्यको अलग करती है, मिथ्या हो जाती है। फिर जीव-ईश्वरका भेद भी मिथ्या हो जाता है।

ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है। उसे यदि ढूँढना हो, तो अपने आत्माके रूपमें ही ढूँढो। अरे बाबा! घरके पारस-पत्थरसे तो रोज मसाला पीसें और पारसको ढूँढने जायँ जंगलमें, तो क्या पारस मिलेगा? जब पहचान ही नहीं है पारसकी, तो पारस न घरमें मिल सकता है और न जंगलमें। और यदि पहचान है तो घरके मसाला-पीसनेवाले पत्थरके रूपमें भी पारस उपलब्ध है।

ईश्वर वह चीज है जो सब जगह, सब समय, सबकी आत्माके रूपमें मौजूद है। उसे यदि आत्माके रूपमें न जाना तो स्वर्ग और

वैकुण्ठ-लोकमें कैसे पहचानोगे ? जहाँ ढूंढनेकी इच्छावाला और ढूँढनेके प्रयत्नवाला बैठा है वहीं ईश्वर बैठा है।

यह जो भोक्ता है इस शरीरमें; जो कहता है—मैं सुखी, मैं दुःखी, वह वास्तवमें भोक्ता-वोक्ता कुछ है नहीं। केवल भोक्तापन-का भ्रम होता है।

हमारे एक भगत बहुत चिढ़ गये जब मैंने कहा कि राग किसीको किसीसे नहीं होता। जब चित्तमें रागाकार-वृत्ति उदय होती है तब हम उससे तादात्म्य कर लेते हैं और बोलते हैं कि हम रागी हैं। जब वह वृत्ति बदल जाती है तो रागीपनेका भ्रम भी मिट जाता है। परन्तु होता यह है कि एक भ्रम मिटता है दूसरा हो जाता है, दूसरा मिटता है तीसरा हो जाता है। भ्रमोंको यह धारा बहती रहती हैं। तादात्म्य होते रहते हैं, परन्तु यह असंगात्मा अपनेको ठीक-ठीक न जाननेके कारण बार-बार अपनेको रागी अनुभव करता है।

असंगो ह्ययं पुरुषः

तब तुम सुखी, दुःखी कहां हो ? यह सुखी, दुःखीपना बदलता रहता है और इन सुख-दुःखोंमें जो एक असंस्पृष्ट असंगात्मा है वही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। 'सर्व' माने समष्टि। उस समष्टिमें जो ज्ञाता है वही असलमें सुखी-दुःखी होनेवालेकी आत्मा है जो समग्र सृष्टिको प्रकाशित करता है और धारण करता है, उसीमें यह सर्व अध्यस्त है।

आत्मा स भोक्तुः इति अपरे

यहाँ 'स' तत्पदार्थ ईश्वर है। 'भोक्तुः' त्वं-पदार्थ जीव है और 'आत्मा' जीव और ईश्वरका परमार्थरूप है और 'असि' पदका लक्ष्य है। यही 'तत्त्वमसि' वेदान्त-सिद्धान्त है। ●

(८. ७.)

ब्रह्मजिज्ञासा विचार-६

उपसंहार

(विचारकी महिमा)

एवं वहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्यं यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

(इति जिज्ञासाधिकरणभाष्यम्)

'इस प्रकार युक्ति, श्रुतिवाक्य और युक्त्याभास तथा वाक्याभासोंका आश्रय लेकर अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। उन सबका विचार किये बिना यदि जिस किसी मतको मान लिया जाय तो माननेवालेको मोक्षमें बाधा पड़ेगी और अनर्थकी प्राप्ति होगी। इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रके द्वारा जिसमें शास्त्राविरोधी तर्क साधनरूपसे स्वीकृत है और जिसका प्रयोजन मोक्ष है उस वेदान्तशास्त्र (उपनिषद्) के, वाक्योंकी मीमांसा प्रस्तुत की जाती है।'

आपको दर्शन-शास्त्रका एक विवेक सुनाते हैं। यह किसी एक पोथीमें नहीं लिखा। ढूँढोगे तो थोड़ा-थोड़ा कई पोथियोंमें मिल जायेगा। साधु हैं न भाई हम! माधुकरी भिक्षाको भाँति कई जगहसे प्राप्त की गयी भिक्षा है यह!

प्रश्न—यह है कि कार्य-कारणसे परे कोई वस्तु है या नहीं?

प्रतिप्रश्न—कार्य-कारणसे परेकी वस्तु क्यों खोजते हो भाई ? अकेले कार्यसे, या अकेले कारणसे, या फिर कार्य-कारण दोनोंसे सन्तोष क्यों नहीं कर लेते ?

उत्तर—कार्य-कारणसे परेकी वस्तु खोजनेका प्रयोजन यह है कि कार्य तो होता है विनाशी, वह मरकर कारणमें विलीन होता रहता है। परन्तु कारण यद्यपि अपेक्षाकृत अविनाशी है तथापि कारणमें भी नित्यताका भ्रम ही होता है। जैसे कोई कहे कि वृक्ष टूट जायेगा; परन्तु बीज बना रहेगा, ऐसी ही बात है यह। प्रत्येक पौधा अपने बीजका नाश करके ही पैदा होता है। प्रत्येक बच्चा अपनी माँकी जवानीका नाश करके ही पैदा होता है, यह सृष्टिका नियम है। अब उस बीजका नाम चाहे कारण रख लो या प्रकृति रख लो। कारण गीला हुए बिना, कारण फटे बिना, विकृत हुए बिना कार्यको कैसे उत्पन्न करेगा ? यदि कहो कि कारण एक हिस्सेमें नित्य रहता है और दूसरे हिस्सेमें अनित्य रहता है, तो यह 'अर्धयुवती न्याय' ठीक नहीं है।

यदि कार्य-कारण ही एकमात्र तात्त्विक सत्य है तो कहना पड़ेगा कि अनित्यता ही एकमात्र सत्य है, क्योंकि कारण फूट करके कार्य बन जाता है और कार्य बिखर करके कारणमें लीन हो जाता है। और यह कार्य-कारणात्मक प्रवाही चक्की चल रही है। आखिर इसका कोई नित्य आधार है या नहीं ? यह प्रश्न है।

अब विभिन्न दर्शनकारोंने इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया है उसको मैं आपको सुनाता हूँ। उनकी मीमांसा नहीं करूँगा, केवल मात्र उनका उत्तर भर प्रस्तुत करता हूँ।

१. चार्वाकका कहना है कि कार्य-कारणके सिवाय कोई नित्य वस्तु नहीं है। पञ्चभूत (वे चार भूत ही मानते हैं) पहलेसे रहते हैं और उनके परस्पर संयोगसे यह शरीर बनता है और उसी

शरीर-निर्माणकी प्रक्रियाके अन्तर्गत शरीरमें चेतना उत्पन्न होती है। शरीर असमर्थ हो जानेपर देह बिखर जाता है और उसीके साथ द्रव्येक्षण-योग्यता अर्थात् विषयज्ञानको योग्यता भी नष्ट हो जाती है। प्रपञ्च केवल जन्म-मरणात्मक है और इसमें देह भूतोंका परिणाम है। यह परिणिति होती ही रहती है और विलोमतः देह बिखर-बिखरकर वापस भूतोंमें लीन होते रहते हैं। बस यही कार्य-कारण-परम्परा चलती रहती है। कार्य-कारणसे परे कोई वस्तु नहीं है।

२. जैनका कहना है कि कार्य-कारणसे रहितकी दशा साधनसे बनायी जा सकती है। चार्वाक तो कहता है कि ऐसी दशा कोई है ही नहीं, परन्तु जैनका कहना है कि जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिए एक ऐसी दशा बनायी जा सकती है जहाँ न कार्यके समान मरना पड़ेगा और न कारणके समान फूटना पड़ेगा। वह उत्पाद्य-दशा होगी। यह कैसे होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं कि सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् संकल्प और सम्यक् समाधिके द्वारा जब जीव बिलकुल निर्दोष हो जायेगा, (अष्टादश दूषण;-रहित हो जायेगा), उज्ज्वल होकर जगमग-जगमग चिन्मात्र रह जायेगा, जब उसका पुद्गलके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जायेगा, तब वह जीव-अजीव द्रव्यसे विनिर्मुक्त हो जायेगा। यही कार्य-कारणसे परेकी दशा है। वहाँ जीव अपने शुद्ध स्वरूपमें जाज्वल्यमान ज्योतिके-रूपमें प्रकाशित रहता है। वहाँ न देश है, न काल और न द्रव्य; वहाँ मन नहीं है वह देश, काल, वस्तुसे अतीत, दोष-गुणातीत, अवस्था है।

स्मरण रहे कि यह अवस्था उत्पाद्य है।

३. बौद्ध-दर्शनोंका कहना है कि कार्य और कारण दोनों भ्रम हैं। असलमें ये प्रत्ययमात्र हैं। बौद्धोंके दो विभाग करके यह एक

विभागकी बात सुनायी (क्षणिक विज्ञानवादियोंकी) । वेदान्तियोंने अपने विचारकी सुविधाके लिए बौद्ध-दर्शनोंको चार विभागोंमें बाँट रखा है—

बाह्यार्थशून्यवादी, अन्तरार्थशून्यवादी, उभयार्थशून्यवादी और अनुभयार्थशून्यवादी ।

परन्तु इनमें दो ही मुख्य हैं—बाह्यार्थशून्यवादी या क्षणिक-विज्ञानवादी और उभयार्थशून्यवादी या शून्यवादी ।

(i) क्षणिकविज्ञानवादियोंका कहना है कि विज्ञान ही कार्य-कारणके रूपमें भासता है । उदाहरणार्थ, जैसे स्वप्नमें एक क्षणिक विज्ञान ही पृथिव्यादि पंचभूतोंके रूपमें भासता है और वही उनसे बने हुए पुतलोंके रूपमें भी भासता है । स्वप्नमें बाप भी भासता है और बेटा भी, परन्तु कारण बाप और कार्य बेटा, दोनों भ्रम हैं क्योंकि दोनों विज्ञानमात्र हैं ।

इसी प्रकार कार्य-कारणकी प्रतीति भ्रम है । कार्य भी भ्रम है क्योंकि वह किसीसे पैदा नहीं हुआ और कारण भी भ्रम है क्योंकि उससे कुछ उत्पन्न नहीं हुआ । कार्य और कारणमें कोई सम्बन्ध भी नहीं है । सम्बन्ध भी भ्रममूलक है । कार्य, कारण और कार्य-कारण सम्बन्ध, तीनों भ्रम हैं और ये सब-के-सब प्रत्ययमात्र हैं । प्रत्ययमें कोई नित्यकाल होता है, यह भी भ्रम है और प्रत्ययमें कोई बाहर और भीतरका देशमूलक भेद होता है, यह भी भ्रम है । इसलिए प्रत्येक प्रत्यय स्वतन्त्र है । पूर्व-प्रत्ययका पश्चात्-प्रत्ययके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तथा पूर्व और पश्चात्का जो भाव है वह भी प्रत्यय है । यह जो अन्तः-बाह्यका भाव है वह भी प्रत्यय है । ये सब अलग-अलग स्वतन्त्र प्रत्ययोंकी धारा बहती रहती है । वे लोग इन अलग-अलग स्वतन्त्र प्रत्ययोंको क्षणिक विज्ञान कहते हैं ।

(ii) शून्यवादी कहते हैं कि विज्ञानवादियोंकी बात तो ठीक है। परन्तु जब कार्य, कारण, कार्य-कारण-सम्बन्ध, अन्दर, बाहर, पूर्व, पश्चात्, आगे, पीछे, सब कुछ भ्रम ही है तो सब कुछ (जो भी अनुभवमें आता है) भ्रम हो जानेपर तत्त्व क्या बचा ? व्यावहारिक दृष्टिसे सब कुछ भ्रम है और तत्त्व तो शून्य ही शेष रहा।

इनके मतमें, वृत्तिकी दृष्टिसे कार्य-कारण भ्रम है; और शून्यतत्त्वकी दृष्टिसे कार्य-कारण है ही नहीं। शून्य चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। अतः कोई वस्तु तत्त्वतः न सत् है, न असत् है, न सदसत् है और न सदसत्से भिन्न है।

शून्यं माध्यमिकादयः

माध्यमिक बौद्ध शून्यको ही तत्त्व मानते हैं—

निष्कर्ष यह कि कार्य-कारण मिथ्या है और कार्य-कारणसे परे शून्य है।

४. उपासक लोग कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत्का जो कर्ता है, सर्वज्ञ सर्वशक्ति-परमेश्वर, वह कार्य-कारणसे असंस्पृष्ट है। वह जगत्का उपादान कारण नहीं है बल्कि निमित्त कारण है।

यत् उपादाय कार्यं प्रवर्तते, तत् उपादानम्।

कार्य जिस वस्तुको अपने अन्दर लिये हुए होता है उसको उपादान कारण बोलते हैं। उदाहरणार्थ घड़ा अपने अन्दर मिट्टीको लिये होता है इसलिए मिट्टी घड़ेका उपादान कारण है परन्तु वह कुम्हारको अपने अन्दर लिये हुए नहीं रहता; अतः कुम्हार घड़ेका उपादान कारण नहीं है। परन्तु कुम्हारके बिना घड़ा बन भी नहीं सकता। कुम्हार भी होना चाहिए, उसे घड़ेका ज्ञान भी होना चाहिए, उसमें घड़ेको बनानेकी शक्ति भी होनी चाहिए और उसको यह भी स्वातन्त्र्य होना चाहिए कि वह जब चाहे घड़ेको चाकपर-से उतार ले। कुम्हार घड़ेका निमित्त कारण है।

इसो प्रकार ईश्वर जगत्का निमित्त कारण है। जैसे कुम्हार मिट्टीकी कार्य-कारणतासे अछूता रहता है वैसे ही ईश्वर जगत्को कार्य-कारणतारूप विकारसे असंस्पृष्ट रहता है।

अद्वैतकी दृष्टिसे भक्ति-दर्शनका अन्तर्भाव न्याय-दर्शनके अन्तर्गत होना चाहिए। और भक्तोंकी दृष्टिसे यह स्वतन्त्र दर्शन है। ये जो उदयनाचार्य आदि हैं वे ईश्वरको सृष्टिसे अलग सिद्ध करके भक्तिके प्रतिपादनमें सहायक हैं। वैसे श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज, श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज न्यायसिद्ध परमेश्वरका बड़ा आदर करते हैं। श्री निम्बार्काचार्य महाराजजी तो सप्रमाण ईश्वरको सिद्ध करते हैं—ऐतिह्यसिद्ध ईश्वर, अर्थापत्तिसिद्ध ईश्वर अनुपलब्धिसिद्ध ईश्वर। बहुत प्रकारसे वे ईश्वरको सिद्ध करते हैं।

५. 'न्याय-वैशेषिकका' कहना है कि उपादान कारण तो है परमाणु, निमित्त कारण है ईश्वर और कार्य है यह पाञ्चभौतिक जगत्। यद्यपि उपादान कारण तो कार्य-कारणसे परे नहीं है तथापि जो निमित्त कारण ईश्वर है वह कार्य-कारणके अन्तर्गत नहीं है। दृष्टान्ततः घट, मृत्तिका और कुम्हार परमाणुओंके संयोगसे घट बनता है और घट नष्ट होकर पुनः परमाणु हो जाता है। कुम्हारका इनसे क्या मतलब ?

न्यायसिद्ध ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है, परन्तु यह अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है। जैसे घटका कर्ता घट और मृत्तिकासे पृथक् चेतन कुम्हार होता है वैसे ही जगत्का कर्ता जगत् और परमाणुसे पृथक् चेतन (ईश्वर) अवश्य होना चाहिए।

ईश्वर कर्ता है, ईश्वर ज्ञाता है और ईश्वर सर्वसमर्थ है। वह ईश्वर कार्यकारणातीत है, अनुमान-सिद्ध है और जीव उसके अधीन है। जीव जो है वह धर्माधर्म, इच्छा, संस्कार, प्रयत्न, राग-द्वेष, ज्ञान गुणवाला है और वह ईश्वरका नियम्य है।

कार्य-कारणमें फँसा हुआ जीव दुःखी है और जबतक इनमें फँसा रहेगा तबतक दुःखी रहेगा। न्यायशास्त्रमें इक्कीस प्रकारके दुःख माने हैं। उसमें शरीर धारण करना भी एक दुःख है। प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थ हैं जिनमें आत्मा भी एक पदार्थ है। आत्मा दो प्रकारका है—जीवात्मा और परमात्मा (ईश्वर)। इनका ठीक ज्ञान होनेपर ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है। कार्य-कारणसे अतीत परमेश्वर है, वह सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वसमर्थ है। उसकी उपासना करो, भक्ति करो, उसका हुकुम मानो। यही वेदका वचन है—

तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्।

स्मरण रहे कि न्यायका ईश्वर अनुमान-सिद्ध है। वेदान्तमें अनुमानको अकिंचित्कर मानते हैं। वेदान्तियोंका कहना है कि किसी भी प्रमाण द्वारा वस्तुका साक्षात्कार होना चाहिए, उस वस्तुपर विश्वास नहीं होना चाहिए। वैसे प्रमाणकी व्यवस्थाके लिए न्यायदर्शनने तथा पदार्थकी व्यवस्थाके लिए वैशेषिक दर्शनने बहुत काम किया है।

भक्त लोग जब भी अपने इष्टदेवका वर्णन करते हैं तो उसे कार्य-कारणसे परे कहते हैं। यथा—

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्। (तुलसीदासजी)

५. सांख्यका कहना है कि परमात्मा प्रपञ्चके परे नहीं उरे है। जहाँसे हम प्रपञ्चको देखते हैं वहाँ परमात्मा है। परमात्मा 'वह' नहीं (न्यायादिकी तरह), वह 'मैं' है।

प्रपञ्चको बनाकर आदिमें बैठनेवाला परमात्मा नहीं है; प्रपञ्चको मिटाकर अन्तमें बैठनेवाला परमात्मा नहीं है और अलग बैठकर प्रपञ्चको बनानेवाला परमात्मा नहीं है। जो प्रपञ्चको देख रहा है, ज्ञानमात्र, द्रष्टा, सो परमात्मा है। यह द्रष्टा कार्यं-कारणातीत है।

सांख्य चार प्रकारके तत्त्व मानता है—प्रकृति, प्रकृति-विकृति, कार्य और पुरुष। कारण प्रकृति है, महत्तत्त्वादि प्रकृति-विकृति हैं, पञ्चभूत कार्य हैं और पुरुष न कार्य है, न कारण।

इस प्रकार कार्य-कारण सत्य है; परन्तु द्रष्टा कार्य-कारणसे परे है, यह योग और सांख्यमत है। कार्य-कारण सत्य है और ईश्वर कार्य-कारणसे परे है यह न्यायवैशेषिक मत है। कार्य-कारणसे परे शून्य है, शून्यवादी बौद्धोंका मत है। कार्य-कारण भ्रम है, यह विज्ञानवादी बौद्धोंका मत है। कार्य-कारणसे परेकी अवस्था साधन-से उत्पन्न की जा सकती है, यह जैनोंका मत है। और कार्य-कारण द्रव्यात्मक हैं और यह सत्य है तथा कार्य-कारणसे परे कुछ है ही नहीं, यह चार्वाक मत है। अब वेदान्तकी बात कहते हैं—

न्यायदर्शन तत्-पदार्थको (ईश्वरको) सांख्यदर्शन त्वं-पदार्थ (द्रष्टा)-को कार्य-कारणसे परे बताता है। अब वेदान्त कहता है कि तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थ दो नहीं हैं, एक ही है। इस एकत्व-ज्ञानकी विशेषता यह है कि इस ज्ञानसे ही—बौद्धोंके समान कार्य-कारण जो है वह शून्य अथवा भ्रममात्र हो जाता है; सांख्ययोगके समान द्रष्टा अपना आत्मा हो जाता है।

न्यायके समान ईश्वर अपना आत्मा हो जाता है।

जैनोंकी जो साधन-साध्य स्थिति है वह अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और चार्वाकोंके कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चकी एकमात्र सत्यताके समान परिवार और सम्बन्धियोंका मोह मिट जाता है।

प्रत्येक दर्शनका एक उपयोग है। चार्वाकने मोह-ममता मिटायी; जैनने असाधन दूर किया, बौद्धोंने देश,काल,वस्तुको प्रत्ययमात्र बना दिया; सांख्यने सबका साक्षी आत्मा (त्वं-पदार्थ) सिद्ध कर दिया; न्यायवैशेषिकने तत्-पदार्थ ईश्वर सिद्ध कर दिया; और वेदान्तने तत् और त्वं दोनों पदार्थोंको एक कर दिया।

वेदान्तका यह चरम सिद्धान्त भगवान्ने यों कहा—

आत्मा स भोक्तुरित्यपरे।

भोक्ताका आत्मा ईश्वर है। इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है।

इधर तुम भोक्ता बनकर बैठे हो और उधर वह सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् बनकर बैठा है। तब 'वह' भोक्ताकी आत्मा कैसे हो सकता है? इसीके उत्तरके लिए वेदान्त-विचारका प्रारम्भ है!

प्रश्न यह है कि जिस शून्यको या ईश्वरको या द्रष्टाको या साधनजन्य अवस्थाको तुमने कार्य-कारणातीत जाना है उसका कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चके साथ व्यवहारमें क्या प्रयोजन है? आखिर इन सभी कार्य-कारणातीत तत्त्वोंमें अन्तर क्या है?

शून्य निष्प्रयोजन है, भला शून्यसे किसीको क्या मिलेगा? साधन-साध्य कार्य-कारणातीत अवस्थासे दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। अनुमित कार्य-कारणातीत ईश्वरसे भक्ति-सुख मिलता है और विविक्त कार्य-कारणातीत द्रष्टासे तटस्थ सुखकी प्राप्ति होती है।

वेदान्त-बोधित कार्य-कारणातीत वस्तुके ज्ञानकी विशेषता है कि उसका तत्त्वमस्यादि महावाक्यों द्वारा ज्ञान होनेपर, अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य-बोध होनेपर, कार्य-कारणकी पृथकताका ही बोध हो जाता है। कार्य-कारण भी स्वरूप हो जाता है। इसका फल होता है मोक्ष। मोक्ष माने परम स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति और सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्ति। जाति-बन्धन, आश्रम-बन्धन, वर्ण-बन्धन, सम्प्रदाय-बन्धन, धर्म-बन्धन, शास्त्र-बन्धन, ईश्वरकी अधीनतारूप बन्धन, अपने अभिमानरूप-बन्धन, परिच्छिन्नतारूप-बन्धन सब बन्धनोंसे मुक्ति ब्रह्मज्ञानका फल है। यह उच्छृङ्खल स्वातन्त्र्य प्रदान करता है क्योंकि मोक्षमें जो [बाधक कार्य-कारणता है उसका बोध हो जाता है—यह वेदान्तकी विशेषता है।

केवल मुक्ति-दशामें ही मुक्ति नहीं होती। वेदान्तकी मुक्ति व्यवहारदशामें भी होती है। औरोंकी मुक्ति हो बैकुण्ठमें या शून्य-दशामें, दूषण-रहित अवस्थामें या समाधिमें, मगर वेदान्तकी मुक्ति तो इसी जोवनमें और अभी है। और मुक्ति भी छोटी-मोटी नहीं, ऐसी मुक्ति है यह वेदान्तकी कि इसमें ईश्वरकी भी पराधीनता नहीं रहती कि जब ईश्वर चाहे तब जन्म दे दे और जब न चाहे तब न दे; इसमें तो जीवकी परिच्छिन्नताका ही भंग हो जाता है।

इस प्रकार मतभेद तो बहुत सारे हैं। सबके पक्षमें युक्ति हैं, वचन है और तदाभास भी हैं। उनका आश्रय लेकर लोग विप्रतिपन्न हैं—

एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः।
(भाष्य)

वेदान्तमें शब्दको प्रमाण माना जाता है। एक शब्द वह होता है जो कानसे सुना जाता है, यानी जिसका प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रियसे होता है। वह शब्द प्रमाण नहीं है वह तो प्रमेय है और श्रवणेन्द्रिय उसमें प्रमाण है। वेदान्त इस प्रमेय शब्दको प्रमाण स्वीकार नहीं करता। शब्द-प्रमाण वस्तुतः अर्थावबोधक-प्रमाण है।

वेदान्तमें शब्द-प्रमाण भी दो तरहके होते हैं—(१) अतत्त्वबोधक प्रमाण, जो शब्द-स्पर्शादिका ज्ञान कराये या कर्ता, भोक्ताका ज्ञान कराये। (२) तत्त्वबोधक प्रमाण, जो नामरूपसे विनिर्मुक्तका, आकारके आरोपसे विनिर्मुक्तका, ब्रह्मात्मैक्यका बोध करावे। तत्त्वबोधक प्रमाण गुणके बोधक नहीं होते और मिथ्या पदार्थोंके बोधक नहीं होते, वरन् उनके अधिष्ठान सत्यके बोधक होते हैं। वे आकारसे विनिर्मुक्त आत्माका अभेदरूपसे ज्ञान करानेवाले होते हैं।

श्रुति-प्रमाणोंका ठीक विवेक न होनेके कारण युक्ति और युक्त्याभासका आश्रय लेकर आत्माके विशेषस्वरूपमें अनेक विप्रतिपत्ति हैं।

कहो कि चाहे जिस विचारको ठीक मान लो—इसमें हानि हो क्या है ? तो इसपर कहते हैं कि यदि बिना विचार किये किसी भी मतको मान बैठे तो मोक्षमें बाधा पड़ेगी, कल्याणमें प्रतिघात होगा और अनर्थकी भी प्राप्ति होगी।

तत्राविचार्य यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत् अनर्थं चेयात्। (भाष्य)

निःश्रेयस क्या ? वेदान्तोंमें इसका विवेक आया है कि मनुष्यके सामने दो प्रकारकी वस्तुएँ आती हैं—श्रेय और प्रेय। जो वस्तुएँ वर्तमानमें और भविष्यमें भी सर्वदा कल्याणकारी हों और सच्ची हों वे श्रेय कहलाती हैं। इसके विपरीत जिसको देखकर इन्द्रियाँ तो तुरन्त प्रसन्न हो जाँय परन्तु परिणाममें जो हानिकारक हों वे प्रेय कहलाती हैं। बुद्धिमान् मनुष्य श्रेयका वरण करते हैं और जो मन्द बुद्धि हैं वे प्रेयका वरण करते हैं—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
(कठोपनिषद् १.२.२)

गीतामें इसका विवेक दूसरे ढंगसे है—वहाँ कहा है कि जो वस्तु पहले सुख दे और परिणाममें दुःख दे वह राजस है। जो वस्तु पहले भले ही दुःख दे परन्तु परिणाममें सुख दे वह सात्त्विक है। जो वस्तु पहले भी दुःख दे और परिणाममें भी दुःख दे वह तामस है। सात्त्विक वस्तुएँ श्रेय प्रदान करनेवाली हैं और राजस तथा तामस वस्तुएँ प्रेयकी ओर अभिमुख करती हैं।

पहले आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यानमें भले ही कष्ट हो

परन्तु परिणाममें सुख देनेवाली हैं। अतः ये श्रेय हैं। जैसे पांच सौ वर्षसे बनी झोपड़ी उजाड़नी पड़े और उसके स्थानपर महल बनता हो तो उस झोपड़ीको उजाड़ देते हैं, उसी प्रकार देह-इन्द्रियोंको सुख देनेवाली वस्तुओंसे मन हटानेपर यदि अनन्त तृप्ति देनेवाली वस्तु मिलती हो तो उन वस्तुओंको छोड़ देना चाहिए। केवल मोहके द्वारा गुजर-बसर कर लेना या गम-गलत कर लेना, यह मोहका मार्ग है—प्रेयका मार्ग है।

अब निःश्रेयस क्या हुआ ? निरतिशय श्रेयस् जो हो, जिससे बड़ा और कोई श्रेयस् न हो, वह हुआ निःश्रेयस। निःश्रेयसका अर्थ इस प्रकार मोक्ष है। वेदान्तोक्त मोक्ष, जिसमें सम्पूर्ण अनर्थोंका अत्यन्ताभाव है और जो परमानन्दस्वरूप है।

'निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत्, अर्थात् मोक्षमें बाधा पड़ेगी। प्रति-हन्येत्का अर्थ है बाधा होना, प्रतिघात होना।

यदि कहो कि वेदान्तोक्त मोक्ष हमको नहीं चाहिए। फिर हम विचार क्यों करें ? इसपर कहते हैं कि 'अनर्थं चेयात्,' अर्थात् अनर्थकी प्राप्ति होगी।

अनर्थ क्या ? ये जो चार पुरुषार्थ होते हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इनके विपरीत जो होता है उसे अनर्थ बोलते हैं। धर्मके विपरीत अधर्म, अर्थके विपरीत दारिद्रय और हीन भावना, कामके विपरीत संकल्पकी विफलता और मोक्षके विपरीत बन्धन होता है। यदि विचार नहीं करोगे तो यही अनर्थ आपके पल्ले पड़ेगा।

यदि चार्वाककी बात मान ली तो धर्मकी जगह अधर्म मिलेगा; क्योंकि चार्वाक-सिद्धान्तमें आत्माके दीर्घकालीन जीवनका ध्यान नहीं रखा गया, केवल देह और दैहिक सुखका ही ध्यान रखा गया है। फिर क्या आश्चर्य कि धर्मसे वंचित हो जाना पड़े।

यदि अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानकर आपमें हीनताका

भाव आ गया, तो आप अर्थसे भी वंचित हो जायेंगे। आपके मनमें कामजन्य सुखकी भी स्फूर्ति नहीं होगी और भोग तो मिलेगा ही नहीं। रह गया मोक्ष सो वह तो मिलना असम्भव ही है। बन्धन ही शेष रहेगा। संकल्प-पूर्तिकी जगह संकल्प-प्रतिघात मिलेगा, धनकी जगह गरीबी मिलेगी, धर्मकी जगह अधर्म मिलेगा और मोक्षकी जगह बन्धन मिलेगा, यदि आप विचार नहीं करते हैं तो।

यदि देहको ही सब कुछ मानोगे तो मरना ही मुक्ति होगी। इसका अर्थ है कि चार्वाक-मतमें अपनेको अमर समझना अज्ञान है। धर्मके लिए दान देना, व्रत करना, सदाचारका पालन करना, भजन करना, यज्ञ करना, वेद-वेदान्त मानना, सत्संग करना, सब कुसंस्कार हो जायेगा और जिंदगीके लिए जहर हो जायेगा।

यदि बौद्धोंकी बात मानोगे तो प्रत्ययकी अखण्डताका भ्रम मिट जाना ही मोक्ष होगा। उसका अर्थ है कि जीवन ही कट गया, जीवनकी धारा समाप्त हो गयी।

शून्य ही आत्मा है, यदि इस बातको मानोगे तो मानना पड़ेगा कि निर्वाण ही मोक्ष है। निर्वाण माने होता है बुझ जाना। जैसे दीपककी लौ बुझ गयी। उसमें-से अब प्रकाश वापस नहीं आ सकता। यदि बुझ जाना ही मोक्ष है तो मिला क्या? न कुछ सुख मिला न ज्ञान! अच्छा, निर्वाण हो गया या आत्मोच्छेद हो गया—यह ज्ञान कैसे हुआ? शून्य यदि ज्ञानस्वरूप नहीं है तो निष्प्रयोजन है।

यदि जैनोंकी बात मान ली तो? यदि पाप-पुण्यका लेप स्वाभाविक है, यदि जन्म-मरण स्वाभाविक हैं, तो साधन करके भी जिस कार्य-कारणातीत मोक्षावस्थाको प्राप्त हुए हैं, उस अवस्थामें हम बने ही रहेंगे इसका क्या भरोसा है? साधनजन्य

अवस्था सब अनित्य होती हैं। तब आत्माका मोक्ष भी अनित्य होगा। वह साधनसे पहले नहीं था, कालमें कभी नहीं रहेगा।

हम साधनका खण्डन नहीं करते हैं। विचारके लिए बात रखते हैं।

यदि आत्माको कर्ता मानोगे तो कैसा मोक्ष मिलेगा?

प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः।

प्रपञ्चके साथ अपने सम्बन्धके विलयका नाम मोक्ष है, जैसे सुषुप्ति-दशामें होता है। सुषुप्तिमें 'मैं बाप, वह बेटा' इत्यादि सम्बन्ध नहीं फुरते हैं, तो क्या वह मोक्षदशा है? यदि मोक्षकी सुषुप्तिवत् कोई अन्य अवस्था भी हो (जैसे समाधि) तो क्या वह अवस्था कभी बदलेगी नहीं? बदलेगी तो मोक्ष भी अनित्य होगा।

जब कर्मियोंने इस प्रपञ्चसम्बन्ध-विलय-दशाको मोक्ष माना, तो उनकी दृष्टिमें कर्मका फल कर्म-विश्रान्ति हुआ। जैसे लम्बी नौकरीका फल एक अच्छी पेंशन होता है!

यदि उपासकोंकी बात मानोगे तो उपास्यैकारिताको मोक्ष मानोगे। अब यह उपास्यकी इच्छा है कि आपको अपनी नगरीमें रखे (सालोक्य मोक्ष) या आपका वेष अपना जैसा बनाकर अपना मुसाहिब बनाले (सारूप्य मोक्ष) या आपको अपने अंगोंका भूषण बनाकर रखे (सामीप्य मोक्ष) या आप अपने प्रेमोके रसगुल्ले बनकर उनके विग्रहके अङ्ग बन जायँ (सायुज्य मोक्ष) और या वह आपको कहींका गवर्नर बना दे (सार्ष्टि मोक्ष)।

यदि आप सांख्यकी बात मानेंगे तो प्रपञ्च-सम्बन्ध-निवृत्तिरूप मोक्षको स्वीकार करना पड़ेगा। यहाँ प्रपञ्च सम्बन्धका विलयरूप मोक्ष नहीं है बल्कि निवृत्तिरूप मोक्ष है, क्योंकि सांख्यमें विवेकख्याति साधन है। देखते रहना दुनियाको टुकुर-टुकुर! दुनियाके

साथ आपका कोई सम्बन्ध नहीं फुरेगा। यदि भोक्ताके अभ्यास-वशात् फुरेगा तो विवेक और अभ्यास बलसे समाप्त हो जायगा।

क्या यह मोक्षदशा उस पुरुष-जैसी नहीं है जो अपनी तलाक दी हुई पत्नीको देखता भर तो है परतु उसके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। इसपर सांख्यका पुरुष तो द्रष्टा है और भोक्ता है परन्तु कर्ता नहीं है।

वेदान्तका मोक्ष सबसे विलक्षण है। यह द्वैताभाव-ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध सम्बन्धी-भावकी निवृत्ति है।

श्रीमद्भागवतमें प्रलयोंका वर्णन आया है। वहाँ चार प्रकारके प्रलय बताये गये हैं—नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय।

सृष्टि निरन्तर बदल रही है, यह नित्य प्रलय है। क्या समुद्रमें वही जल है जो कल था ? फिर ज्वार-भाटोंका क्या हुआ ? क्या गंगामें वही जल बह रहा था जो कल था ? फिर गंगाके प्रवाहका क्या हुआ ? क्या दीपककी लौ वही है जो एक घंटे पूर्व थी ? फिर तेल और बत्तीके जलनेका क्या हुआ ? मेरे भाई ! सृष्टि प्रतिक्षण बदल रही है। हमने अन्तर्दृष्टिसे देखा है कि हमारा मन जितना चञ्चल है, हमारे मनःकण जितने प्रवाही हैं, ये स्थूल भौतिक कण भी उतने ही प्रवाही और चञ्चल हैं। यह तो सादृश्यके कारण भ्रम होता है कि 'यह वही है जो कल था।'

किसी निमित्तसे जैसे बाढ़से, भूकम्पसे, पृथिवी या ब्रह्माण्डका ध्वंस हो जाना नैमित्तिक प्रलय है।

सम्पूर्ण कार्य और कार्य-कारण जब अपने मूल कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं तब प्राकृत प्रलय होता है। प्राकृत प्रलयमें महत्तत्त्व अपने कार्यके सहित प्रकृतिमें लीन हो जाता है या यों कहो कि हिरण्यगर्भ ईश्वरमें सो जाता है।

चौथा आत्यन्तिक प्रलय है। यह प्रवाह रूपसे नित्य प्रपञ्च-धाराका आत्यन्तिक प्रलय इसके अधिष्ठान और प्रकाशकी एकताके ज्ञानसे होता है। आत्यन्तिक माने जिसके बाद प्रपञ्चाकारिताका उदय ही न हो। प्रपञ्चाकार चाहे भासे या न भासे, परन्तु प्रपञ्च सत्य न रहे। यह आत्यन्तिक प्रलय है। सब पुराणोंमें इसका वर्णन है।

जैसे कोई मनुष्य मरनेके बाद पुनर्जन्म न ले, उसी प्रकार यह निखिल प्रपञ्च जो है वह अधिष्ठान-ज्ञानसे बाधित हो जानेके बाद सत्तावान् न रहे, यह आत्यन्तिक प्रलय है। कैसे निष्पन्न होगा यह प्रलय ? तो भागवतमें कहा है—

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्याम् आद्यन्तवद्वस्तु यत्॥

(भागवत १२.४.२३)

अन्तःकरण, इन्द्रियां और विषयोंके रूपमें ज्ञान ही भास रहा है। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च दृश्य है और द्रष्टासे व्यतिरिक्त नहीं है, क्यों ? जो आदि अन्तवाली है वह तो वस्तु ही नहीं है।

अधिष्ठानसे व्यतिरिक्त अध्यस्तकी सत्ता नहीं है। इसलिए यह सम्पूर्ण कार्य-कारण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व ही है।

इस ज्ञानके होनेपर क्या होगा ? आत्यन्तिक प्रलय हो जायेगी। यही वेदान्तोक्त मोक्ष है। जन्म-मरण-प्रवाहकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप जो निःश्रेयस् मोक्ष है वह सिवाय वेदान्तके किसी अन्य मतमें संभव नहीं है। यह विचार करके देख लो।

ब्रह्मसूत्रका अन्तिम सूत्र है—अनावृत्तिः शब्दात्। माने ब्रह्म-सूत्र उस मोक्षका प्रतिपादन करता है जिसमें आवर्तन नहीं होता, पीछे लौटना नहीं पड़ता, अर्थात् आत्यन्तिक प्रलय ही वेदान्त-दर्शनका मोक्ष है।

नित्य, नैमित्तक और प्राकृत प्रलयोंमें आवर्तन होता है; क्योंकि सबमें लय और उदयकी प्रक्रिया चलती रहती है; परन्तु आत्यन्तिक प्रलयमें आवर्तन नहीं होता।

परमाणुओंका परिवर्तन आवर्तनरूप है। वे जीवरूपी चुम्बकके चारों ओर घूमते रहते हैं। भगवान्‌के साथ ऐक्य भी आवर्तनरूप है क्योंकि ऐक्य भगवदनुग्रहके बिना होता नहीं और यदि भगवदिच्छासे ऐक्य (सायुज्य) सम्भव हो सकता है—उदाहरणार्थ श्रीराधारानी भगवान्‌से ऐक्य होनेपर भी भगवदिच्छासे अलग रहती हैं। वैष्णवोंने भगवान् और श्रीराधारानीका भेदाभेदरूप सम्बन्ध ही माना है।

फिर अनावृत्तिरूप मोक्ष कहाँ है? वह ब्रह्मका स्वतःसिद्ध स्वरूप है और वह केवल अविद्याके द्वारा आवृत है। इसलिए अविद्याकी निवृत्तिके लिए वेदान्तका विचार, ब्रह्मजिज्ञासा, आवश्यक है।

तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तद-
विरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

तस्मात् = इसलिए। कस्मात्? किसलिए? क्योंकि विचार न करनेसे मोक्षमें बाधा और अनर्थकी प्राप्ति होगी इसलिए हम ब्रह्मजिज्ञासाका उपन्यास करते हैं। अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासाका प्रारम्भ करते हैं।

यह 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस विचारका मुख है मुख माने प्रारम्भ। इसीसे 'आमुख' शब्द बना है।

प्रश्न यह है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' स्वयं इससे आगे कहे जानेवाले वेदान्तदर्शनका भाग है या नहीं? यह सूत्र तो ग्रन्थकी प्रतिज्ञामात्र है, ग्रन्थका भाग कैसे हो सकता है?

इसका उत्तर है कि यह भी वेदान्त-दर्शनका भाग है। क्यों? तो कहा कि उपनिषद्‌में ही यह आज्ञा दी गयी है कि 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'। उसकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है। इस वेदान्तका भाव बतानेके लिए ही यह सूत्र है। इसलिए यह वेदान्तसूत्र है। आचार्य कहते हैं कि यह वेदान्तका मुख है— 'उपन्यासमुखेन'।

उपर्युक्त प्रश्न ऐसा ही है जैसे कि 'शरीरको बतानेवाल मुख शरीरका भाग है या नहीं?' है, बाबा! मुख भी शरीरक ही अंग है।

श्रीसायणाचार्यने वेद-भाष्यमें एक प्रश्न उठाया कि ऋग्वेदादि जो हैं उनके वेद होनेमें उपनिषद् प्रमाण हैं या नहीं? बोले नहीं! क्योंकि उपनिषद् तो खुद ही वेद हैं। अपने ही एक अंशमें प्रमाण और एक अंशमें प्रमेय, यह नहीं हो सकता।

वेदान्तमें वक्ताको प्रमाण नहीं मानते। यही कारण है कि वेदान्तमें जैसे बौद्धागम या जैनागम प्रमाण नहीं माने जाते वैसे ही वैष्णवागम या शैवागम भी प्रमाण नहीं माने जाते। इसमें राग-द्वेषकी बात नहीं है, सिद्धान्तकी बात है।

वेदान्तमें कोई वचन आप्तवचन होनेसे ही प्रमाण नहीं होता। वचनमें प्रतिपाद्य वस्तुका उस वचनसे साक्षात्कार होता है या नहीं, यह प्रमाणकी कसौटी है। महान् पुरुषोंसे भी अनजानमें गलती हो जाती है। भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा दोषोंसे विनिर्मुक्त वेदान्त-वाक्य ब्रह्मावबोधक होनेसे प्रमाण माने जाते हैं।

इसलिए आओ! वेदान्त-वाक्योंकी मीमांसा करें। वक्ताके वचनके बोझसे दबकर हम विचार करने नहीं जा रहे हैं। हम उन वेदान्त-वाक्योंकी मीमांसा प्रस्तुत करने जा रहे हैं जिनका प्रामाण्य

सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद-शून्य देश, काल, वस्तुके अधिष्ठान एवं अवभासक दृङ्मात्र जो ब्रह्मतत्त्व है उसके अपरोक्षीकरणमें है। 'वेदान्तवाक्य-मीमांसा।' मीमांसा अर्थात् पूजित विचार।

परन्तु तर्क-वितर्कका क्या करोगे? बोले—जहाँतक अविरोधी तर्क होगा वहाँतक हम तर्कको मानेंगे; परन्तु शास्त्रविरोधी तर्कको नहीं मानेंगे। करछी दाल अच्छी पकानेके लिए होती है उसे जलानेके लिए नहीं। यदि करछीसे दाल जल जाय तो वह किस कामकी? शास्त्रसे अविरोधी तर्क मीमांसाका उपकरण है—'तदविरोधितर्कोपकरणा।'

मनुस्मृतिमें तर्कके सम्बन्धमें बहुत अच्छा कहा है—

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविमोहनात्।
यत्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

'आर्ष और धर्मोपदेशोंका, जो वेदशास्त्रके अविरोधी तर्कोंसे अनुसन्धान करता है उसको ही धर्मका ज्ञान होता है दूसरोंको नहीं।'

ब्रह्ममें तर्क नहीं चलता। तर्कसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता।

तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्रह्मसूत्र)

नैषा तर्केणमतिरापनेया (उपनिषद्)

तर्क माने काटना। केवल काटनेसे काम नहीं चलेगा, कुछ मिलना भी चाहिए। क्या मिलेगा? तो कहा निःश्रेयस मिलेगा। हमारे वेदान्तवाक्य-मीमांसाका प्रयोजन दर्शन-शास्त्रका निर्माण नहीं या कालक्षेप करना नहीं है। उसका प्रयोजन है—निःश्रेयस। 'निःश्रेयसप्रयोजना।'

ऐसी मीमांसा अब हम प्रस्तुत करते हैं—

तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणानिःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

(२. ०.)

जन्माद्यधिकरण

जन्माद्यस्य यतः ॥ १. १. २. ॥

जन्मादि अस्य यतः । इस जगत्की (= **अस्य**) उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय (= **जन्मादि**) जिससे होते हैं (= **यतः**), वह ब्रह्म ।'

(२. १.)

ब्रह्मका लक्षण

ब्रह्मजिज्ञासितव्यमित्युक्तम् किं लक्षणं पुनस्तत् ब्रह्मेत्यत आह भगवान् सूत्रकार :—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्म-स्थितिभङ्गम् समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तु-वृत्तापेक्षं च । श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' **(तैत्ति० ३.१) इतत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात् । अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था । यत इति कारणनिर्देशः । अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल-निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थिति-भङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः ।**

(भाष्य)

अर्थ : (प्रथम अधिकरण में) यह कहा गया कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए । तो उस ब्रह्मका लक्षण क्या है ? इसपर भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि 'जन्माद्यस्य यतः' । (इसमें जन्मादि-

का अर्थ है :) जन्म-उत्पत्ति है आदिमें जिसके वह 'जन्मादि ' है। यह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है। (अतः) उत्पत्ति, स्थिति और भंग, यह समासका अर्थ है। श्रुतिनिर्देशसे तथा (लोक-प्रत्यक्ष) वस्तुस्थितिकी अपेक्षा जन्मादि कहा गया है। श्रुति-निर्देश है : यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते० (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे ये जीवन धारण करते हैं, जिसकी ओर ये सब जा रहे हैं ओर जिसमें ये सब प्रवेश कर जाते हैं, वह ब्रह्म है; उसको विजिज्ञासा करनी चाहिए। इस श्रुतिवाक्यमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका क्रम दिखाई देता है। वस्तुस्थिति भी ऐसी है कि जन्मसे सत्ताको प्राप्त धर्मीको ही स्थिति और प्रलय सम्भव है।

('अस्य'का अर्थ करते हैं :) 'अस्य' प्रत्यक्ष आदिसे सिद्ध धर्मीका 'इदम्' शब्दसे निर्देश है। और 'अस्य' इसमें षष्ठी विभक्ति जन्मादि धर्मोंका धर्मी जगत्के साथ सम्बन्ध लक्षित करनेके लिए है।

(यतः का अर्थ करते हैं :) 'यतः, यह शब्द कारणका निर्देश करता है।

(अतः जन्माद्यस्य यतः का अर्थ है कि) जो नामरूपसे अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ताओं और भोक्ताओंसे संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्तसे क्रिया और फलका आश्रय है एवं मनसे भी अचिन्त्य रचनारूपवाले इस जगत्की (= अस्य) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (= जन्मादि) जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणसे होते हैं (= यतः) वह ब्रह्म है। 'वह ब्रह्म है' यह वाक्य शेष है। ●

प्रथम अधिकरणमें बताया गया कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में यही बताया गया कि ब्रह्म ही

जिज्ञास्य है, उसको पूछो और जानो ! श्रुति उद्बोधन करती है कि 'उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' (कठ० १३.१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उसका बोध करो।'

यहाँ हमारे वचनका अभिप्राय केवल वस्तुके साक्षात्कारमें है—ब्रह्मके ज्ञान, ब्रह्मके साक्षात्कारमें, ब्रह्मविषयक श्रुति या वक्ताके बड़प्पनमें नहीं है। वक्ता अपना बड़प्पन सिद्ध करनेके लिए कहेगा : 'मैंने यह देखा, यह सुना, यह अनुभव किया और वही अब तुमको सुनाते हैं।' परन्तु ब्रह्मवेत्ता लोग अपना 'अनुभव' किसीको नहीं सुनाते, अपितु आपको अनुभव करानेके लिए बोलते हैं। वस्तु यदि प्रत्यक्ष हो तो शब्दसे भी उसका अपरोक्षज्ञान ही होता है, यह बात मालूम होनी चाहिए।

ब्रह्मजिज्ञासितव्यम्—ब्रह्मको जिज्ञासा करनी चाहिए, यह बात कही गयी। इसपर प्रश्न हुआ कि तब ब्रह्मका लक्षण क्या है ? 'किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्म ?' इसका यह भी अभिप्राय है कि क्या ब्रह्मका लक्षण भी हो सकता है ? इसको 'आक्षेपिका संगति' बोलते हैं। आक्षेप इसमें यह है कि ब्रह्मका लक्षण बन हो नहीं सकता। लक्षण तो तब बने जब कहीं रूप हो, गुण हो, क्रिया हो सम्बन्ध हो, जाति हो। निर्विशेष ब्रह्ममें जब यह सब कुछ हैं हो नहीं तो शब्दके द्वारा उसका लक्षण कैसे बने ?

तो बोले, अच्छा आओ ! ब्रह्मका असम्बन्धरूप लक्षण बनायें। जिसका किसीके साथ कोई सम्बन्ध न हो वही ब्रह्म है। परन्तु यह लक्षण सम्भव नहों है; क्योंकि ब्रह्म अद्वितीय है और उपर्युक्त लक्षण बताता है कि ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है तो सही; परन्तु उनका ब्रह्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लक्षणमें 'किसीके साथ कोई'—रूप जो द्वैत रह गया वह अद्वितोय ब्रह्मका लक्षण नहीं बनने देगा।

इसपर सूत्रकारने कहा—अच्छी बात है, हम जगत्कारणत्वरूप लक्षण बनाते हैं। जो जगत्का कारण है, जगत्के जन्मादि जिससे होते हैं, सो ब्रह्म है। 'जन्माद्यस्य यतः' इस लक्षणमें आपत्ति यह है कि कार्य और कारण दोनोंमें दोष होता है। कार्यमें दोष है—विनाशी होना, और कारणमें दोष है परिणामी होना। बीज गोला होता है, फटता है, फूटता है; तब उसमें-से अङ्कुर निकलता है और अङ्कुर बढ़ता है, फलता-फूलता है और नष्ट हो जाता है। तब अविनाशी कूटस्थ ब्रह्मका लक्षण जगत्कारणत्व कैसे बनेगा?

ठीक है, यदि ब्रह्मको जगत्का कारण सिद्ध करनेके लिए ब्रह्मका यह लक्षण बनाते तब तो वह सदोष होता। परन्तु ब्रह्मका जो लक्षण हम 'जन्माद्यस्य यतः' करके बना रहे हैं, वह ब्रह्मको कारण सिद्ध करनेके लिए नहीं बना रहे हैं, वह ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध करने के लिए ही बना रहे हैं।

यहां विचारणीय बात यह है कि सत्यका लक्षण मिथ्या हो सकता है या नहीं? अर्थात् मिथ्या लक्षणसे सत्यका ज्ञान हो सकता है या नहीं?

यदि किसी मनुष्यको समुपस्थित स्थाणुमें चोरका या भूतका भ्रम हो जाय तो उसको स्थाणुका ज्ञान करानेके लिए यही तो कहेंगे कि "तेरी नजरमें जिस स्थान पर जिस वस्तुमें चोर या भूत दीख रहा है, वही तो तुम्हारे चोरका बाप, तुम्हारे भूतका बाप, तुम्हारे चोर और भूतका उपादान वह ठूंठ है, स्थाणु है।"

पुनः एक आदमीको साँप दीख रहा है और दूसरे आदमीने वहीं उसी वस्तुको रज्जु देख रखा है। अब दूसरा आदमी पहलेसे कहता है—'भाई जरा रस्सी ले आओ!' तो पहला क्या कहेगा? वह बोलेगा—'यहां रस्सी कहां है, अरे बाबा, यहां तो साँप है!' अब दूसरे आदमीको पहलेको ज्ञान करानेके लिए क्या कहना

चाहिए ? यही कि "भलेमानुष, वह रस्सी ही साँप बनी हुई है। जिसमें सांपकी उत्पत्ति हुई, जिसमें सांपकी स्थिति है और जिसमें सांपका विलय हो जाता है तथा जिसमें साँप तीनों कालमें है ही नहीं; वह जो सर्पभावाभावोपलक्षित रज्जु है; वही है।"

इस प्रकार सत्य रज्जुका मिथ्या सर्प लक्षण बन गया न !

सर्पभावाभावोपलक्षितत्वं रज्जुत्वम्।

'सर्पके भाव और अभावसे उपलक्षित रज्जु है।' तो मिथ्या वस्तुसे भी सत्यका लक्षण (सत्यको लखानेके लिए) बनाया जा सकता है।

लक्षण वह है 'जिससे वस्तु लखी जाय, देखी जाय, जानी ज़ाय।' वस्तुको पहचाननेका जो उपाय है उसको लक्षण बोलते हैं।

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

'लक्षण और प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि होती है।'—यह दर्शनशास्त्रका प्रसिद्ध वचन है। किसी भी वस्तुको सिद्ध करना हो तो उसका लक्षण और प्रमाण दोनों बताना चाहिए।

सामान्यरूपसे लक्षण और प्रमाणके बिना भेद पहचाननेमें नहीं आता। जैसे आप एक गाय देखते हैं, तो आंखसे गाय देखते हैं। 'गाय है'—इसके ज्ञानमें नेत्र प्रमाण हैं। [यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि प्रमाण उसको कहते हैं जो आपके शरीरमें हो।] सब प्रमाण किसी-न-किसी प्रकारसे वस्तुका निश्चयज्ञान ही करवाते हैं। अनुमानसे भी अग्निका निश्चयज्ञान ही होता है, उपमानसे भी गायका निश्चयज्ञान ही होता है; अनुपलब्धिसे भी अभावका निश्चय ही होता है और अर्थापत्तिसे भी अर्थसिद्ध-वस्तुका निश्चय ही होता है। एक पदार्थ ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष होता है, एक मानस-प्रत्यक्ष होता है, एक साक्षी-प्रत्यक्ष होता है और एक वस्तु है जो स्वयं साक्षी है। परन्तु जबतक वस्तुका 'यथार्थ' अनुभव न हो तबतक प्रमाण क्या ?

दूसरी चीज है लक्षण! गाय आप आंखसे (प्रमाणसे) देखते हैं; परन्तु आंखसे तो गाय भी दिखती है और बकरी भी; हाथी भी दिखता है और घोड़ा भी। गायमें ऐसी क्या विशेष बात है जिससे आप गायको पहचानते हैं? गायके गलेमें जो ललरी लटकती है, गलकम्बल या सास्ना जिसको कहते हैं, कण्ठसे पाँवतक जो लटकती है, वही गायका लक्षण है—

सास्नावत्वं गोत्वम्।

सास्नावती होना गायका लक्षण है। अब गाय बकरीसे अलग हो गयी, घोड़ेसे अलग हो गयी, हाथीसे अलग हो गयी।

अच्छा, कोई कहे कि 'शृङ्गवत्वम् गोत्वम्' अर्थात् सींगवाला होना गायका लक्षण है, तो क्या यह गायका लक्षण बना? नहीं बना। क्योंकि सींग तो बकरी, भैंस, हरिणमें भी होते हैं। इससे गायका अन्य सींगवाले पशुओंसे व्यावर्तन (=पृथक्करण) नहीं हुआ। अतः इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष है। अर्थात् जो लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्ष्यमें भी घटता हो, वह लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त है।

लक्षण तीन दोषोंसे मुक्त होना चाहिए—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव। जो लक्षण लक्ष्यमें व्यापे ही नहीं वह अव्याप्ति दोषवाला है। जैसे कोई कहे कि 'जिसके खुर फटे न हों वह गाय है।' तो यह अव्याप्ति युक्त लक्षण है गायका, क्योंकि यह लक्षण तो गायमें घटता ही नहीं (गायके खुर फटे होते हैं)। जो लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अन्यमें भी घटित हो, वह अतिव्याप्ति दोषवाला है। जैसे 'शृंगवाला होना गायका लक्षण है'। इसकी चर्चा अभी कर ही चुके हैं। जो लक्षण कभी किसीमें घटित ही न हो, वह असम्भव दोष-वाला लक्षण है। जैसे कोई कहे 'एक खुरवाला पशु गाय है'। तो यह लक्षण असम्भव है क्योंकि किसी भी गायके एक खुर नहीं होता

लक्षणके बारेमें एक बात प्राय: यह देखनेमें आती है कि लक्षण जिस वस्तुका होता है वह (लक्षण) उसी वस्तुमें रहता है ; जैसे आपको पृथिवीका प्रत्यक्ष करना है तो गन्धवती होना पृथिवीका लक्षण है और नाकसे गन्ध सूँघी जाती है। अत: गन्ध पृथिवीका लक्षण है और घ्राणेन्द्रिय (नाक) पृथिवीके सम्बन्धमें प्रमाण है। हमारे यहाँ पदार्थ लक्षणके लिए वैशेषिक-दर्शनमें और प्रमाण-व्यवस्थाके लिए न्याय-दर्शनमें बड़ी गम्भीरताके साथ विचार किया गया है। (पदार्थके यथार्थ ज्ञानका कारण है और एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका व्यावर्तक लक्षण है)।

असलमें विचार करना है ब्रह्मका। ब्रह्मका लक्षण क्या है और प्रमाण क्या है ?

यदि ब्रह्म किसी एक इन्द्रियका विषय होता या सब सम्मिलित इन्द्रियोंका विषय होता या मन-बुद्धिका विषय होता या स्वयं साक्षीका विषय होता, तो हम किसी भी प्रमाणके द्वारा (आँख या नाक या कान या त्वचा या रसना या इन सबके द्वारा), या मनमें बैठे हुए भावनाजन्य संस्कारके द्वारा या संस्कारानुसारी विचारके द्वारा या अप्रमाणके द्वारा (जैसे सुषुप्तिका ज्ञान बिना किसी प्रमाणके सीधे साक्षीके द्वारा होता है) हम ब्रह्मको देख सकते।

यदि गन्धादिक विषयोंके समान ब्रह्म होता तो वह इन्द्रियोंसे दीखता। यदि भावनासे भावित ध्येय मूर्तिके समान (रामकृष्णादिकी मूर्तिके समान) ब्रह्म होता तो वह मनसे दीखता। यदि संस्कारानुसारी विचारके द्वारा धर्म आदिके समान ब्रह्म उद्बोधित होता तो उसका बुद्धिसे ग्रहण होता। यदि वह सुषुप्तिके समान साक्षीभास्य होता तो हम ब्रह्मको बिना किसी मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि प्रमाणोंके द्वारा स्वयं ही ब्रह्मको देख लेते।

जब हम स्वयं ही ब्रह्म हैं तो स्वयंके दर्शनमें प्रमाण क्या हो सकता है ? यही कि किसी भी तरह आत्माकार या ब्रह्माकार वृत्ति उदय हो ? यह वृत्ति कौन जगायेगा ? क्या आंख, कान आदि इन्द्रियां जगायेंगी ? क्या कल्पना अथवा संस्कारसे अनुप्राणित विचार जगायेगा ? बोले : नहीं, यह कोई नहीं जगा सकता ब्रह्माकारवृत्तिको। केवल शब्द जगायेगा, केवल तत्त्वमस्यादि वेदान्त-वाक्य जगायेंगे इस वृत्तिको—वे वाक्य जो हमारे स्वरूपके बोधक हों।

स्वरूप-बोधक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो ज्ञात आत्माकारवृत्तिको जगाते हैं और दूसरे वे जो अज्ञात आत्माकारवृत्तिको जगाते हैं। जितना तुम्हें अपने बारेमें (अपनी आत्माके बारेमे) ज्ञात है कि "मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं प्रिय हूँ'—यदि इतना ही ज्ञान वाक्यने जनाया कि 'तुम हो, तुम जानते हो, तो वह वाक्य प्रमाण नहीं हुआ। प्रमाण वह होता है जो अज्ञात-ज्ञापक होता है—न जानी हुई चीजको जो जनावे सो प्रमाण। तो अज्ञातका तो ज्ञापन करे और ऐसा ज्ञापन करे कि वह किसी दूसरे प्रमाणसे बाधित न हो सके, कट न सके—तब वह वाक्य प्रमाण होगा।

तो देखो, 'आत्मा है, आत्मा जानता है, आत्मा प्रिय है' यह बिना किसी प्रमाणके ही स्वतःसिद्ध ज्ञान है। यदि वेदान्त-वाक्य-प्रमाणने यही ज्ञान कराया तो कुछ ज्ञात नहीं कराया। इसमें जो आत्माका अज्ञात अपरिच्छिन्नत्व एवं अद्वितीयत्व है, इस अज्ञात-का जो बोधन करानेवाले वेदान्त-वाक्य हैं, जैसे 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वे ही प्रमाण हैं और वे ही ब्रह्माकार प्रमाण-वृत्ति उत्पन्न करते हैं। वेदान्तका यह गम्भीर एवं सर्वोपरि सिद्धान्त है।

आत्मा का जो प्रसिद्ध अंश है कि 'मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं प्रिय हूँ' इसको लाखोंमें प्रमाणकी प्रमाणता नहीं है। जो हम नहीं जानते हैं उसको लखानेमें प्रमाणकी प्रमाणता है। अनधिगतार्थ बोधकत्व तथा प्रमाणान्तरसे अबाधिकत्व प्रमाणमें होना चाहिए।

जब प्रमाण यह बता देगा कि तुम देशाकार, कालाकार, द्रव्याकार वृत्तिके अधिष्ठान और साक्षी अद्वय ब्रह्म हो, तब द्वैत बाधित हो जायेगा और केवल आत्मा ही आत्मा रह जायेगा। इस प्रकार हमारे अन्तःकरणमें आत्माके अज्ञात ब्रह्मत्वका कौन-सा प्रमाण है ? आत्माके ब्रह्मत्वका बोधक महावाक्य ही प्रमाण है, फिर वह चाहे संस्कृतमें हो या हिन्दीमें या अंग्रेजीमें। भाषा-भेदका यहाँ कोई प्रभाव नहीं है। 'यह जो वृत्तिका द्रष्टा आत्मा है, यह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे रहित, अद्वय ब्रह्म है"—इत्याकारक वृत्ति ही ब्रह्माधिष्ठानमें भ्रान्तिको निवृत्त करके और स्वयंको भी निवृत्त करके स्वयं भी बाधित हो जाती है। अतः ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें महावाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्याकार-वृत्ति ही प्रमाण है, इसके सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है।

यह लक्षणके साथ प्रमाणकी चर्चा सुना दी। अब ब्रह्मके लक्षणकी बात सुनाते हैं।

जन्माद्यस्य यतः

—यह ब्रह्मका लक्षण है। जगत्के जन्मादि जिससे होते हैं सो ब्रह्म है। अब देखना यह है कि यह ब्रह्मका लक्षण है भी ? यह लक्षण ब्रह्ममें है या नहीं (अर्थात् कहीं अव्याप्ति तो नहीं है ?), ब्रह्मके अतिरिक्त किसी अन्यमें भी है क्या (अर्थात् कहीं व्याप्ति दोष तो नहीं ह) और कहीं यह असम्भव लक्षण तो नहीं है ?

परन्तु इस विचारसे पहले यह विचारणीय है कि ब्रह्मका

लक्षण हो भी सकता है या नहीं ? किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मसे आचार्यने इसी आक्षेपको ओर संकेत किया है।

लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किंवास्ति नहि विद्यते।
जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात् सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः ॥

(वैयासिक न्यायमाला १३)

प्रश्न यह है कि ब्रह्मका लक्षण है या नहीं ? बोले—है। क्या ? 'जन्माद्यस्य यतः।' जगत्का जन्मादि जिससे होता है वह ब्रह्म है। बोले—ब्रह्मका यह लक्षण नहीं हो सकता। क्यों ? क्योंकि जन्मादि जगत् निष्ठ हैं ब्रह्मनिष्ठ नहीं है। बोले—अच्छा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० उप० २.१.१) (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) यह ब्रह्मका लक्षण है। तो कहा, नहीं। यह भी लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि ये सब लक्षण 'सत्यता, ज्ञान और अनन्तता' अनुभवमें नहीं आ सकते। जो अनुभवमें आता है वह सब अनित्य, जड़ और परिच्छिन्न है। इसलिए अप्रसिद्ध ब्रह्मका कोई प्रसिद्ध लक्षण नहीं हो सकता। और यदि ब्रह्मका कोई लक्षण ही नहीं बनता तो उसके ज्ञानकी आशा ही छोड़ देनी चाहिए। सूत्रकार की जो प्रतिज्ञा है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—वह व्यर्थ है। (यह उक्त आक्षेपप्रदर्शक श्लोकका भावार्थ है)।

'जन्माद्यस्य यतः' यह एक-सूत्रीय अधिकरण है जिसको जन्माद्यधिकरण कहते हैं। इस अधिकरणका विषयवाक्य यह श्रुति है :

---

१. यह श्लोक वैयासिक न्यायमालाका है पहले लोगोंको कण्ठ करनेका बड़ा अभ्यास था। परन्तु सूत्र और भाष्य सबको कण्ठ करना बड़ा मुश्किल पड़ता है। इसलिए समग्र ब्रह्मसूत्रके प्रत्येक अधिकरणपर प्रायः दो-दो श्लोक और कहीं-कहीं दो-से- अधिक भी श्लोकोंकी रचना करके याद करनेके लिए यह वैयासिक न्यायमाला बनायी गयी।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।

(तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१

यह जो ब्रह्मसूत्र है वह उपनिषद्के वाक्य-पुष्पोंको एक माला-गूँथनेके लिए बनाया गया है। इस मालाका जो पहला पुष्प-मणिका है, वह यह उपर्युक्त वाक्य है जिसमें बताया गया है कि—

"ये सब भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं, जिसकी ओर इनकी गति है और जिसमें ये अन्ततः प्रवेश कर जाते हैं, उसीकी जिज्ञासा करो। वही ब्रह्म है।" यह वाक्य यह बतलाता है कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय तीनों ब्रह्मसे होते हैं।

विचारका विषय यह है कि सृष्टिको उत्पत्ति-स्थिति, प्रलय (=जन्मादि) ब्रह्मका लक्षण हैं या नहीं ? उक्त विषय वाक्यमें यह सन्देह हो गया। (लक्षणं ब्रह्मणों नास्ति किंवा अस्ति ?)

अब इसमें पूर्वपक्ष क्या है ? वह यह है कि जन्मादि ब्रह्मका लक्षण नहीं है क्यों ? क्योंकि वादीका कहना यह है कि जन्मादि अन्यनिष्ठ हैं ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं (जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्) जन्म होता है जगत्का, स्थिति होती है जगत्की, मृत्यु होती है जगत्को। फिर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय उस ब्रह्मका लक्षण कैसे हो सकता है जो जगत्से परे है ? पूछा तो था ब्रह्मका ईक्षण क्या है और बता दिया कि जिससे जगत्के जन्मादि होते हैं। यह तो ऐसा ही हुआ कि पूछा आमका पेड़ कौन-सा है और बता दिया कि वह रहा नीमका पेड़ ! 'आम्रान् पृष्ठः को विदा-रान् आचष्ठे !

क्योंकि जन्म-आदि ब्रह्मके नहीं होते, जगत्के होते हैं, इसलिए जगत्के जन्मादि ब्रह्मके लक्षण कैसे हो सकते हैं ?

भामतीकारने कहा कि यद्यपि सूत्रकार ब्रह्मज्ञानकी प्रतिज्ञा प्रथम सूत्रमें कर चुके हैं परन्तु बात यह है; कि जब जहां जो अनुभवका विषय होता है वह परिमित होता है, सीमित होता है, परिच्छिन्न होता है। जिस कालमें, जिस देशमें जो वस्तु जिस कारणके द्वारा अनुभवका विषय होती है वह परिच्छिन्न होती है। वह वस्तु शुद्ध भी नहीं होती क्योंकि उसमें हमारी वृत्तिका सम्बन्ध भी होता है। वह वस्तु ज्ञानस्वरूप भी नहीं होती; क्योंकि वह ज्ञानका विषय दृश्य होती है और वह विध्वंसी अर्थात् विनाशी होती है—

तत्र यद्यावदनुभूयते तत्सर्वं परिमितं अविशुद्धमबुद्धं विध्वंसि न तेनोपलब्धेन तद्विरुद्धस्य नित्यशुद्धबुद्धस्वभावस्य ब्रह्मणः स्वरूपं शक्यं लक्षयितुम्। (भामती)

इसलिए अनुभवके विषयके द्वारा जो तुम 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' ब्रह्मका लक्षण बनाने चले हो यह बिलकुल गलत है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध स्वभाव एवं अपरिच्छिन्न है और अनुभवका विषय सदा ही अनित्य, अशुद्ध, ज्ञेयरूप तथा परिच्छिन्न होता है।

पुनः लक्षण प्रसिद्धका होता है, अत्यन्त अप्रसिद्ध ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती—ब्रह्म शास्त्रसे प्रसिद्ध है। शास्त्र ब्रह्मको 'सत्यम्' 'ज्ञानम्' और 'अनन्तम्' कहता है यही ब्रह्मके लक्षण हों, तो क्या आपत्ति है?

पूर्वपक्षी—अच्छा मानलो कि ब्रह्मके लक्षण 'सत्यम्', 'ज्ञानम्' और 'अनन्तम्' हैं; परन्तु ये लक्षण कभी अनुभवमें नहीं आ सकते। ये कोरी कल्पना हैं। किसी भी वस्तुका तुम नित्यरूपमें साक्षात् कर सकते हो क्या? नहीं कर सकते। हम दुनियामें किसी भी माईके लालको चुनौती देते हैं! यह वस्तु नित्य है इसका अनुभव

तुमको कैसे हुआ ? वह वस्तु पहले थी, उससे पहले थी, उससे पहले भी थी,... और बादमें रहेगी, उसके बादमें रहेगी, उसके भी बादमें रहेगी....—यही तो तुम्हारी नित्यता है न ? यह पहले-पहलेका और बाद-बादका साक्षात्कार तुम्हें कैसे हुआ ? क्या तुम्हारी बुद्धि अनादि भूतमें थी और अनन्तमें रहेगी ? या कि पहले और बादको देखनेकी कोई खुर्दबीन या दूरबीन तुम्हारे पास है ? कैसे साक्षात्कार होगा अनादि और अनन्तका तुमको ? इसलिए अनादि-अनन्त जो तुम ब्रह्मका लक्षण बताते हो, वह गलत है।

क्या ज्ञान ब्रह्मका लक्षण है ? वह भी नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या ज्ञानका ज्ञान होता है ? दूसरे शब्दोंमें, क्या ज्ञान ज्ञान रहकर ज्ञात होता है या ज्ञेय होकर ज्ञात होता है ? माने जो जाननेवाला ज्ञान है और जो जाना-जानेवाला ज्ञान है उनमें कोई फर्क है या नहीं ? यदि कहो कि फर्क नहीं है तो 'आत्माश्रय' दोष आता है अथवा 'कर्तृ-कर्म विरोध' आता है। क्योंकि एक ही ज्ञान ज्ञाता भी और ज्ञेय भी नहीं हो सकता। या तो ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनों झूठे होंगे और या फिर परिणामी होगा ! यदि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों झूठे हैं तो ज्ञान जाना ही नहीं गया और यदि ज्ञान परिणामी है तो ज्ञान ज्ञान ही नहीं है, दृश्य है, जड है, विध्वंसी है। यदि कहो, एक ज्ञान दूसरे ज्ञानको जानता है तो दोनोंमें फर्क क्या है ? जो जाना गया वह नाशवान् और जो जानता है सो अविनाशी ! इसमें ज्ञान कभी नाशवान् तो कभी अविनाशी। पहला दूसरेको जानता है और दूसरा पहलेको। यह 'अन्योन्याश्रय' दोष हुआ। यदि एक तीसरा ज्ञान होवे तो 'चक्रिकापत्ति' दोष है। यदि चौथा होवे तो 'अनवस्था' होगी। यदि कहो ज्ञान जाना ही नहीं जाता तो 'वदतोव्याघात' दोष है। ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है; वह क्यों नहीं जाना जायेगा ?

नित्यताका भी साक्षात्कार नहीं होता, वह केवल कल्पना है। व्यापकताका भी साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए वह भी कल्पना है। केवल चिन्मात्रताका भी साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए वह भी कल्पना है। अनन्तताका भी साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए वह भी कल्पना है। तब 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म'का लक्षण कैसे बन सकता है? अर्थात् ब्रह्मका लक्षण नहीं बन सकता।

सिद्धान्ती—अच्छा भाई, लो हम ब्रह्ममें कारणताका अध्यारोप करके ब्रह्मका लक्षण बताते हैं। अर्थात् जगत्में जन्मादिका जो कारण सो ब्रह्म है।

पूर्वपक्षी—इसका खण्डन तो हम पहले ही कर चुके हैं कि 'जन्मादि' ब्रह्मनिष्ठ न होनेसे ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती—हम जन्मादिको ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण कब बता रहे है? हम तो जन्मादिको ब्रह्मका कल्पित लक्षण बता रहे हैं। कल्पित लक्षणसे भी सत्यवस्तुकी पहचान होती है।

कल्पित लक्षण कैसा होता है?

रेलगाड़ी प्लेटफार्मपर आ रही है या नहीं इसका लक्षण क्या है? लाल सिगनल हो तो नहीं आ रही है, हरा सिगनल हो तो आ रही है! अब देखो, हरे सिगनल या लाल सिगनलका रेलगाड़ीसे क्या सम्बन्ध है? यह लक्षण तो अन्यनिष्ठ है; क्योंकि उसका सम्बन्ध तो सिगनल देनेवालेसे है। प्लेटफार्मके खाली होनेसे क्या सम्बन्ध है इस हरे-लाल संकेतका? कोई नहीं। परन्तु यह कल्पित सम्बन्ध गार्ड, ड्राइवर और संकेत देनेवालेको मालूम है और इसीसे प्लेटफार्मके खाली होने, न होनेका ज्ञान उनको हो जाता है। यहाँ अन्यगत लक्षण अन्यका लक्षण है।

द्वितीयाके दिन चन्द्रकला कैसे देखते हैं? दिखानेवाला कहता

है : 'देखो, देखो, वह जो पेड़ है उसकी ऊपरकी डालीसे दो हाथ ऊपर चन्द्रमा है'। तो क्या चन्द्रमा वास्तवमें दो हाथ ऊपर होता है? चन्द्रमाका न तो पेड़की डालीसे और दो हाथकी ऊँचाईसे कोई वास्तविक सम्बन्ध है, परन्तु द्वितीयाके चन्द्रमाका यह कल्पित लक्षण होते हुए भी देखनेवालेको चन्द्रमाका दर्शन होता ही है। यह 'शाखाचन्द्र न्याय' है। यहाँ भी अन्यनिष्ठ लक्षण अन्यका लक्षण बनता है।

लक्षण दो प्रकारका होता है : स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण।

'शाखाचन्द्र न्याय'से 'पेड़की डाली' और 'दो हाथ ऊंचाई' द्वितीयाके चन्द्रका तटस्थ लक्षण है; परन्तु यदि यह कहा जाय कि 'आकाशमें सबसे अधिक प्रकाशमान हँसियेकी शक्लका जो नक्षत्र है वह द्वितीयाका चन्द्रमा है' तो यह द्वितीयाके चन्द्रमाका स्वरूप-लक्षण होगा।

जो लक्षण वस्तुके स्वरूपमें रहे और वस्तुको लखाये उसे स्वरूप-लक्षण कहते हैं। जो लक्षण वस्तुके स्वरूपसे अलग रहे और फिर भी वस्तुको लखाये उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं।

तद्भिन्ने सति तद्बोधकत्वम् तटस्थलक्षणम्।
तदभिन्ने सति तद्बोधकत्वम् स्वरूपलक्षणम्॥

तो यह जो 'जगत्के जन्मादिका कारणरूप' ब्रह्मका लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः'से बताया जा रहा है, वह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। इसलिए अन्यनिष्ठ होनेपर भी जिज्ञास्य ब्रह्मका बोधन करानेमें समर्थ है। यह लक्षण उस जिज्ञासुकी स्थितिको ध्यानमें रखकर बनाया जा रहा है जो ब्रह्मको जानना चाहता है।

ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्म स्रग्, भुजङ्गवत् ।
लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि ॥

(वैयासिक न्यायमाला १४)

एक आदमीको फूलकी माला दीख रही थी। उसी जगह दूसरे आदमीको साँप मालूम पड़ रहा था। तीसरेको वहाँ डंडा पड़ा दिखायी दे रहा था। चौथेने कहा : ऐ! जरा वहाँसे रस्सी तो उठा लाओ! तीनोंने कहा, यहाँ रस्सी कहा है? यहाँ तो माला है, पहलेने कहा। यहाँ तो साँप है, दूसरेने कहाँ। यहाँ तो डण्डा है, तीसरेने कहा। तब चौथा बोला—अरे भाई, यह माला जिसमें दिख रही है वह रस्सी है। वह सर्प जिसमें दिख रहा है वह रस्सी है। वह डण्डा जिसमें दिख रहा है वह रस्सी है। अब देखो! वह रस्सी है, न माला है, न साँप है, न डण्डा है; परन्तु माला, साँप और डंडा देखनेवालोंको रस्सीका बोध हो गया न! और माला, सर्प, डण्डा सब-के-सब रस्सीके कल्पित या तटस्थ लक्षण हो गये न!

निष्कर्ष यह है कि भ्रान्तिसे सिद्ध जो विषय हैं वे मिथ्या विषय भी अपने अधिष्ठानका बोधक हो सकते हैं, होते हैं। क्योंकि कोई भी भ्रम निरधिष्ठान नहीं होता। मिथ्या वस्तु बिना अधिष्ठानके नहीं होती। अतः ब्रह्मका लक्षण सम्भव है। और वह लक्षण तैत्तिरीय श्रुतिके आधारपर यह है कि "जिससे इस जगत्के जन्म, स्थिति और भंग होते हैं वह ब्रह्म है।"

अब कारणरूपमें जो ब्रह्मका यहाँ निरूपण है उसको पूरी व्यवस्था आपको सुनाते हैं। पहले कार्य-कारणके यथार्थरूपको जो लोकमें है उसको पहिचानो। तब उसका जो निषेध है वह पहिचानमें आयेगा। अगर सच्चे साँपको आप न पहिचानते हो तो 'यहाँ साँप नहीं है'—यह भी पहचानमें नहीं आयेगा। आप

मान ले सकते हैं, पहचान नहीं सकते हैं। अच्छा, जिस रूपमें ईश्वरका प्रतिपादन किया जाता है, यदि उसको उस रूपमें आप नहीं समझेंगे तो 'ईश्वर नहीं है' कहनेवालोंकी बात भी आप कैसे समझ पायेंगे ? वह तो आपने मान ली उनकी बात। आप तो ठगे ही गये। 'अस्ति'को 'नास्ति' मान बैठना और 'नास्ति'को 'अस्ति' मान बैठना ठगा जाना ही है। इसलिए कार्य-कारण व्यवस्थाको ठीक-ठीक समझकर उसके निषेधावधिको ब्रह्मरूपमें यथार्थतः समझना चाहिए।

कार्यकी उत्पत्तिके लिए उसके अव्यवहित पूर्वक्षणमें जिसकी उपस्थिति अनिवार्य हो उसको कारण बोलते हैं। नियतपूर्ववर्तित्व जिसमें हो सो कारण, यह न्यायकी परिभाषा है। जैसे, घड़ा बननेके पहले मिट्टी, कुम्हार, चाक, डंडा, सूतका होना अनिवार्य है। अतः मिट्टी, कुम्हार आदि घड़ाके कारण हैं। इसी प्रकार बच्चेके कारण हैं—माता, पिता, रज, वीर्य, देश, काल, संसार।

अब इन कारणोंके दो विभाग कर लो—(१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण। समवायीका अर्थ है जो कार्यमें अनुगत होकर रहे; कार्य बनकर कार्यमें रहे। असमवायी कारण वह है जो कार्य बन जानेके बाद कार्यमें न रहे। इस प्रकार घड़ेका समवायी कारण मिट्टी है और कुम्हार, चाक, डंडा, सूत सब असमवायी कारण हैं। समवायी कारणको वेदान्ती लोग उत्पादन कारण बोलते हैं—'यत् उपादाय कार्य प्रवर्तते'। (समवायिन् प्रातिपदिक है; कारण नपुंसकलिङ्गक शब्द है, अतः 'समवायि कारणम्' ऐसा प्रयोग होता है)।

असमवायी कारण पुनः दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है। (१) निमित्त कारण और (२) सहकारी कारण। निमित्त कारण कर्त्ता (चैतन्य) होता है जैसे कुम्हार। और जिनके

सहयोगसे कर्त्ता कार्यको बनाता है जैसे डंडा, चाक, सूत, थापी, वे सहकारी कारण कहलाते हैं।

प्रत्येक कार्यमें समवायी कारण (उपादान कारण) और निमित्त कारणका होना अनिवार्य है।

अब ब्रह्मसे जगत्के निर्माणमें देखो कि यहाँ निमित्त और उपादान कारण क्या हैं? सूत्र कहता है—'जन्माद्यस्य यतः'। पहले सूत्रकी शब्द-योजनाको समझो।

जन्मादि + अस्य + यतः = जन्माद्यस्य यतः

अस्य दृश्यस्य जगतः जन्मादि जन्मस्थितिभंगम् यतः कारणाद् भवति तद् ब्रह्म।

"इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् (इन्द्रिय, मन, बुद्धि और स्वयं साक्षी द्वारा भास्य जगत्) के जन्म, स्थिति और प्रलय जिस कारणसे होते हैं, वह ब्रह्म है।" इसकी आधार श्रुति 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' और 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रको पढ़कर यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि जगत्का उपादानकारण और निमित्तकारण दोनों ब्रह्म ही है। श्रुति कहती है 'जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिससे यह जी रहा है, जिसकी ओर जा रहा है और जिसमें जाकर यह लीन हो जाता है, वह ब्रह्म है।' तो लीन होना तो उपादान कारणमें ही होता है। घड़ा फूटकर अपने उपादान कारण मिट्टीमें ही लीन होता है, निमित्त कारण कुम्हारमें नहीं। इसलिए जगत्का उपादान कारण ब्रह्म ही है।

निमित्तकारण जगत्का ब्रह्म है यह तो सभी वेदान्तियोंको इष्ट है। नैयायिकोंने और भक्तोंने यहाँ इस 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रमें यह माना है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वकर्त्ता, निमित्तकारण ईश्वरको ही यहाँ ब्रह्म कहा गया है। इस सूत्रके सम्बन्धमें अद्वैत-

वेदान्तियोंको छोड़कर अधिकांश आचार्योंका यही मत है। यह तो आप जानते हैं कि अद्वैत तो सबसे निराला ही है।

असलमें इस सूत्रको देखकर यह स्पष्ट नहीं होता कि यह जगत्‌के कुम्हार और मिट्टी दोनोंको ब्रह्म कहता है या एकको ब्रह्म कहता है। श्रुति अवश्य यह कहती है कि—उत्पत्तिका स्थान, जीवनयात्राका स्थान, जीवनका लक्ष्य और जीवनकी जो अन्तिम धातु है वह ब्रह्म है।

प्रथम तो, जो केवल निमित्तकारण होगा और उपादानकारण उससे भिन्न होगा, वह ब्रह्म ही नहीं होगा। इसी प्रकार जो केवल उपादानकारण होगा और निमित्तकारण उससे भिन्न होगा तो वह भी ब्रह्म नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म जगत्‌का निमित्त-कारण भी है और उपादानकारण भी है। फिर भी यदि किसीके मनमें शंका रह जाय तो ब्रह्मसूत्रमें उसके लिए भी उपाय है। आगे अधिकरण आयेगा।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। (१.४.२३)

यहाँ बताया गया है कि प्रकृति अर्थात् उपादानकारण भी ब्रह्म है; क्योंकि एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा और मृत्पिण्ड आदिके दृष्टान्त तभी संगत होते हैं।

प्रस्तुत सूत्रमें 'यतः' पद ब्रह्मवाची है, प्रकृतिवाची नहीं, यह बात भी ब्रह्मसूत्रमें ईक्षत्यधिकरणमें स्पष्ट कर दी गयी है।

इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि ब्रह्मका लक्षण सम्भव है। मिथ्या पदार्थ भी मिथ्याके अधिष्ठानका लक्षण हो सकता है। अतः मिथ्या जगत्‌की मिथ्या जन्मादि ब्रह्मके तटस्थ लक्षणके रूपमें व्यवहृत किये गये हैं। तथा 'यतः' पदसे जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्मका ग्रहण होता है। [अभी इस सन्बन्धमें अगला प्रवचन भी पठनीय है]। ●

(२. २.)

ब्रह्मका लक्षण—जगत्कारणत्व

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। आइये ब्रह्मका विचार करें।

ब्रह्म-विचारमें एक बात यह ध्यानमें रखनी चाहिए कि वस्तु स्वरूप प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं रखता। दार्शनिक सत्य प्रयोजन-निरपेक्ष होता है। जैसे जज चोरको दण्ड देते समय चोरने किस प्रयोजनकी पूर्तिके लिए चोरोकी यह नहीं देखता; चोर कई दिनोंसे भूखा था या उसकी लड़कीका विवाह था यह सब जैसे चोरीके अपराधके निर्धारणमें नहीं देखा जाता; वैसे ही जब हम सत्यका निर्णय करने चलते हैं तो प्रयोजनानुसारी सत्यको नहीं बनाया जाता। जैसे वर्षा स्वाभाविक ही होती है, उससे चाहे कुम्हारका घड़ा फूटे या मालीका बगीचा सूखे; वैसे ही

सत्यका निर्वचन स्वाभाविकरूपसे ही किया जाता है चाहे उससे किसीके सिद्धान्तकी हानि हो या लाभ !

लोग कहते हैं कि यदि ब्रह्मको निर्गुण मानोगे तो उपासनाकी सिद्धि कैसे होगी; यदि ब्रह्मको सर्व मानोगे तो समाधिकी सिद्धि कैसे होगी; और यदि ब्रह्ममें जगत्‌को मिथ्या मानोगे तो कर्म और कर्म-फलकी सिद्धि कैसे होगी ? तो क्या यह सब पूर्व विचार करके ब्रह्मका निर्णय करने चलें ? ब्रह्म तो जैसा है वैसा ही है। उसको वैसा ही देखनेके लिए विचार किया जाता है। कर्मकी या उपासनाकी या समाधिकी सिद्धिके लिए ब्रह्मका विचार नहीं किया जाता।

जो लोग दार्शनिकोंपर बेईमानीका आरोप करते हैं कि उन्होंने अमुक प्रयोजनकी सिद्धिके लिए अमुक सिद्धान्त बनाया—जैसे श्रीशंकराचार्यजी महाराजपर आक्षेप किया जाता है कि उन्होंने बौद्धोंको परास्त करनेके लिए मायावादका सिद्धान्त स्वीकार किया—वे लोग स्वयं पक्षपातके दोषी हैं। औपनिषद सिद्धान्तपर यह बात लागू नहीं होती; क्योंकि औपनिषद ऋषियोंके अन्तःकरण शुद्ध हैं। शुद्धान्तःकरणमें पक्षपात नहीं रहता, क्रूरता नहीं होती। इसीसे अशुद्धान्तःकरणवालोंको यह वज्र सत्य, यह भयंकर सत्य स्वीकार नहीं होता—

योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः।

(माण्डूक्यकारिका ३.३९)

जिनको कुछ पाना है, जिनको कुछ लेना-देना है, जिनको कुछ छोड़ना पकड़ना है, वे इस भयंकर सत्यसे, इस सर्वोच्छेदी सिद्धान्तसे, इस ब्रह्मात्मैक्यका निरूपण करनेवाले औपनिषद-सिद्धान्तसे डरते हैं। यह कोई प्रयोजनानुसारी या वासनानुसारी सत्य नहीं है, यह तो यथार्थ है।

वैकुण्ठमें जानेके लिए साधन करना और बात है, स्वर्गमें जानेके लिए या नरकसे बचनेके लिए या फिर लौकिक सुख-सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिए साधन करना और बात है। परन्तु यथार्थ सत्यकी जो जिज्ञासा है, वह व्यक्तिगत भोग या योगको दृष्टिमें रखकर नहीं होती। वह तो वस्तु-तत्त्वका निरूपण करनेके लिए है, उसमें सिर्फ आत्माकी, ब्रह्म-विषयक अविद्याकी निवृत्ति ही अपेक्षित है।

मैं एक महात्माके पास गया। महात्माने पूछा–क्या चाहते हो?

मैं—सत्यका ज्ञान चाहता हूँ।

महात्मा—तुम केवल ज्ञान ही चाहते हो सत्यका या और कुछ?

मैं—केवल ज्ञान ही।

महात्मा—अच्छा, यदि सत्यका ज्ञान होनेपर अन्तमें तुम्हें सही अनुभव हो कि सब नरक-ही-नरक है, तो क्या तुम ऐसे सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेको तैयार हो? यदि सत्यका ज्ञान होनेपर तुम्हें शाश्वत बन्धन मिलता हो या तुम्हारी मृत्यु होती हो तो क्या तुम तैयार हो?

महात्माने ऐसे ही कहा मुझसे। उनका तात्पर्य यह था कि क्या जिज्ञासुको उसका अज्ञान इतनी पीड़ा दे रहा है कि भले ही उसे मरना पड़े या उसे हमेशाके लिए शोक, दुःख और बन्धन मिलता हो, परन्तु उसे सत्यका ज्ञान चाहिए? जो अज्ञानान्धकारमें रहना नहीं चाहता, उसके लिए ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानका विचार है। तो आओ, अब ब्रह्मका विचार करें।

प्रश्न यह है कि अपने जिज्ञास्य ब्रह्मको पहचानें कैसे? जिसको नहीं पहचानते उसकी पहचान बतानी है; उस ब्रह्मका लक्षण बताना है।

लक्षण बनेगा जानी हुई चीजसे और उससे पहचानी जायेगी अनजानी चीज। जैसे हमें किसी सज्जनको पहचानना है, तो किसीने हमें बताया कि अमुक सज्जन इसी सड़कसे रोज निकलते हैं और काला कोट और काला चश्मा लगाते हैं तथा उनके गालपर एक काला मस्सा भी है। अब देखो, काला कोट; काला चश्मा और काला मस्सा आप पहचानते हैं। ये तीनों चीजें एक ही जिन सज्जनमें आपको दीख पड़ेंगी उनको आप पहचान जायेंगे। इस प्रकार ज्ञात लक्षणसे अज्ञात वस्तुकी पहचान हो जाती है।

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

लक्षण और प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि होती है। यह बात ध्यानमें रखो कि प्रमाण होता है देखनेवालेमें, जिज्ञासुमें; और लक्षण होता है देखेजानेवालेमें, जिज्ञास्यमें। 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' या जगज्जन्मादि लक्षण हैं—ब्रह्ममें, और ब्रह्माकारवृत्तिरूपी प्रमाण है—जिज्ञासुमें।

अब प्रश्न यह है कि किस ज्ञात लक्षणसे अज्ञात ब्रह्मका बोध हो जैसे ज्ञात घड़ेसे उसके उपादान मृत्तिकाकी पहचान होती है और उस घड़ेके बनानेवाले (निमित्त कारण) कुम्हारका अनुमान होता है, वैसे ही आओ, यह कार्यरूप जगत् जो सामने है उसके द्वारा जगत्के उपादानकारण और निमित्तकारण अथवा जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ब्रह्मको पहचानें। अर्थात् आओ, कार्यसे कारणकी पहचान करें।

नैयायिक कार्यसे निमित्त कारणका अनुमान करते हैं, उपादान कारणका नहीं। क्योंकि उनके मतमें उपादान कारण तो प्रत्यक्ष ही रहता है; वह सदा कार्यमें अनुगत रहता है।

सांख्योंके मतमें कार्यको देखकर उपादान कारणका अनुमान किया जाता है। क्योंकि घड़ेका उपादान कारण, उनके मतमें पञ्चभूतोंमें तो घड़ा कल्पित है। अर्थात् जो पञ्चभूत हैं वे ही घड़ा

हैं। घड़ा पञ्चभूतोंका कार्य नहीं है। उनके मतमें पञ्चभूत प्रकृतिके अन्तिम कार्य हैं और स्वयं प्रकृति मूल कारण है। प्रकृति और पञ्चभूतोंके बीचमें महत्तत्त्व, अहंकार कार्य और कारण दोनों हैं। प्रकृति इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए जो प्रकृति सबका मूल कारण है, वह प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमानसे सिद्ध है।

इस प्रकार कार्यको देखकर निमित्तकारणका अनुमान करते हैं—न्यायवादी और उपादान कारणका अनुमान करते हैं—सांख्यवादी। जब निमित्त कारण और उपादान कारण अलग-अलग होते हैं तब तो यह स्थिति हुई। परन्तु यदि निमित्तकारण और उपादानकारण एक ही हों तब तो उस अभिन्ननिमित्तोपादान कारणका न प्रत्यक्ष ही हो सकता है और न अनुमान ही।

जगत्में ऐसा कोई दृष्टान्त देखनेमें नहीं आता जहाँ निमित्त-कारण और उपादान कारण एक ही हों। यदि कहो कि मकड़ीके जालेका निमित्त और उपादान दोनों कारण मकड़ी है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ निमित्तकारण तो मकड़ीका चेतनांश है और उपादानकारण मकड़ीका जडांश है।

ऐसी स्थितिमें ब्रह्म जो जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है उसका लक्षण कैसे बनेगा? यह हम पहले बता चुके हैं कि ब्रह्मका निरूपण नित्यत्वरूप धर्मसे नहीं किया जा सकता; क्योंकि संसारकी किसी भी वस्तुमें नित्यत्व लक्षण है ही नहीं। न काल नित्य है; क्योंकि जाग्रत्का काल स्वप्नमें नहीं रहता और जाग्रत् स्वप्नका काल सुषुप्तिमें नहीं रहता। इसी प्रकार देशकी नित्यता भी अनुभवमें नहीं आती। नित्यत्वरूप धर्म अनुभवमें न आनेके कारण धर्मी ब्रह्मका नित्यत्व लक्षण नहीं बन सकता। बोले कि हम तादात्म्यके द्वारा लक्षण बना लेंगे। जैसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आयीं और चली गयीं; परन्तु इनमें काल ज्यों-का-त्यों रहा, वैसे

ही बदलती हुई चीजोंमें जो न बदलनेवाले कालके आकारकी वृत्ति हुई उस कालावच्छिन्न वृत्तिका जो द्रष्टा है, वही वृत्तिसे तादात्म्य करके कालका अनुभव करता है। परन्तु अपरिवर्तनशील ब्रह्मका अनुभव तुमको होगा कहाँ ? तब ? तब नित्याकारवृत्तिके साथ तादात्म्य करके भी ब्रह्मका निरूपण नहीं हो सकता। इसी प्रकार व्यापकत्वरूप धर्म और तदाकारवृत्तिके साथ तादात्म्य अथवा अद्वैतत्वरूप धर्म एवं तदाकार-वृत्तिके साथ तादात्म्यके द्वारा भी ब्रह्मका निरूपण नहीं हो सकता।

भामतीकार कहते हैं कि ब्रह्ममें परमार्थतः कारणत्व नहीं है, अपितु मायाके द्वारा कारणत्व नटवत् प्रतीत होता है।

मायया कारणं ब्रह्म नटवत् शंकरोऽब्रवीत्।

किस देशमें बैठकर ब्रह्म जगत्का कारण बन रहा है ? किस कालमें बैठकर ब्रह्म जगत्का कारण बन रहा है ? किस द्रव्यमें बैठकर ब्रह्म जगत्का कारण बन रहा है ? जगत्का कारणत्व कैसा है ? आप देश, काल, द्रव्यको तत्त्व जानते हैं या अतत्त्व जानते हैं ? देश, काल, द्रव्य अतत्त्व भी हों परन्तु वे तत्त्वको लखा सकते हैं।

एक आदमीको वट-वृक्ष पहचानना था। अब जानकारने उसके हाथमें पत्तलका एक टुकड़ा (वट-पत्र) रख दिया और कहा कि जिस पेड़से यह पत्ता आया है वही वट-वृक्ष है। वह छोटा सा पत्ता उस विशाल वट-वृक्षके पहचाननेमें हेतु हो गया न! देखो, वह वटका पेड़ न तो उस पत्तेमें निमित्तकारणके रूपमें आया और न उपादान कारणके रूपमें आया। वह वट-वृक्ष तटस्थ रहा किन्तु उसीसे गिरे हुए पत्तेसे उसकी पहचान हो गयी। वास्तविक निमित्तत्त्व भी नहीं हुआ, वास्तविक उपादानत्व भी नहीं हुआ, उसकी तटस्थता भी भंग नहीं हुई और उसके एक

पत्तेसे उसकी पहचान भी हो गयी। अतः तटस्थ वस्तुमें हम कारणत्वका अध्यारोप करके उसकी पहचान कर सकते हैं।

ब्रह्मके कारणत्वको समझनेके लिए हमारे सोचनेका ढंग जरा बदलना पड़ेगा। बताओ तो यह दिक्‌तत्त्वका प्रारम्भ कहाँसे हुआ? इस दिक्‌तत्त्व—पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओंका प्रारम्भ (कारण) कहाँसे हुआ? कहो न मुझसे, मेरे शरीरसे। मेरे शरीरका सामना, मेरे शरीरका पीछा, मेरे शरीरका दायाँ मेरे शरीरका बायाँ—यही न प्रारम्भ है! तो दिक्‌तत्त्वका प्रारम्भ होता है 'मैं'से।

कालका प्रारम्भ कहाँसे होता है? इसी सेकेण्डसे कालका प्रारम्भ होता है। वर्तमान सेकेण्डका आदि और अन्त ही कालका आदि और अन्त है। हमारी बुद्धि कालके अनादित्व और अनन्तत्वको ग्रहण नहीं कर सकती। परन्तु जिसमें यह वर्तमान सेकेण्ड भास रहा है वही कालकी अनादिता और अनन्तता है। कालका अनादित्व 'मैं' हूँ। कालका अनन्तत्व 'मैं' हूँ। इसी प्रकार वर्तमान हृदय देश ही देशकी अनादिता और अनन्तता है।

देखो, यह फूल है। यह फूल कहाँ पैदा हुआ? एक विचार तो यह है कि पेड़में पैदा हुआ। यह तो साधारण विचार है। दूसरा विचार यह है कि इस फूलका दर्शन नेत्रोंसे हो रहा है। नेत्राकार-वृत्ति-हृदयमें है। उस नेत्राकार वृत्तिका जो अधिष्ठान और प्रकाशक है वह इस फूलका वास्तविक कारण है। जिसके बिना फूलकी सिद्धि नहीं होती और जिसके होनेसे ही फूलकी सिद्धि होती है, वही फूलका कारण है।

कारणकी खोजमें विचारको फैलाते क्यों हो? विचारको लाखों बरस पीछे क्यों फेंकते हो? एकदम पिछड़े हुए बुर्जुआ

हो ! विचारको लाखों बरस आगे क्यों फेंकते हो ? एकदम अव्यावहारिक हो ! यह कोई विचारकी पद्धति या प्रयोगकी पद्धति हुई ? प्रयोग की पद्धति यह है कि वस्तु इस समय क्या है, इसका विचार और विश्लेषण करो। तो सबसे पहले तुम्हारा 'मैं' सामने आता है। इसका विचार करो कि 'मैं' क्या है ? जब यह जाँच-पड़ताल करोगे तो मालूम पड़ेगा यही 'मैं'—हृदय-गह्वारमध्ये अहं-अहं इति साक्षात् ब्रह्मरूपेण भाति'—हृदय गुहामें स्थित, स्फुरित, मैं-मैं, साक्षात् ब्रह्म है और वास्तवमें वही समस्त जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। वही 'मैं' अज्ञानके कारण 'मैं-तू-वह-यह'के रूपमें स्फुरित हो रहा है, जैसे एक ही रज्जु अज्ञानके कारण माला, भुजंग, दण्ड, इत्यादि विकल्पोंके रूपमें स्फुरित होती है।

जैसे रज्जुमें सर्प देखनेवालेको रज्जुका ज्ञान करानेके लिए यह कहना पड़ेगा कि : 'इदं सर्पतया कल्पितं वस्तु यस्मिन् अधिष्ठाने भासते तदेव रज्जुः।' 'यह सर्पके रूपमें कल्पित वस्तु जिस अधिष्ठानमें भासती है वही रज्जु है।' वैसे ही यह नाम-रूपात्मक निखिल प्रपञ्च जिस नामरूपादि आकारसे विनिर्मुक्त अधिष्ठानमें भासता है वही अधिष्ठान ब्रह्म है।

रज्जुमें परमार्थतः सर्पकी सत्ता नहीं है। परन्तु अन्धकारके कारण रज्जुका अज्ञान ही सर्पकी सत्ताका निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों बनता है। उस अज्ञानदशामें रज्जुको लक्ष्य करानेके लिए रज्जुको सर्पका कारण बताया जा सकता है। रज्जु-ज्ञानके साथ ही रज्जुमें सर्पकी कारणताके अध्यारोपका भी अपवाद हो जाता है। ऐसी ही अध्यारोपित जगत्-कारणता ब्रह्मका लक्षण बनाया जाता है। ●

(२. ३)

'जन्माद्यस्य यतः' के पदोंका अर्थ

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आइये ब्रह्मका विचार करें।

ब्रह्म अर्थात् अत्यन्त बृहत्। छोटी-वस्तु, छोटा भाव, छोटी दृष्टि, छोटा आदर्श कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो, वह राग-द्वेषका जनक ही होता है। उसके चिन्तनसे, उसकी प्राप्तिसे राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म जो अत्यन्त बृहद् है, उसके ही विचारसे, चिन्तनसे, मननसे, राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है। आइये, राग द्वेष जिसको छू नहीं सकते, राग-द्वेष जिसमें डूब जाते हैं, देश-काल-द्रव्यके परिच्छेद जिसको बाँधते नहीं हैं, जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, जो सजातीय-विजातीय स्वगतभेद-शून्य है, उस महान् अद्वय ब्रह्मका अनुसन्धान करें।

किस लक्षणसे ब्रह्मका अनुसन्धान करें? तो कहा: जन्माद्यस्य यतः। यहाँ मूलसूत्रमें तीन पद पड़े हुए हैं:—(१) 'जन्मादि' (२) 'अस्य' (३) 'यतः'।

(१) जन्मादिमें 'जन्म' और 'आदि'का समास है। समास माने संक्षेप; व्यासका विलोम है यह! व्यासका अर्थ होता है विस्तार।

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः। (भाष्य)

जन्म (= उत्पत्ति) है आदिमें जिसके वह जन्मादि। यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार (सृष्टि की) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय यह 'जन्मादि' शब्दमें प्रयुक्त समासका अर्थ है।

(२) अस्य = इसका। 'इदं' शब्दवाच्य दृश्यप्रपञ्चका। 'इदम्'की षष्ठी विभक्ति (सम्बन्ध विभक्ति)का रूप 'अस्य' है। इस विभक्तिका प्रयोग प्रत्यक्षादिसे सिद्ध जगत्का उसके धर्म 'जन्मादि'के साथ सम्बन्ध बतानेके लिए है।

अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था। (भाष्य)

(३) यतः = जिससे। यत्का पञ्चमी विभक्तिका रूप 'यतः' है। पञ्चमी उपादानमें होती है।

यत इति कारणनिर्देशः। (भाष्य)

'यतः' अर्थात् 'जिससे'—यह जन्मादि धर्मवाले जगत्का कारण निर्देश करता है।

इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रका शब्दार्थ भगवान् भाष्यकार इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः। (भाष्य)

अस्य = अर्थात् उस जगत्का जो नामरूपसे प्रकट हुआ है, जो अनेक कर्त्ता-भोक्ताओंसे संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल, निमित्तसे क्रिया और क्रियाफलका आश्रय है और जो मनसे भी अचिन्त्य रचना-स्वरूपवाला है, उस जगत्का, **जन्मादि** अर्थात् जन्म, स्थिति और भङ्ग **यतः** जिससे, जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारणसे होते हैं, वह ब्रह्म है।

'अस्य' इसमें जगत् आगया। 'यतः' इसमें जगत्का कारण ब्रह्म आगया। और जगज्जन्मादि ब्रह्मका लक्षण हो गया। लक्षण तो लक्ष्यनिष्ठ होता है। तो क्या 'जन्मादि' लक्षण भी ब्रह्मनिष्ठ है? इसपर हम विचार कर चुके हैं कि जन्मादि लक्षण जगन्निष्ठ हैं, ब्रह्मनिष्ठ नहीं है। वास्तवमें तटस्थतासे ही यह ब्रह्मको लक्ष्य करता है।

जगत्के जन्मादि होते हैं यह श्रुतिसे प्राप्त है। यथा

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद् ब्रह्म।

(ये सब भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, जिससे तृप्त होते हैं और अन्ततः जिसमें प्रवेश कर जाते हैं वह ब्रह्म है)। इसमें जन्म आरम्भमें है, स्थिति और भङ्ग तदनन्तर हैं। अतः तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमाससे 'जन्मादि' यह लक्षण बना।

वस्तुस्थिति भी यही देखनेमें आती है कि जिसका जन्म हुआ है उसकी स्थिति और प्रलय भी सम्भव है। अतः आचार्यने भाष्यमें कहा—

जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च (भाष्य)

आइये, अब तनिक सूत्रके पदोंके अन्तरमें प्रवेश करें—

हमको दो चीज मालूम पड़ती हैं। एक तो इदम् प्रत्ययके विषय अर्थात् वे विषय जो 'यह' करके बोधित होते हैं। और एक

विषयी जो अहं-प्रत्ययका विषय होता है। जो इदम्-प्रत्ययका विषय है वही जगत् है। उसका लक्षण है: जन्म, स्थिति और प्रलय। जिसका जन्म हो, जिसकी स्थिति हो और जिसका प्रलय हो सो इदम्, सो जगत्:

यज्जन्मवत् यत् स्थितिमत् यच्च लयवत् तत् इदं जगत्।

'इदम्' कहनेसे क्या मालूम पड़ा? इदं कहनेसे मालूम पड़ा भासमानत्व, प्रतीतिविषयत्व। इस प्रकार यह जो इदं-प्रतीतिका विषय दृश्य-प्रपञ्च है उसके जन्म, स्थिति और प्रलय दिखायी पड़ते हैं, वे प्रतीयमान जन्मादि जिस कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है:

अस्य प्रतीतिविषयस्य दृश्यस्य प्रतीयमानं यत् जन्मादि तद् यतो भवति तद् ब्रह्म।

अथवा जिससे 'इदम्' होता है तथा जिससे 'इदम् के जन्मादि होते हैं सो ब्रह्म है:

यतः इदं भवति यत इदमो जन्मादि भवति तद् ब्रह्म।

शंका: किसी भी व्यक्तिने ब्रह्मसे जगत्को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा और किसीने भी जगत्को ब्रह्ममें लीन होते हुए नहीं देखा है। देखा भी नहीं है और देख भी नहीं सकता है। ऐसी स्थितिमें जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलयको ब्रह्मका लक्षण बताकर ब्रह्म-विचारमें प्रवृत्त करना ठीक नहीं है।

समाधान ठीक है। जो नहीं देखा उसका विचार मत करो। उड़ा दो जन्म और प्रलयको चिदाकाशमें। तुमको एक सेकेण्डका आना, उसका रहना और उसका चला जाना, मालूम पड़ता है या नहीं? तुमको एक इञ्च स्थानका उदय-विलय प्रतीत होता है या नहीं? यह एक फल है, यह एक घड़ो है, इन एक-एक वस्तुओंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रतीत होती है या नहीं? तुम किसीके कारणका विचार करो। प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक देशमें

और प्रत्येक वस्तुमें जो तुम्हें निरन्तर जन्म-स्थिति और भंगका भान हो रहा है और जो जन्मादिवाला है भासता है, वह सब जिससे होता है वह ब्रह्म है।

यत्प्रतिक्षणं प्रतिदेशं प्रतिवस्तुं जन्मादिभासते यत् जन्मादिमत् भासते च तत्सर्वं यतः तद्ब्रह्म।

इससे क्या निकला? आपको कुछ मालूम पड़ता है या नहीं? आँखसे, कानसे, नाकसे, जिह्वासे, त्वचासे, मनसे, बुद्धिसे साक्षीसे—किसीसे कुछ मालूम पड़ता है या नहीं? पड़ता है। है कोई माईका लाल जो कह सके कि हमें कुछ मालूम हो नहीं पड़ना? मालूम तो कुछ-न-कुछ सबको पड़ता ही है।

मालूम पड़ना (प्रतीति) दो तरहकी होती है: एक प्रतीति मालूम पड़ती है और मिटती जाती है और दूसरी प्रतीति मालूम पड़ती और मिटती भी नहीं है। इस विवेकको सदा ध्यानमें रखो। 'अस्य' अर्थात् 'यह' पदार्थ मालूम पड़ता है और बदलता जाता है और जिसको यह परिणामी प्रतीति मालूम पड़ती है वह आत्मा मालूम पड़ता रहता है और वह कभी बदलता नहीं।

जो जन्म-स्थिति-लयवाली प्रतीति है वह सब 'यहवाली' प्रतीति है। (उस प्रत्येक प्रतीतिमें 'यह' (इदं) लगा हुआ है। 'यह'का जन्म होता है, 'यह'की स्थिति होती है, 'यह'की मृत्यु होती है। यह अमुक, यह अमुक। तो यह 'यह' जिसमें सिद्ध हो रहा है वह ब्रह्म है।

इदंतया जन्मादिमत्तया च यद्भासमानं तत् यतः यस्मात् प्रतीयते तत् प्रत्यक् चैतन्याभिन्नं तद् ब्रह्म।

'इदंरूपसे जन्मादिवालारूपसे जो कुछ भासमान है वह जिससे है और जिससे प्रतीत हो रहा है वह प्रत्यगात्मा अभिन्न ब्रह्म है।'

देखो 'जन्माद्यस्य यतः' से यह 'तत्-त्वम्'की एकतारूप लक्षण ब्रह्मका निकल आता है।

जिससे जन्म-स्थिति और प्रलय मालूम पड़ता है वह स्वयं जन्म-स्थिति और प्रलयसे रहित है। वह जन्मरहित है, स्थितिरहित है, प्रलयरहित है और इदंतारहित है, क्योंकि वह 'अस्य'से जुदा है। वह जन्म-स्थिति-भङ्गसे रहित, इदंतासे रहित, 'अस्य'से पृथक्, प्रत्यगात्मासे अभिन्न, अनन्त, अपरिच्छिन्न चैतन्य वस्तु है सो ब्रह्म है'—ऐसा यह ब्रह्मका लक्षण निकला।

'यत्' पदका अर्थ है : यतः अनिर्वचनीयात्। वह जगज्जन्मादि-का कारण जो ब्रह्म है वह अनिर्वचनीय है। कैसा अनिर्वचनीय है ? इदंतया निर्वचनीय नहीं है, जन्मादिमत्तया निर्वचनीय नहीं है, वाङ्मनोगोचर रूपसे निर्वचनीय नहीं है।

यत् पद-वाच्यार्थ जो ब्रह्म है वह 'सत्त्वासत्त्वाभ्यां अनिर्वच-नीय' नहीं है; क्योंकि ब्रह्मके विवादमें वह 'है' या 'नहीं है' यह प्रश्न नहीं उठता है। विषय तो 'अस्ति', 'नास्ति' प्रत्ययोंका विषय हो सकता है; परन्तु ब्रह्म तो अस्ति-नास्ति प्रत्ययोंका विषय नहीं, अपितु अस्ति-नास्ति प्रत्ययोंका आश्रय है। दोनों प्रत्यय ब्रह्मसे ही सिद्ध होते हैं। बल्कि दोनों प्रत्यय ब्रह्मकी अनन्ततामें मिथ्या ही हैं। तब ब्रह्म है या नहीं है, यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि ब्रह्म तुम्हारे मनके (वृत्तिके) सामने आता होता तो वह है या नहीं, यह प्रश्न उठ सकता था। परन्तु ब्रह्म तो वह वस्तु है जिसके सामने मन ही है, जिसके सामने है और नहीं, दोनों प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। अतः ब्रह्म 'सत्त्वासत्त्वाभ्यां अनिर्वचनीय' नहीं है।

'जन्माद्यस्य यतः'में जगत्के जन्मादिके कारणको केवल 'यत्' कहा गया है। यत् सर्वनाम ब्रह्मके लिए ही प्रयुक्त हुआ है, यह कैसे ज्ञात हुआ है ? तो कहा कि ब्रह्मणः उपक्रान्तत्वात्'। प्रथम

सूत्रमें ब्रह्मजिज्ञासा पदमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग हो चुका है और ब्रह्मकी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की जा चुकी है। अतः यहाँ यत्पद केवल ब्रह्मका ही वाची है।

वह 'यत्' कैसा ? दृश्यका जन्मादि जिससे होता है सो यत्। इसका अर्थ है कि वह दृश्य नहीं है और उसके जन्मादि नहीं होते। जन्मादिसे रहित और दृश्यसे विलक्षण जो पदार्थ है उसका नाम ब्रह्म है। वह ब्रह्म अन्य है या स्व है, यह अलग प्रश्न है। वह 'स्व' है अर्थात् प्रत्यगात्मासे अभिन्न है, यह बात सूत्रार्थमें-से ही कैसे निकल आती है, यह बताया जा चुका है।

'अस्य' और 'यत्' पदार्थोंमें पृथक्ता है, इसपर ध्यान दो। यत् जो दृश्यसे विलक्षण है, दृश्यका अधिष्ठान है जो दृश्यमें निहित (व्यापक) है, जिसमें दृश्य अध्यस्त है और जिससे दृश्यका बाध हो जाता है, वह दृश्यसे विलक्षण, दृश्यका द्रष्टा, दृश्यसे रहित चेतन है, ब्रह्म है।

यत् दृश्यादिविलक्षणं दृश्यादि-अधिष्ठानं, दृश्ये निहितं, यस्मिन् दृश्यमध्यस्तं यस्मिन् दृश्यं बाध्यते तद् ब्रह्म।

इससे यह अर्थ निकला कि दृश्यसे विलक्षणमें ही दृश्य भास रहा है दृश्यरहितमें ही दृश्य भास रहा है—

दृश्यविलक्षणे दृश्यत्वरहिते दृश्यं प्रतीयते इत्यर्थः।

अर्थात् जिसमें दृश्य नहीं है उसीमें दृश्य भासमान होनेके कारण दृश्य मिथ्या है : अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण दृश्य मिथ्या है :

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्।

क्योंकि 'इदं' दृश्य है और उसके जन्मादि भी दृश्य हैं। अतः ये जिस अधिष्ठान अनिदम्में, जिस अनिदम्से दृश्यरूपमें भास रहे

हैं, वह यत्-पद-वाच्यार्थ ब्रह्म है; केवल वही सत् है और इदं तथा जन्मादि मिथ्या हैं :

'अस्य' भी मिथ्या है और उसके जन्मादि भी मिथ्या हैं और जिस अधिष्ठानमें 'अस्य' और 'जन्मादि' दोनों भास रहे हैं, वह सत्य है।

मिथ्या कहते ही उसको हैं जो अपने अभावके अधिकरणमें भासे। जो चीज जहाँ न हो वहीं भासे, तो वह मिथ्या कहलाती है। इस न्यायसे—

एकमें अनेक नहीं हैं। उसी एकमें अनेक भास रहा है। अतः अनेकता मिथ्या है।

चेतनमें जड़ नहीं है। उसी चेतनमें जड़ भास रहा है। अतः जड़ मिथ्या है।

अनन्तमें सान्त नहीं है। उसी अनन्तमें सान्त भास रहा है। अतः सान्त मिथ्या है।

अनादिमें सादि नहीं है। अनादिमें ही सादि भास रहा है। अतः सादि मिथ्या है।

अपरिच्छिन्नमें परिच्छिन्न नहीं है। अपरिच्छिन्नमें ही परिच्छिन्न भास रहा है। अतः परिच्छिन्नता मिथ्या है।

आत्मामें अनात्मा नहीं है। आत्मामें ही अनात्मा भास रहा है। अतः अनात्मा मिथ्या है।

सूत्र तो विचारका सूचक मात्र होता है। गम्भीर विचारसे कतराना नहीं चाहिए। लोग कहानी पढ़कर वेदान्त समझना चाहते हैं।

'जन्माद्यस्य यतः।'

यतः अस्य जन्मादि भवति, यतः अस्य जन्मादि प्रतीयते, यतः अस्य जन्मादि प्रियं भवति तद् ब्रह्म।

'जिससे इस जगत्का जन्मादि होते हैं, जिससे इस जगत्के जन्मादि प्रतीत होते हैं और जिससे इस जगत्के जन्मादि प्रिय लगते हैं वह ब्रह्म है।' इस अर्थमें ब्रह्म 'अस्ति, भाति, प्रिय' रूपसे वर्णित हो गया।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति' इस श्रुतिमें जायन्ते (उत्पत्ति), जीवन्ति-प्रयन्ति (स्थिति) और अभिसंविशन्ति (प्रलय) ये तीन बातें जगत्के बारेमें बतायी गयी हैं। 'इण् गतौ'से गतिके अर्थमें और 'प्रियञ तर्पणे' धातुसे तृप्तिके अर्थमें प्रयन्ति शब्द बनता है। अतः गतिके अर्थमें लेनेसे उसका 'अभिसंविशन्ति'के साथ प्रलयमें उल्लेख किया जाता है और तृप्तिके अर्थमें लेनेसे उसे 'जीवन्ति' के साथ स्थितिमें समावेश किया जाता है। स्वतन्त्र माननेपर श्रुति-वाक्यमें जगत्की चार गतियाँ माननी पड़ती हैं—

उत्पत्ति (जायन्ते), स्थिति (जीवन्ति), तृप्ति (प्रयन्ति) और प्रलय (अभिसंविशन्ति)। अतः जगज्जन्मादि लक्षणवाला ब्रह्म कैसा है ? वह जन्मस्थान है जगत्का, जीवन स्थान है जगत्-का, प्रीणन स्थान है जगत्का और अभिसंविशन स्थान है जगत्का। इन चार लक्षणोंवाला हुआ ब्रह्म। 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म। उसीको जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है।

अब देखो ! 'यतः अस्य जन्मादि भवति तद् ब्रह्म।' जिससे इस जगत्के जन्मादि होते हैं, वह ब्रह्म है। वह अखण्ड सत्ता जो इंद-प्रत्ययका विषय नहीं है; बल्कि उसका आश्रय है, परन्तु जिससे इदन्तया प्रतीत होनेवाले जगत्के जन्मादि होते हैं, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्मका सत् प्रधान लक्षण हुआ और सूत्रका सत् प्रधान अर्थ हुआ।

यतः अस्य जन्मादि भासते तद् ब्रह्म।

जिस अखण्ड सत्तासे इदन्ताक्रान्त जगत्‌के जन्मादि भासते हैं वह ब्रह्म है। यह चित् प्रधान अर्थ है।

यतः प्रकाशात् अस्य जगतः जन्मादि प्रीणाति = प्रैति (प्र + एति) तद् ब्रह्म।

जिस अखण्ड सत्ताके प्रकाशित होनेपर ही इस जगत्‌के जन्मादि तृप्तिका हेतु हो जाते हैं, वह ब्रह्म है। यह आनन्द-प्रधान अर्थ है।

यस्मिश्च अस्य जन्मादि लीयते = बाध्यते तद् ब्रह्म

जिस अखण्ड सत्तामें जाकर सब-का-सब नामरूप कर्ता-भोक्तारूप जो प्रपञ्च है सो जाता है, वह ब्रह्म है। यह श्रुतिवाक्यके 'अभिसंविशन्ति'के अनुसार अर्थ है।

इस प्रकार सबको मिलाकर श्रुत्यर्थके अनुसार ब्रह्मका यह लक्षण बना—

यतः अस्य जंन्मादि भवति, जन्मादि प्रतीयते, जन्मादि प्रीणाति यस्मिश्च जन्मादि लीयते बाध्यते तद् ब्रह्म।

जिस अखण्ड सत्तासे इस जगत्‌के जन्मादि होते हैं, प्रतीत होते हैं, तृप्तिके हेतु होते हैं और जिसमें जाकर प्रलीन हो जाते हैं, बाधित हो जाते हैं, वह (सच्चिदानन्दघन अद्वय) ब्रह्म है।

यहाँ एक बातकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करता हूँ। यह जो श्रुतिवाक्य है: **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,…… तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म;** इसमें कहा गया है कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करो 'विजिज्ञासस्व'। यह नहीं कहा कि ब्रह्मको ढूंढो या कि ब्रह्मको प्राप्त करो, या कि ब्रह्म ही हो जाओ। ब्रह्मकी जिज्ञासा करो—यह कहा है। इसका अर्थ है कि ब्रह्म तो प्राप्त ही है, उसमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है वह जिज्ञासा करनेमात्रसे

अर्थात् केवल ज्ञानमात्रसे निवृत्त हो जायेगा। ब्रह्ममें समाधिके द्वारा लीन होना नहीं है और घट-पटादि प्रत्यक्ष वस्तुओंके समान उसको प्राप्त करना नहीं है। दूसरे शब्दोंमें ब्रह्म विषयत्वेन विद्यमान नहीं है कि उसका लाभ करें तथा ब्रह्म कोई परिणाम-कारण नहीं है कि उसमें हम लीन हो जायँ। तब ? ब्रह्मकी जिज्ञासा करो। **विजिज्ञासस्व** अर्थात् **आत्माभेदेन विजानीहि** अर्थात् आत्मासे अभेदरूपमें ब्रह्मको जानो।

इस अभेद अर्थका कारण है। जिस तैत्तिरीय उपनिषद्‌की यह जिज्ञासा-श्रुति है उसी उपनिषद्‌को उपसंहारक सिद्धान्त श्रुति भी है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति। (तैत्ति० ३.६)

आनन्द ही ब्रह्म है, इस प्रकार जाना। सचमुच 'आनन्दसे ही ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्दसे ही जीते हैं, आनन्दकी ओर ही उनकी गति है। आनन्दमें ही वे लीन हो जाते हैं।'

यहाँ श्रुति 'तद्विजिज्ञासस्व' नहीं कहती। उल्टे 'आनन्द ही ब्रह्म है' यह कहती है। आशय यह है कि **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** श्रुतिमें जिस जिज्ञास्य ब्रह्मकी चर्चा की गयी, वह यह आनन्द ब्रह्म ही है।

देखो, भटके हुए लोगोंकी बात तो छोड़ दो जो कहीं अटक गये हैं या किसीके साथ लटक गये हैं या जिनके साथ कोई खटका लग गया है। बात साफ-साफ यह है कि आनन्द सदैव ही स्वनिष्ठ होता है। 'आहा! यह आनन्द है!' इस अनुभवमें आनन्दका विषयमें आरोप तो है, परन्तु उसकी अनुभूति अपनेसे अभिन्न होती है। सारा सुख और सारा दुःख तुममें ही होता है। तुम्हारा सुख

दुःख दूसरे की मुट्ठीमें नहीं है। यह जो पराधीनताका आरोप है; वह मूर्खतापूर्ण है, अविवेकपूर्ण है।

कर्म-सिद्धान्तमें भी सुख-दुःखको स्वनिष्ठ ही माना जाता है—

कोउ न काउ सुख-दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥

(रामचरितमानस)

दुःख कहाँ है? चीजमें? वह तो पहले-पहल जिसके घरमें आयी थी उसको पहले सुख दिया, फिर दुःख दिया। फिर दूसरेके घर जब आयी, तब पहले सुख दिया फिर दुःख दिया। अब तुम्हारे घर आयी है तो सुख भी देगी दुःख भी देगी। असलमें वस्तु सुख या दुःख नहीं देती, वह तो सहज स्वभावसे चलती है। परन्तु उसके प्रति जिसकी वासना है वह उसे पाकर सुखी होता है और खोकर दुःखी होता है। तुम स्वयं तो तटस्थ हो, उदासीन हो।

कर्मकी दृष्टिसे भी (पुण्यकर्मका फल) आनन्द अपने ही हृदयमें उदित और विलीन होता है। भावनाकी दृष्टिसे भी अपने इष्टदेवका तथा उनके साथ तदाकारताके सुख-दुःखका उदय-विलय भी अपने हृदयमें ही होता है। योगकी दृष्टिसे भी सुख-दुःखकी वृत्ति हृदयमें ही होती है, यद्यपि आत्माका सुख-दुःखके साथ सम्बन्ध कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता। सांख्यकी भी यही स्थिति है। वेदान्तमें अपना आत्मा आनन्दरूप है और दुःख आगन्तुक माना जाता है।

पुत्र-सुख किसको मिलता है? धनका, स्त्रीका, प्रियका, परिजनका सुख किसको मिलता है? कुछ ऐसी बात है भाई, कि जो तुम हो, जहाँ तुम हो, जब तुम हो और जब, जहाँ, जो कुछ तुम देख रहे हो, असलमें तुम आनन्दरूप ही हो। यह आनन्द देश, काल, द्रव्यसे कटता नहीं। देश, काल, द्रव्यसे अपरिच्छिन्न है यह आनन्द! इस आनन्दका कोई सजातीय नहीं है; इस आनन्दका

कोई विजातीय नहीं है और इसमें कोई स्वगत तारतम्य भी नहीं है। यह आनन्द न स्वयं कार्य है, न किसीका कारण है। न इसका कोई बाप है, न यह किसीका बाप है। इसका कोई मालिक भी नहीं है। अर्थात् यह पराधीन नहीं है। इसी बातको श्रुति यों कहती है कि—

न तस्य कश्चित् जनिता न चाधिपः।

'न इसका कोई पिता है न स्वामी'। इसमें देश, काल, वस्तु, क्रिया, उपासना, योग, कुछ नहीं है। यह आनन्द तुम्हारी आत्माका स्वरूप ही है। यह तुम हो।

यह 'आनन्द-चर्चा' इसलिए की कि 'जन्माद्यस्य यतः'की जो विषय-वाक्यरूप श्रुति थी 'यतो वा०,' उसमें 'तद् विजिज्ञासस्व तद्-ब्रह्म' यह वाक्य पड़ा था तो 'जन्माद्यस्य यतः' में 'यत्' पदका अर्थ किया ब्रह्म; क्योंकि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'में ब्रह्म शब्द पड़ा है और ब्रह्मकी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की गयी है। वह ब्रह्म क्या है? तो कहा कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है : **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।**

जो आनन्द जन्मे और मर जाय, क्या वह आनन्द हुआ? नहीं। अतः आनन्द सत्य है।

जो आनन्द हो तो और मालूम न पड़े, क्या वह आनन्द हुआ? नहीं, अतः आनन्द चित् है।

इसलिए ऐसा आनन्द ब्रह्म है जो अविनाशी है (सत् है), जो चेतन है और ब्रह्म होनेसे जो अनन्त है। इस प्रकार ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण भी निकल आया कि **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'** यह लक्षण भी तैत्तिरीय उपनिषद्की श्रुति ही प्रदान कर रही है।

अब देखो 'यत्' जो जगत्का कारण है, वह है सत्य, वह है ज्ञानस्वरूप और अनन्त। और जो 'इदम्' है जगत् ('अस्य'पदका

अर्थ) वह है विनाशी, जड़ और परिच्छिन्न। और सूत्र कहता है कि 'यत्'से 'इदम्'के जन्मादि हुए हैं। 'अस्य'से विलक्षण यतः'! विलक्षणसे विलक्षणकी उत्पत्ति हुई है! इस जगत्में जितना आनन्द है वह उत्पत्तिवाला है, थोड़े दिन रहनेवाला है, अन्तमें नष्ट होनेवाला है और वह 'इदमानन्द' है; जबकि ब्रह्म आत्मानन्द है। और सूत्र कहता है कि 'जन्माद्यस्य यतः'।

जन्माद्यस्य यतः। यहाँ 'इदम्'की उत्पत्ति जिससे हुई है उसको ब्रह्म बताया। जिस सत्से, जिस चित्से, जिस आनन्दसे और जिस अनन्तसे इस असत्की, इस जड़की, इस दुःखरूप परिच्छिन्न जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं वह ब्रह्म है। अब प्रश्न यह है कि 'अहम्' किस दशामें रहा ? 'इदम्' की कक्षामें या 'यत्'की कक्षामें ?

जब 'अहं' होगा तब 'इदम्' मालूम पड़ेगा और जब 'अहम्' नहीं होगा तब 'इदम्' भी मालूम नहीं पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि 'इदम्'का मालूम पड़ना 'अहम्'के आश्रित है। इस प्रकार 'अहम्' 'इदम्'की कक्षामें तो आ नहीं सकता, वह ब्रह्म (यत्) की कक्षामें ही आयेगा।

इस प्रकार सूत्रार्थ यह हुआ कि : जो अजन्मा, अपरिवर्तनशील, इदंतासे विलक्षण, प्रत्यक् चैतन्य (अहम्) आत्मासे अभिन्न सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दरूप अद्वय सत्ता है जिसमें यह जगत् भास रहा है और भासते हुए भी सच्चा नहीं है, वह ब्रह्म है।

अब 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रके एक-दो अर्थ हँसी-खेलके भी सुना दें। जैसे बालक खिलौनोंसे खेलते हैं वैसे ही हमलोग शब्दोंसे खेलते हैं। इन अर्थोंमें किसीके बुरा माननेकी जरूरत नहीं है। वेदान्तनिष्ठामें इनका उपयोग है।

भक्तोंसे कहेंगे कि तुम्हारे जो आद्य हैं, आराध्यदेव हैं, उनका जिससे जन्म हुआ सो ब्रह्म है—कैसे ? **यतः आद्यस्य (आराध्यस्य) जन्म** = जन्म आद्यस्य यतः = जन्माद्यस्य यतः ।

जैनोंसे कहेंगे कि तुम्हारे जो आद्य हैं 'आदिनाथ' उनका जिससे जन्म हुआ सो ब्रह्म है । **यतः आद्यस्य आदिनाथस्य जन्म** । इसी प्रकार बौद्धोंसे कहेंगे कि तुम्हारे जो आदि बुद्ध हैं वे जिनसे होते हैं सो ब्रह्म है—**यतः आद्यस्य बुद्धस्य जन्म** ।

प्राकृतिकोंसे कहेंगे कि : **आद्यस्य प्रधानस्य यतो जन्म** । तुम्हारी जो जगत्‌की आदिकारणरूपा प्रकृति है, उसका जन्म जिससे होता है वह ब्रह्म है ।

आस्तिकोंसे कहेंगे कि : **यतः आद्यस्य ईश्वरस्य जन्म** । अथवा **यतः आद्यस्य हिरण्यगर्भस्य जन्म** । जगत्‌का जो कारण ईश्वर या हिरण्यगर्भ है, वह जिससे उत्पन्न हो सो ब्रह्म है ।

शृङ्गाररस-रसिकोंसे कहेंगे कि : **आद्यस्य शृङ्गाररसस्य यतो जन्म** ।' सब रसोंका आदिरस जो शृङ्गाररस है उसका जन्म जिससे हुआ सो ब्रह्म है ।

इस प्रकार सब सम्प्रदायोंके इष्टोंका जिससे जन्म होता है वह ब्रह्म है । यह ब्रह्ममें सर्वोत्कृष्ट दृष्टिकी स्थापना है ।

जन्म माने क्या ? प्रतिक्षण प्रतीयमान होनेवाला जन्म और मरण । वह जन्म-मरण नहीं जो कालके आदिमें हुआ और कालके अन्त में होगा । जैसे हम देखते हैं कि चनेका बीज पौधेमें-से निकला; यह देखकर कहते हैं कि चनेका जन्म पौधेमें-से हो रहा है । और बीजको जब खेतमें बोते हैं तो कहते हैं कि अब बीजसे अंकुर उत्पन्न हो रहा है । अंकुर जो आदि है और बीजका जो आदि है और जो प्रतिक्षण देखनेमें आता है उस आदिको ही हम चर्चा करते हैं ।

अब कहो कि 'जन्माद्यस्य यतः'के ये अर्थ किस भाष्य या टीकामें हैं ? तो ये कोई रटे-रटाये अर्थ नहीं हैं। यों हमारे पास ब्रह्मसूत्रकी कोई ३५-४० टीकाएँ और भाष्य हैं उनमें-से चतुःसूत्री भाष्य या टीका तो सबकी पढ़ी ही हैं और शेषांशका गुर मालूम है। श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोकमें भी 'जन्माद्यस्य यतः' पड़ा हुआ है ही। भागवतके टीकाकारोंने भी इसकी व्याख्या की ही है। कोई पचास टीका भागवत की भी मैंने पढ़ी हैं। बचपनसे ही भागवतके साथ सम्पर्क हुआ और इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' से हमारा परिचय बहुत पुराना है। कोई चालीस वर्षका परिचय तो हो ही गया। सबका सार-अर्थ आपको सुनाता हूँ।

वेदान्त- दर्शन युक्तियोंका वर्णन करनेके लिए नहीं है। युक्तियाँ तो श्रुतिकी मददगारमात्र हैं। युक्ति में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह कांदिशीक होती है। माने उसका नतीजा क्या होगा यह नहीं मालूम रहता। वह लक्ष्यहीन रहती है। जो अनन्त ब्रह्मको जानना चाहता है वह तो एक लक्ष्यको जानना चाहता है। उसके लिए लक्ष्यज्ञानकी प्रक्रिया होनी चाहिए। तर्कको क्या स्थिति है ? चाहे जो कुछ तक उठा लो, चाहे जिस दृष्टान्तसे उसे सिद्ध कर दो और उससे चाहे जो कुछ सिद्ध कर दो। और सिद्धिका नतीजा चाहे जो हो, चाहे स्वर्ग मिले या नरक ! इसके विपरीत श्रुति ब्रह्मके ज्ञानकी, अनन्त लक्ष्यके ज्ञानकी प्रक्रिया है।

तो ब्रह्मसूत्र श्रुति-वाक्यार्थकी प्रक्रिया है प्रत्येक सूत्रपर कम-से-कम एक विचारणीय श्रुति होती है। प्रथम सूत्रमें 'तद्विजिज्ञासस्व' तथा 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यक २.४.५) इन श्रुतियोंका विचार किया गया। प्रस्तुत दूसरे सूत्रमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इस श्रुतिपर विचार किया जा रहा है।

●

(२. ४.)

जगत् और ब्रह्म

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमें ब्रह्मके विचारकी प्रतिज्ञा की गयी और 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रमें ब्रह्मका लक्षण किया गया कि जो इस इदं-वाच्य जगत्के जन्मादिका कारण है ('यत्' पदका अर्थ) वह ब्रह्म है। यह भी विचार किया गया कि जो जगत् है वह जन्मादिवाला है और जो उसका कारण है 'ब्रह्म' वह जन्मादि-वाला नहीं है।

दो तरफ आपका ध्यान आकर्षित करता हूं। ब्रह्म क्या है ? और जगत् क्या है ?

जगत् क्या है, इसके बारेमें बहुत-से विद्वानोंके बहुत-से और अलग-अलग मत हैं।

१. एक मत है कि जगत् हमेशा ज्यों-का-त्यों रहता है। इसकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय (जन्मादि) नहीं हैं। हमेशासे दुनिया ऐसी ही चल रही है और ऐसी ही चलती रहेगी। ऐसी ही धरती, ऐसा ही सूर्य और चन्द्रमा, ऐसे ही स्त्री पुरुष और ऐसी ही उत्पत्तिकी प्रक्रिया! उनके लिए तो जगत्‌के कारणके विचारका प्रश्न ही नहीं उठता। जिज्ञासा ही समाप्त हो गयी। क्या जाननेकी जरूरत है जब दुनिया हमेशा ऐसी ही रहती है? जगत् किससे, कब, कहाँ, क्यों-कोई सवाल नहीं है। एक ही डाँड़में बेड़ा पार! यह सिद्धान्त ब्रह्म-सूत्रको मान्य नहीं है क्योंकि वह तो कहता है—'अस्य जन्मादि भवति। यतः अस्य जन्मादि भवति तद् ब्रह्म।' इसका (जगत्‌का) जन्मादि होता है और वह जन्मादि जिससे होता है वह ब्रह्म है।

२. एक मत है कि चार भूत हैं जो जगत्‌के उपादान-कारण हैं। जगत्‌का निमित्त-कारण कोई नहीं है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु—ये चार भूत हैं। सारी दुनिया इन्हींमें है। द्रव्य ही है, ज्ञान नहीं है, ज्ञान द्रव्यसे ही उत्पन्न होता है। यह चार्वाक सिद्धान्त है।

यह सिद्धान्त भी ब्रह्मसूत्रको मान्य नहीं है; क्योंकि जगत्‌के कारण जो 'यत्' पद-वाच्यार्थ ब्रह्म है वह चार नहीं हो सकता। जो चार कारण होंगे वे सब अपूर्ण और परिच्छिन्न होंगे। वे एक पूर्ण अपरिच्छिन्न ब्रह्मका स्थान कैसे ले सकते हैं?

३. जैन भी सृष्टिको ज्यों-की-त्यों मानते हैं। इसमेंसे कोई जीव निकल जाता है और सृष्टि अनादि-अनन्त ज्यों-की-त्यों चलती रहती है। यह सिद्धान्त भी ब्रह्मसूत्रको मान्य नहीं है; क्योंकि उसके मतमें सृष्टिके जन्मादि होते हैं।

४. बौद्ध लोग कहते हैं कि यह सृष्टि विज्ञानमात्र है। न बनी न बिगड़ी। शून्य ही सत्य है। सृष्टि तत्त्व है ही नहीं। स्पष्ट है कि इनके मतमें भी जगत्‌के जन्मादिका क्या प्रसंग है?

५. पूर्वमीमांसक भी यही मानते हैं कि सृष्टि हमेशासे ऐसी ही है। उनके मतमें भी जगत् कब, किसने, कहाँ बनाया; ऐसा कोई सवाल पैदा नहीं होता।

मतलब यह कि सृष्टिके कारणके सम्बन्धमें शून्यवादी, विज्ञानवादी, सृष्टि मिथ्यात्ववादी और भूत सृष्टिवादी (नास्तिकों में) तथा पूर्वमीमांसावादी (आस्तिकोंमें) वेदान्त-सम्मत नहीं हैं।

६. नैयायिक और वैशेषिक जगत्का जन्म तो मानते हैं; परन्तु परमाणुसे जन्य मानते हैं। अतः उनके मत भी 'यत्' पदका अर्थ ब्रह्म नहीं हो सकता।

७. सांख्यवादी परिणामी प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं। अतः उनके मतमें भी 'यत्'का अर्थ ब्रह्म नहीं हो सकता।

वेदान्त-मतमें केवल ईश्वरवादी पक्ष ही सिद्ध होगा, अनीश्वरवादी नहीं। परन्तु ईश्वरवादियोंमें भी मुस्लिम पक्ष वेदान्तसे सिद्ध नहीं है; क्योंकि वे ईश्वरसे उत्पत्ति-स्थिति तो मानते हैं; परन्तु जगत्का प्रलय नहीं मानते। कहो कि उनके यहाँ भी कयामत है तो शब्दोंके धोखेमें मत आना। कयामतके बाद जीव कहाँ रहते हैं? जिसने कुरानको माना, जिसने खुदापर ईमान लाया, जो मोहम्मद साहबके अनुसार जीवन चलाता है वह कयामतके बाद बहिश्तमें जाता है और जो इस प्रकार नहीं चलता वह दोजखमें जाता है। वहाँ कितने दिनतक रहता है? बोले—'इसकी अवधि नहीं है।' उसका कयाम नहीं है और सृष्टिका कयाम है। स्थूल सृष्टि सावधिक है और सूक्ष्म सृष्टि निरवधिक है।

इस प्रकार ईश्वरकी बनायी होनेपर भी ईसाई और मुस्लिमकी दृष्टिमे सृष्टिका प्रलय नहीं है। जबकि वेदान्त-मतमें जगत्का प्रलय होता है। अतः ईश्वरवादी होनेपर भी ये मत ब्रह्मसूत्रके अनुसार नहीं हैं।

जो लोग सृष्टिका पैदा होना नहीं मानते (जैसे पूर्वमीमांसक, जैन और चार्वाक) वे भी वेदान्ती नहीं हैं और जो सृष्टिकी स्थिति नहीं मानते (जैसे विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध) वे भी वेदांती नहीं हैं तथा जो सृष्टिका प्रलय नहीं मानते (जैसे ईसाई और मुसलमान) वे भी वेदान्ती नहीं हैं। इसीलिए 'जन्माद्यस्य यत:' सूत्रमें इन मतोंका समावेश नहीं होगा, क्योंकि वेदान्त-मतमें सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होते हैं तथा वे सब ब्रह्मसे होते हैं। फिर किन मतोंका समावेश होगा ? जो जगत्‌की जन्मादिको मानते हैं और ईश्वर या ब्रह्मसे मानते हैं।

शून्यवादी जगत्‌का निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों नहीं मानते। निरधिष्ठान निरुपाख्य निर्निमित्त ही सृष्टिकी प्रतीति हो रही है, ऐसा शून्यवादियोंका मत है—

विज्ञानवादियोंका कहना है कि चित्त जो खण्ड-खण्ड प्रवाह-रूप है वह संस्कार-धाराके कारण है। इस जगत्‌का न तो कोई निमित्त कारण चैतन्य है और न इस जगत्‌से अलग कोई जड़ या चेतन इसका उपादान कारण है। जो कुछ है वह चित्त-संस्कार-धारा ही है। ये लोग चित्तोपादानवादी हैं।

उपादानवादी दो प्रकारके हैं—अन्तरंग उपादानवादी और बहिरंग उपादानवादी। चार्वाक बहिरंग उपादानवादी हैं; क्योंकि वे बाहरी चार भूतोंको उपादान मानते हैं। वे निमित्तकारणवादी नहीं हैं; क्योंकि वे ईश्वरको नहीं मानते। नैयायिक लोग बहिरंग उपादानवादी हैं; क्योंकि वे परमाणुको उपादान मानते हैं। परन्तु वे निमित्त कारणवादी भी हैं; क्योंकि जगत्‌के निमित्त कारणके रूपमें वे ईश्वरको मानते हैं। प्रकृतिवादी लोग अन्तरंग उपादान-वादी हैं; क्योंकि बुद्धिके भीतर प्रकृति बैठी हुई है, बुद्धि कार्य है और प्रकृति कारण है। द्रष्टा प्राकृत और प्रकृतिसे विलक्षण है।

अतः द्रष्टा और वुद्धिके बीचमें प्रकृति बैठी हुई होनेके कारण (प्रकृति वुद्धिसे अन्तरंग होनेके कारण) प्रकृतिवादी लोग अन्त-रंग उपादानवादी हैं। कर्मसंस्कारवादी भी अन्तरंग उपादानवादी हैं; क्योंकि कर्मका संस्कार अन्तःकरणमें बैठा रहता है। विज्ञान-वादी भी चित्तोपादानवादी होनेके कारण अन्तरंग उपादानवादी हैं। ईश्वरवादी भी अन्तरंग उपादानवादी हैं।

असलमें जगत्‌का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही ब्रह्म हैं और ये दोनों ब्रह्ममें मायासे मालूम पड़ते हैं। जबतक हम ब्रह्मको नहीं पहचानते तबतक वह निमित्त और उपादान कारण दोनों हैं। परन्तु ब्रह्मको प्रत्यक् चैतन्याभिन्न पहचाननेके बाद ब्रह्म न निमित्त कारण है न उपादान कारण। कारणमात्रका बाध हो जाता है क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्ता है ही नहीं।

चलते-चलते पाश्चात्य दर्शनवादका भी जिक्र कर देते; परन्तु हमने ये दर्शन हिन्दी भाषामें पढ़े हैं। इसलिए अपने ज्ञानको उनके बारेमें हम प्रामाणिक नहीं मानते हैं। क्योंकि दार्शनिककी भाषामें जबतक उसके दर्शनको ठीक-ठीक न समझ लें, तबतक उसकी आलोचना ठीक नहीं।

बात हमारे सामने यह आयी कि पहले सृष्टि बनी-बनायी हुई सामने दीख रही है और तब शास्त्र इसकी संगति लगाता है कि यह कैसे बनी ? सृष्टि किसीने बनायी—इस मतको वेदान्तमें आरम्भवाद बोलते हैं। उदाहरणार्थ जैसे कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनाता है वैसे ही ईश्वरने परमाणुओंसे सृष्टि बनायी। वेदान्तको यह मत मान्य नहीं है।

किसीने पूछा सृष्टि किसने बनायी ? तो हमने कहा कि सृष्टि है और कभी पैदा हुई ये दो बातें तो तुमने अपनी अक्लसे मान लीं और अब हमसे पूछते हो कि सृष्टि किसने बनायी ? पहले अपनी

दोनों भूलें हमसे पूछो कि सृष्टि है या नहीं और सृष्टि बनायी गयी या नहीं बनायी गयी ? जब यह बात मान लें कि सृष्टि बनायी गयी तब यह प्रश्न होगा कि सृष्टि अपने-आप बनी या किसीने बनायी ? अपने आप बनी तो कैसे बनी और बनायी गयी तो किसने, क्यों, कब, कहाँ बनायी ?

सृष्टि क्या है यह और बात है, किसने बनायी यह दूसरी बात है। अपने-आप बन गयी यह तीसरी बात है। 'सृष्टि बनायी' यह आरम्भवाद है। 'बन गयी' यह परिणामवाद है और 'न बनी न बनायी और न है, केवल भानमात्र हो रहा है इसका' यह विवर्त वाद है। जैसे रस्सीमें साँप न बना न बनाया; रस्सीके अज्ञानसे भास रहा है—यह विवर्तवाद है; बच्चा अपने आप जवान हो गया—यह परिणामवाद है। दो ठीकरे जोड़कर घड़ा बना लिया यह आरम्भवाद है।

इस प्रकार जगत्के सम्बन्धमें ये अनेक दार्शनिक मत हैं। असलमें जिसको तुम मैं-मेरा मानते हो, यदि वह मानना भूल-सिद्ध हो जाय तो उसका जो राग-द्वेष, मोह-ममता है उसे छोड़नेको तैयार हो ? तुम तो छोड़नेके बजाय और बनाते हो ! इसमें भी असली चोट तो यहाँ है कि जिस शरीरको 'मैं', शरीरके सम्बन्धी-को 'मेरा', अपने खिलाने-पिलानेवालेको मित्र और हानि पहुँचाने-वालेको 'शत्रु, मानते हो उसको छोड़नेको तैयार हो ? यदि नहीं तो वेदान्त सुनो, सुनें जाओ। तुम्हें पुण्य होगा। पुण्य होगा माने अन्तःकरण स्वच्छ होगा।

अब दूसरी दिशामें आपका ध्यान खींचता हूँ। जन्माद्यस्य यतः' में जन्मादिके साथ क्रियापद तो है नहीं। 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' में भी नहीं था। अतः क्रियापदका अध्याहार करना पड़ेगा।

'यतः अस्य जन्मादि भवति'

यह 'भवति' क्रियापद जोड़ा गया है। बड़े-बड़े लोगोंने इस सूत्रकी व्याख्या की है। उन्होंने यह 'भवति पदका अध्याहार किया है। वे लोग बड़े हैं इसलिए मानते हम भी हैं; परन्तु हमको लगता है कि 'भवति' पद यहाँ ठीक नहीं है। भगवान् श्रीशंकराचार्य, भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजीके विरुद्ध तो हम कुछ बोलना नहीं चाहते; परन्तु बुद्धि जब सोचने लगती है तो अनेक दिशाएँ दीखने लगती हैं। सोच-विचार करके फिर वहीं पहुँच जाओ, इसमें बुराई भी क्या है।

एक श्रुति है—

यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा बन्धनमेव उपाश्रयते एवमेव''''प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति (छान्दोग्य ६.८.२)।

जैसे एक चिड़िया सूतसे बँधी हुई इधर-उधर उड़ती है; परन्तु कोई आश्रय न पाकर पुनः जिससे बँधी है, उसीपर आकर बैठ जाती है, उसी प्रकार हे सोम्य, यह मन है।

आत्मा अन्तिम आश्रय है। आत्मसत्ताके बिना ब्रह्मसत्ता अधूरी है। 'मेरे' बिना ब्रह्म बेहोश पड़ा है और ब्रह्मके बिना 'मैं' कटा-पिटा टुकड़े-टुकड़े परिच्छिन्न है। न ब्रह्म कहीं गया, न मैं कहीं गया। अलगावका भ्रममात्र हो गया है। अलगावके भ्रममात्रने ब्रह्मको बेहोश (जड़) कर दिया है और हमको छिन्न-भिन्न। ब्रह्मसे अलग रहकर चेतन कट गया और आत्मासे अलग होकर ब्रह्म जड़ हो गया।

ईश्वर आपसे क्यों नहीं बोलता ? क्योंकि ईश्वरको आपने अपनेसे अलग कर दिया है, इसलिए वह न होनेके बराबर हो गया

है। आत्म-चैतन्यसे अलग होकर ईश्वर चैतन्य कैसे होगा ? चेत-नता तो केवल आत्मामें ही होती है। दृश्यमें तो चेतनता होती ही नहीं। चेतनता न दृश्यमें होती है और न अदृश्यमें। चेतनता ज्ञानस्वरूप है और सम्पूर्ण ज्ञानोंका ज्ञान अपना आत्मा है। अपने-को छोड़कर ईश्वरके लिए कहाँ भटकोगे ? लोगोंने कितने ईश्वर बनाये, और बनाये हुए ईश्वर मर गये !

मैं जो 'जन्माद्यस्य यतः'में 'भवति' क्रियापदके बिना अर्थ बताना चाहता था वह यह है—

'जन्मादि' पद 'यतो वा इमानि०' श्रुतिके जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति और अभिसंविशन्तिके लिए प्रयुक्त हुआ है। वास्तवमें जायन्ते इत्यादि प्रत्ययमात्र हैं, माने प्रतीमात्र हैं। अतः जन्मादि-पद इन्हीं प्रतीतियोंके प्रत्ययोंके लिए प्रयुक्त हुआ है। ये प्रत्यय (वृत्ति-ज्ञान) जिस स्वयंप्रकाश आत्मासे होते हैं (प्रकाशित होते हैं) रहते हैं और जिसमें अस्त हो जाते हैं, वह ब्रह्म है—

इमानि भूतानि जायन्ते इति प्रत्ययः। इमानि भूतानि जीवन्ति इति प्रत्ययः। इमानि भूतानि प्रयन्ति इति प्रत्ययः। इमानि भूतानि अभिसंविशन्ति इति प्रत्ययः। यतः अस्य एते प्रत्ययाः भवन्ति तद् ब्रह्म।

यहाँ यदि यह होता कि— **यतः एषां भूतानां जन्म, यतः एषां भूतानां स्थितिः, यतः एषां भूतानां प्रलयः तद् ब्रह्म।** जिससे इन भूतों का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है वह ब्रह्म है, तब बात दूसरी थी। परन्तु श्रुतिमें भाववाचक शब्द नहीं हैं। जायन्ते, जीवन्ति इत्यादि सब क्रियावाचक पद हैं। अतः अर्थ यह होगा कि 'ये भूत जिससे पैदा होते हुए भासते हैं, ये भूत जिससे जीवित रहते हुए भासते हैं, जिसकी ओर ये जाते हुए प्रतीत होते हैं और जिसमें ये समाते हुए प्रतीत होते हैं—ये प्रत्यय—देश-प्रत्यय,

काल-प्रत्यय, वस्तु-प्रत्यय, वस्त्वन्तर-प्रत्यय, जन्म-स्थिति-प्रलय प्रत्यय, जिससे हो रहे हैं वह ब्रह्म है।

इस अर्थसे यह हुआ कि पहले जिसे ब्रह्म कहा, वही प्रत्यगात्मा साक्षी हो गया और 'यत्' पदसे दोनोंकी एकता सूचित हो गयी।

जगत्, जगत्में देश-काल और वस्तु, जगत् का कारण ईश्वर और प्रकाशक जीव तथा इनके भेद—जगत्-जगत्का भेद, जगत् और ईश्वरका भेद, जगत् और जीवका भेद, ईश्वर और जीवका भेद तथा जीव-जोवका भेद—ये सब मालूम पड़ते हैं। वेदान्तकी भाषामें बोलेंगे तो कहेंगे कि **भेदो भानव्याप्यः** अर्थात् भेदमात्र भानव्याप्य है।

यत्र यत्र भेदः तत्रैव भानम्। यत्र भानं न भवति तत्र भेदोऽपि न भवति। भेदः प्रातिभासिकः।

जहाँ-जहाँ भेद होता है वहाँ-वहाँ भान होता है। जहाँ भान नहीं होता वहाँ भेद भी नहीं होता। भेद पूर्ववर्ती भान है, भेद मध्यवर्ती भान है और भेद उत्तरवर्ती भान है। बिना भानके भेद नहीं होता। परन्तु बिना भेदके भान होता है। भेदाभावका भान होता है। इसीलिए भान ब्रह्म है और भेद प्रातिभासिक है।

इसका अर्थ है कि भेद होगा ही तब जब मालूम पड़ेगा। दूसरे शब्दोंमें मालूम पड़ना ही भेद है। परन्तु भेद सच्चा है कि झूठा? क्योंकि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद बाधित हो जाता है, इसलिए भेद मिथ्या है—

भेदो मिथ्या। अधिष्ठानज्ञानबाध्यत्वात् रज्जुसर्पवत्।

हम यहाँ वस्तुओंका नाम नहीं ले रहे हैं। हम कह रहे हैं कि भेद ही मिथ्या है। यदि कहो कि वस्तु तो अभान-कालमें भी रह सकती है। सुषुप्तिमें भेदभान नहीं होता तब भी भेद ज्यों-का-त्यों बना

रहता है। जैसे घड़ा घड़ा ही रहता है, मकान मकान ही रहता है इत्यादि, तो हम कहते हैं कि ('दुर्जन-तोषन्याय'से) हम मान लेते हैं कि अभान-दशामें पदार्थ रह सकते हैं, परन्तु अभानमें भेद तो रह ही नहीं सकता। पदार्थोंका भेद तो बिलकुल मानस है, केवल बौद्ध प्रत्ययमात्र है, भानमात्र है, प्रतीतिमात्र है।

भेद वस्तु नहीं है प्रत्यय है, वृत्ति है। यह न जड़ है न चेतन। असलमें जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति और अभिसंविशन्ति ये चार प्रकारके जो प्रत्यय होते हैं जगत्के बारेमें वे जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। 'यतः अस्य इदंताक्रान्तस्य जगतः जन्मादि प्रतीयते तद् ब्रह्म'। जिससे इस जगत्के जन्म-स्थिति और प्रलय भासते है, वह ब्रह्म है। किससे भासता है? मुझसे। तो ब्रह्म कौन? तुम ब्रह्म हो। इस प्रकार इस सूत्रमें-से महावाक्य निकल आया।

यह बात हम पहले बता चुके हैं कि कार्य-कारण भाव मिथ्या होनेपर भी कार्य-कारणातीत वस्तुका लक्षण हो सकता है। इसपर शंका होती है कि जब कार्य-कारण भाव मिथ्या ही है तो, वेदान्ती लोग इस मिथ्या जगज्जन्मादिका वर्णन ही क्यों करते हैं? असलमें यह मृदु उपचार है। जैसे व्रणका उपचार आपरेशन भी है और औषधि-प्रयोग भी है। इसी प्रकार यदि कार्य-कारण भावसे ही ब्रह्म समझमें आजाता हो, तो यह मृदु उपचार होगा।

एक चिकित्सा होती है हेतुप्रत्यनीक-चिकित्सा, जिसमें रोगके कारणका नाश किया जाता है, जैसे आयुर्वेदमें चिकित्सा है। एक चिकित्सा होती है व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा जिसमें रोगको ही दबा दिया जाता है जैसे एलोपैथी चिकित्सा। आध्यात्मिक चिकित्सा हेतुप्रत्यनीक-चिकित्सा-पद्धति है। वृत्त्यन्तरके द्वारा कामवासनाको दबाया जाता है। वेदान्ती इसको यों सोचेगा: काम क्यों आया? दूसरेको सुन्दर और गुणवान् समझनेके कारण।

दूसरेको सुन्दर एवं गुणवान् क्यों समझा ? सुन्दरता और गुण अपने पास न होनेके कारण तथा द्वैतमें गुण-बुद्धि होनेके कारण। द्वैतमें गुण-बुद्धि क्यों ? द्वैतमें सत्यत्व-बुद्धि होनेके कारण। अब द्वैतमें सत्यत्व बुद्धि भ्रान्ति है। इसलिए यदि यह भ्रान्ति ही दूर हो जाय, तो कामवासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय।

कारणका अनुसन्धान करके द्वैतके भ्रमको मिटाना यह हेतु-प्रत्यनीक-चिकित्सा हुई। असलमें संसारमें जितना दुःख है वह भेदन-छेदनके कारण है। इस अद्वितीय ब्रह्ममें न भेद है न छेद।

'सत्' जो वस्तु है वह पैदा होनेवाली नहीं है, अज है। पैदा होकर दीखने-रहनेवाली नहीं है, स्थितिवाली नहीं है। उसका कोई कारण नही है; क्योंकि वह किसीमें लीन नहीं होती। उसमें कोई वासना—कामना नहीं है, इसलिए उसका कोई लक्ष्य नहीं है। वह परिपूर्ण है, आप्तकाम है। वह 'इदम्' नहीं है, वह अपरिच्छिन्न अद्वय ब्रह्म है और वह ब्रह्म वह है जिसको ये सब मालूम पड़ती हैं। अन्तमें, जगत् क्या और ब्रह्म क्या है ? सूत्रसे ये सात लक्षण इनके निकलते हैं—

जगत्	ब्रह्म
१. जन्मवाला	अजन्मा
२. स्थितिवाला; जड़	स्थितिवाला नहीं; चेतन
३. कारणवाला; स्वयं कार्य	कारणरहित; स्वयं कार्यकारणातीत
४. अपूर्ण; लक्ष्यकी ओर गमनशील	परिपूर्ण; लक्ष्यरहित
५. इदं-प्रत्ययका विषय	इदं-प्रत्ययका अविषय
६. परिच्छिन्न, भेदमूलक	अपरिच्छिन्न; अभेदरूप
७. परप्रकाश्य; प्रत्ययरूप	स्वयंप्रकाश; प्रत्ययोंका प्रकाशक

●

(२.५)

कारणत्व, अद्वितीयताका साधन

आप पहले यह ध्यान करो कि परमात्मा सच्चिदानन्दघन अद्वय पदार्थ है। सत्का वही अर्थ है जो 'स्वस्ति'का होता है। निरुक्तमें कहा गया है कि 'स्वस्तीत्यविनाशिनाम' (३.२२)।' स्वस्ति उसको कहते हैं जिसका कभी विनाश न हो, जिसका अपनेसे कभी अदर्शन न हो। स्वस्ति = सु + अस्ति = जिसका अस्तित्व सुष्ठु हो, स्वस्थ हो, नीरोग हो। इसलिए सत्का अर्थ है—अविनाशी सत्ता, अबाधित सत्ता, ऐसी सत्ता जिसका अस्तित्व किसी प्रमाणसे कट न सके।

चित् अर्थात् ज्ञानस्वरूप। जो सम्पूर्ण ज्ञानों, समस्त वृत्तियोंके मूलमें अद्वितीय ज्ञान विद्यमान है, वह है चित्।

आनन्द ! जो सम्पूर्ण सुखोंकी चिन्गारियोंका, सुखोंकी फुहियोंका, सुख-कणिकाओंका, सुख-विन्दुओंका स्रोत है, समुद्र है, वह है आनन्द।

अद्वय कहनेका तात्पर्य है कि सत्, चित् और आनन्द ये तीनों तीन नहीं हैं, एक ही हैं; और इसके सिवाय और कोई वस्तु ही नहीं है।

ऐसा जो सच्चिदानन्द अद्वय प्रत्यगात्मा है—आनन्द-बिन्दुओंका समुद्र, ज्ञानवृत्तियोंका समुद्र, अस्ति-अस्ति-अस्ति वृत्तियोंका मूल सत्—वही अद्वितीय ब्रह्म है।

संसारमें क्या दीखता है ? कार्य, दृश्य और भोग्य ! विचार करके देखो कि कार्यकी सिद्धि सत्से है। दृश्यकी सिद्धि चित्से है और भोग्यकी सिद्धि भोक्तासे है। कर्ता ही कार्यको करेगा, द्रष्टा ही दृश्यको देखेगा, भोक्ता ही भोग्यको भोगेगा।

इस प्रकार कर्ता-कर्मका एक द्वैत है, द्रष्टा-दृश्यका एक द्वैत है, भोक्ता-भोग्यका एक द्वैत है और इन्हींके साथ कारण-कार्यका एक द्वैत है, ईश्वर-जगत्का एक द्वैत है, ज्ञाता ज्ञेयका एक द्वैत है। इनका विवेक, इनका पृथक्करण, अलगाव, अपेक्षित है।

कार्य-कारणका जब विवेक करोगे तो मालूम पड़ेगा कि कार्य अनित्य होता है और कारण नित्य होता है—'यज्जन्यं तदनित्यम्'। परन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिए कि कारणका नाम ब्रह्म नहीं है। कारणता ब्रह्ममें अध्यारोपित है। कारण और कार्यका भेद जिसमें अध्यारोपित है, वह अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है।

कार्य और कारण दोनों ब्रह्ममें उपलक्षण हैं। सत्ताकी अनन्ततामें कार्य और कारण आकाशमें दो नीलिमाओंकी तरह विवर्त-रूपमें दीख रहे हैं। सत्तामें तो चेतन भी है और आनन्द भी है। परन्तु यदि चेतन और आनन्दका विवेक किये बिना ही यदि कार्य-कारणका विवेक करें तो एक ही कार्य और कारणके रूपमें विवर्ती होकर दीख रही है। इस विवेकका फल होगा कि देह और उसकी धातु दोनों ब्रह्मसत्ताके विवर्त अनुभूत हो जायेंगे।

कर्ता और कर्मका विवेक करनेपर पाप, पुण्य और जीवात्माकी सिद्धि हो जायेगी। परन्तु जो यथार्थ परमात्मा है वह कर्ता-कर्मके भेदसे अछूता है।

कार्य और कर्ममें भेद है। कार्य स्वयं कारणमें उत्पन्न होता है और लीन होता है परन्तु कर्मको कर्ता अपनी बुद्धिमें उल्लेख करके तब करता है। रोम तो शरीरमें अपने आप बढ़ जाते हैं परन्तु किसीको चांटा सोच-समझकर मारा जाता है। रोम निकलनेसे पाप या पुण्य नहीं होता; परन्तु चाँटा चूँकि जान बूझकर मारा जाता है; इसलिए वह पुण्य-पाप दोनोंका जनक हो सकता है। कर्मको कर्ता संकल्पपूर्वक करता है जब कि कार्य प्रकृतिमें अपने आप होता है। कर्मसे कर्ताको पाप-पुण्य दोनों लगता है (कर्तृत्वके कारण) जबकि कार्यसे पाप-पुण्य कुछ नहीं लगता।

कर्तृत्व भी दो तरहका होता है—जीवका अल्प कर्तृत्व तथा ईश्वरका सर्वज्ञरूप-सर्वशक्तिरूप कर्तृत्व। इसीसे जब हम कर्तृ-कर्म विवेक करते हैं तो पाप-पुण्य, जीव और ईश्वर (अल्पकर्ता और महान् कर्ता) सिद्ध होते हैं। और यह विवेक होता है कि कर्ता नित्य है तथा कर्म, कर्म-करण और कर्मफल अनित्य होते हैं। इससे महान् कर्ता ईश्वरकी तरफ रुचि और भक्ति बढ़ती है।

कार्यकारण-विवेक सत्ताकी प्रधानतासे होता है और द्रष्टा-दृश्य-विवेक चित्की प्रधानतासे होता है। करणविशिष्ट चेतन कर्ता होता है और वृत्तिविशिष्ट चेतन ज्ञाता होता है। वृत्ति सहित विषय-विषयीका विवेक ज्ञाता-ज्ञेय विवेक है और वृत्तिरहित ज्ञाता-ज्ञेय विवेक द्रष्टा-दृश्य विवेक हो जाता है। इसमें जाग्रद-वस्थाका जो द्रष्टा है वही स्वप्नावस्थाका भी द्रष्टा है और वही सुषुप्ति-अवस्थाका द्रष्टा है। सुषुप्ति-अवस्थामें वृत्ति नहीं रहती, अतः साक्षी निर्वृत्तिक सुषुप्तिका द्रष्टा रहता है। जो सुषुप्तिका साक्षी है वही कूटस्थ साक्षी है, वही जीव-साक्षी है और वही ईश्वर-साक्षी है।

कार्य-कारण भावमें कारणमें परिणाम मालूम पड़ता है। ईश्वर

कार्यरूप परिणामको प्राप्त हो रहा है, यह मालूम पड़ता है। और द्रष्टा-दृश्य-विवेकमें द्रष्टा असंग है यह बोध होता है। कार्य-कारण-विवेकमें जीव कर्ता है—यह सिद्ध होता है और ईश्वर कर्मफल-दाता। जबकि द्रष्टा-दृश्य-विवेकमें द्रष्टा अकर्ता, असंग है—ऐसा अनुभव होता है।

भोक्ता-भोग्य-विवेक क्या है? यह प्रियताका विवेक है। वास्तवमें प्रिय आत्मा है, अपना आपा, परन्तु अपनी प्रियत्वको अन्यमें संचारित करना और फिर देखकर खुशीका होना यह भोक्तापन है। इसमें विवेक यह है कि कोई भी वस्तु स्वयं अपने लिए प्रिय नहीं होती, वह आत्माके लिए ही प्रिय होती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (बृहदा० २.४.५)

भोक्ता-भोग्य विवेकका फल है राग शैथिल्य और वैराग्य जागरण।

असलमें जैसे कार्य और कारण दोनों ब्रह्मके उपलक्षण हैं तथा उसके सत्-अंशके विवर्त हैं, उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य ब्रह्मके चिदंशके विवर्त हैं और भोक्ता और भोग्य दोनों आनन्दांशके विवर्त हैं।

अब देखो, इन अलग-अलग विवेकोंका समन्वय करो। कारण और द्रष्टाको मिला दो तथा कार्य और दृश्यको मिला दो। माने यदि द्रष्टा चेतन ही कारण सत्ता हो तो कारणमें परिणाम होकर कार्य दृश्य नहीं होगा, द्रष्टा विवर्तित होकर ही दृश्यरूप अनुभवमें आयेगा तथा द्रष्टाकी असंगता और कारणकी अपरिच्छिन्नता बनी रहेगी। द्रष्टा तत्त्व बना रहेगा और दृश्यकी अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति हो जायेगी, अतएव दृश्यमें परिच्छिन्नता और विनाशिता बाधित (मिथ्या) हो जायेगी। यह सत् और चित्की एकताके ज्ञानका फल है।

भोक्ता और भोग्यका सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष तादात्म्यमूलक है, एकदम अध्यास है। तादात्म्य माने तत्-स्वरूपता। तादात्म्य = तद् + आत्मता = वही रूप हो जाना। 'तदन्यत्वे सति एकत्वम् अपि।' अन्य होनेपर भी एक हो जाना, यह तादात्म्य है। 'भोक्ता और भोग्यका विवेक करनेसे विषयमें मानी हुई प्रियता अपने वास्तविक आश्रय प्रत्यगात्मामें लौट-जैसे आती है। तब जो सत् चित् था, अब आनन्दरूप भी है न तो आनन्द बिना ज्ञानके होता है (अर्थात् आनन्दका भासना आनन्दकी सत्ताके लिए आवश्यक है), न ज्ञान बिना सत्ताके होता है और न बिना सत्ताके ज्ञान होता है। इसलिए सत्, चित् और आनन्दका पृथक्त्व सम्भव नहीं है। अतः सच्चिदानन्द एक ही पदार्थ है।

चेतनको अपनेसे अलग करके कोई विद्या नहीं हो सकती। तुम स्वयं चेतन हो। यह, वह, तुम सब मैंके द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिए श्रुति कहती है कि परमात्मा इस मैंकी गुफामें छिपा हुआ है। परमात्मा हृदयाकाशमें छिपा है—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं' (कठ० १.२.१२)। हृदयाकाशमें ही छिपा है। 'निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै० उप० २.१.१)। इस बाह्याकाशको बनानेका सामर्थ्य नहीं है; परन्तु हृदयाकाशमें बाह्याकाशको बनानेका सामर्थ्य है। इस हृदयाकाशमें एक सच्चिदानन्द विराजमान है।

तुम्हारे सिवाय अन्य कोई प्रतीति नहीं है। कुछ भासेगा तो किसको भासेगा? देश, काल, वस्तु, ईश्वर, वेद, गुरु, शास्त्र, ये सब किसको भासेगा? तुमको न! यह सर्वज्ञान-निधान कौन है? तुम हो तो हो! तुम कोई मामूली सत्ता नहीं हो। अपनेको स्त्री, पुरुष मान करके हीन भाव नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अपनेको विद्वान्, मूर्ख समझकर विपर्यय नहीं करना चाहिए। वैदुष्य और मूर्खता तो वृत्तिमें होते हैं, दृश्यमें होते हैं, द्रष्टामें

नहीं और स्त्री-पुरुष कार्यमें होते हैं कारणमें नहीं। भोक्ता-भोग्य भी दृश्य ही होते हैं, द्रष्टा भोक्ता-भोग्य नहीं होता। वह तो एक ही आनन्द है, वह न भोक्तामें है न भोग्यमें।

यह जो विषयी नित्य, चेतन आत्मा है, वही अधिष्ठान ब्रह्म है और विषय अनित्य और जड़ है; अतः ये मिथ्या हैं। अतः अब क्या रहा? सब ब्रह्म हो गया। अजातको समझनेके लिए विवर्तरूप जातकी प्रक्रिया रखी हुई है। अजातमें जात क्या? विवर्त। और प्रक्रिया? तरकीब।

एक आदमीने जजकी अदालतमें झूठा मुकदमा चलाया कि "अमुकने मेरे ऊपर बड़े जोरसे गँड़ासा मारा; परन्तु ईश्वर-कृपासे मैं बच गया। डाक्टरने भी लिखा है कि घाव हल्का है। परिणाम यह हुआ कि अब मेरा हाथ ऊपर नहीं उठता। मुझे हरजाना मिलना चाहिए।'

विपक्षी वकीलने पूछा : तुम्हारा हाथ अभी नहीं उठता या पहले भी नहीं उठता था?

मुद्दई : अभी नहीं उठता।

वकील : तुम झूठ बोलते हो। तुम्हारा हाथ पहले भी नहीं उठता था।

मुद्दई : नहीं, यह झूठ है

वकील : नहीं, तुम झूठ बोल रहे हो। तुम्हारा हाथ पहले भी नहीं उठता था और उठता था तो बताओ कितना उठता था।

मुद्दईने तुरन्त हाथ ऊपर उठाकर कहा : इतना उठता था।

वकील (अदालतसे) : हुजूर, यह मुद्दई झूठा है। इसका हाथ अब भी उठता है। इसको न अमुकने मारा है और न जोरसे मारा है।

इसका नाम है तरकीब। इसी प्रकार ब्रह्मको समझानेके लिए उसमें कारणत्वका निरूपण किया जाता है। कारणत्व युक्ति है, तरकीब है। किस बातकी ? इस बातकी कि सृष्टिके कारणके सम्बन्धमें जो अनेक मतवाद हैं (जिनका वर्णन पूर्व हो चुका है) कि सृष्टि चार भूतोंसे हुई या परमाणुसे हुई या विज्ञानसे हुई या कर्म-संस्कारसे हुई या प्रकृतिसे हुई या देवी-देवतासे हुई, इन सबका इकट्ठा खण्डन इस स्थापनासे हो गया कि सृष्टि ब्रह्मसे हुई। और साथ ही ब्रह्मके चेतन और अद्वय होनेके कारण यह भी ज्ञात करा दिया कि सृष्टि और ब्रह्मका कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है; यह तो केवल ब्रह्मके अज्ञानसे भास रही है। सारे कार्य-कारण मिथ्या हैं और ब्रह्म अद्वितीय है। तो फिर ब्रह्ममें कारणता क्यों जोड़ते हो ? तो बोले कि वह ब्रह्मको कारण बतानेके लिए नहीं जोड़ते, बल्कि उसकी अद्वितीयता बतानेके लिए जोड़ते हैं। मिथ्या कार्यका कारणत्व भी मिथ्या ही होगा। क्या मिथ्या सर्पके आधार रज्जुमें आधारता सच्ची है ? नहीं। इसी प्रकार मिथ्या कारणत्वका आधार जो पृथक् अधिष्ठान है, उससे पृथक् न कारण है न कार्य है।

कार्यके मिथ्या सिद्ध होनेपर जिस अधिष्ठानमें कारणत्व आरोपित किया गया, उस अधिष्ठानकी अद्वितीयता सिद्ध हो जाती है। 'न तस्य कार्यं विद्यते।' जगत् मालूम पड़ता है, व्यवहारमें कार्य-कारणता मालूम पड़ती है। इसलिए परमात्मामें ही जगत्के कारणत्वका अध्यारोप किया जाता है। कारणत्व ब्रह्मकी अद्वितीयताका लक्षण मात्र है। अद्वितीयताका बोध होनेपर कारणत्व लक्षण भी वापिस ले लिया जाता है—

एतस्मिन् अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते।
(तैत्ति० २.७)

'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञम्' (माण्डूक्योपनिषद्—(७)।

(२. ६)

सूत्रार्थ

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से जिस ब्रह्मके विचारकी प्रतिज्ञा की उस ब्रह्मका लक्षण किया : 'जन्माद्यस्य यतः' ।

'अस्य प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्धस्य जगतः ।' 'प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध इस जगत्के' यह अस्यका अर्थ हुआ । माने प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द, ऐतिह्य सम्भव और चेष्टा— ये जो नौ प्रमाण हैं, इनसे बोधित सम्पूर्ण जगत्के जो 'जन्मादि' (अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और भंग) जिस कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है । 'यत्' पदका अर्थ है कारण ब्रह्म ।

'अस्य' प्रमाणका विषय है और 'यत्' प्रमाणसे जाना नहीं जाता। वह 'त्वं'-पद और 'तत्'-पदका लक्ष्यार्थ है। 'यतः' इसमें सार्वविभक्तिक तसि प्रत्यय है। अतः 'यतः'का अर्थ है कि जगत्के जन्मादिका जिससे, जिसमें, जिसके द्वारा, जिसके प्रति, जिसके लिए प्रत्यय होता है, वह ब्रह्म है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'में जो जिज्ञास्य है, लक्ष्य है, उद्देश्य है, अर्थात् ब्रह्म, वही 'यत्' है।

ब्रह्मका जगत्के जन्मादिका कारण बताया जाना ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। क्योंकि जन्मादि ब्रह्मके नहीं होते, जगत्के होते हैं। तब ब्रह्मका स्वरूपलक्षण क्या है? तो श्रुतिने बताया कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ब्रह्मका स्वरूपलक्षण है। इस अनन्त ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे होगा? तो कहा कि मिथ्या लक्षणसे भी सत्यका साक्षात्कार हो सकता है। और फिर जहाँ अद्वितीय सत्यकी सिद्धि होगी वहाँ तो मिथ्या लक्षणसे ही उसकी सिद्धि होगी। क्योंकि यदि लक्षण मिथ्या नहीं होगा तो ब्रह्म भी सत्य और लक्षण भी सत्य—इस प्रकार सत्य द्वैतकी सिद्धि हो जायेगी। अतः जैसे सर्पवत् प्रतीयमान रज्जुका लक्षण होता है कि मिथ्याभूत सर्प ही जिसका लक्षण है वह रज्जु है—'अयं दृश्यमानः सर्प एव रज्जुः। सर्पोपलक्षितः रज्जुः' ऐसा कहा भी समझना चाहिए। सत्यका लक्षण सत्य नहीं हो सकता, अन्यथा सत्की अद्वितीयता ही चली जायेगी।

लोकमें भी यदि कोई व्यक्ति अलग-अलग आदमियोंको अपना अलग-अलग नाम बताये तो यही कहा जायेगा कि वह आदमी झूठा है; क्योंकि उसने अपनी बात बदल दी। बदलना झूठका लक्षण है और सत्यका लक्षण जो आज है वही कल है। जो एकके लिए है वही सबके लिए है। अपरिवर्तन ही सत्यका लक्षण होगा।

सोना एकबार कंगन बना, फिर टूटकर हार बना, फिर कुण्डल बना। तो आभूषण तो बदलते गये; परन्तु सोना नहीं बदला। अतः आभूषण झूठा है और स्वर्ण सच्चा है। स्वर्णमें आकृति खिंची और मिट गयी। अधिष्ठान-रूप स्वर्ण सच्चा है और अध्यारोपित आकृतियाँ झूठी हैं। 'स्वर्णमेव सत्यम्'। तथापि आभूषण स्वर्णकी पहचानका साधन हो सकता है।

इसी प्रकार परमार्थमें भी, जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म, स्थिति प्रलय, जीवन और मरण आते रहते हैं, बदलते रहते हैं और जाते रहते हैं। परन्तु इनका जो अधिष्ठान एवं प्रकाशक है, वह एकरस बना रहता है। अतः वह एकरस ज्ञान सत्य है और जाग्रदादि सब मिथ्या हैं। बदलता हुआ ज्ञान भी मिथ्या ही है। इसे बदलनेका साक्षी जो न बदलनेवाला ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है।

यदि आप दूसरेमें आनन्द लोगे तो आनन्द बदलता रहेगा। अन्यनिष्ठ आनन्द यदि बदलेगा नहीं, तो आनन्द ही नहीं रहेगा। परन्तु यदि आपका 'आत्मा ही आनन्द है' यह बोध आपको हो जाय तो आनन्दको बदलनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। इस सत्यको यदि मनुष्य जान जाय तो वह कहीं राग नहीं करेगा और इसलिए द्वेष भी नहीं करेगा। क्योंकि आनन्दका कोई परिच्छेदक अथवा बाधक ही नहीं रहा। उस आनन्दका अभिमान भी नहीं होगा, क्योंकि वह अपना सहज स्वभाव है।

तो ब्रह्मका यह स्वभाव है कि उसमें परिवर्तन नहीं होता। मिथ्या वस्तुओंके परिवर्तनके समान (विकल्प-परिवर्तनके कारण) परिवर्तन नहीं होता, वृत्तियोंके परिवर्तन (विषय-परिवर्तनके कारण) के समान परिवर्तन नहीं होता और प्रियताके परिवर्तनके समान (अज्ञानमूलक मोह, ममता और उपयोगिता-दृष्टिके परिवर्तनके

कारण) परिवर्तन नहीं होता। आत्माकी, ब्रह्मकी, सत्ता, चित्ता और प्रियता अखण्ड है; तब ब्रह्मका लक्षण कैसे बनेगा ? वैसे ही जैसे लोकमें बनता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डके स्फुरण, परिवर्तन, जन्म-मरणमें जो अखण्ड एकरस सत्ता-चित्ता है वह सत्य है, वही ब्रह्म है।

'जन्माद्यस्य यतः'में जन्म पहले क्यों लिखा गया ? श्रुति 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०'में जायन्ते (जन्म) पहले लिखा होनेके कारण और लोकव्यवहारमें भी स्थिति और प्रलयके पूर्व ही जन्म होनेके कारण। वस्तु पहले जन्म लेकर फिर अस्तिका विषय होती है और उसके अनन्तर अन्य भाव-विकार (वृद्धि, क्षय, परिणाम और विनाश) को प्राप्त होती है।

'अस्य'के बारेमें श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने कहा कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध लौकिक जगत् है वह सब 'इदम्' है। उसका जन्म आदिसे सम्बन्ध बतानेके लिए 'इदं'के षष्ठीरूप 'अस्य'का प्रयोग हुआ है। जन्मादिका सम्ब्रन्ध 'इदम्'से है, 'यत्'से नहीं।

सिनेमामें आँखसे दीखता है कि 'यह जन्मा, वह मरा, यह स्त्री, वह पुरुष' इत्यादि। परन्तु विचार करो तो वहाँ कुछ भी नहीं है ? वहाँ क्या है ? आकृतिके संस्कारसे संस्कृत केवल प्रकाश अथवा प्रकाशसे उद्दीप्त केवल आकृति। तत्त्व क्या है ? प्रकाश या आकृति ? प्रकाशमें आकृति आगन्तुक है। संसारमें प्रकाश बुद्धिस्थानीय है और आकृति, संस्कार स्थानीय है तथा पर्दा और प्रकाश दोनों एक हैं यहाँ—वह है सर्वाधिष्ठान, सर्वज्ञ ईश्वर। सर्वज्ञमें जो सर्व है, वह आकृति है और जो 'ज्ञ' है, वह प्रकाश है। उसका अधिष्ठानत्व ही पर्दा है।

अब समझो चिदाकाश ब्रह्म है। उसमें बुद्धि प्रकाश है, आकृतिका संस्कार दृश्य है, आधारत्व पर्दा है। अस्तु।

असम्बद्धमें सम्बद्धकी कल्पना करके तटस्थ लक्षणका सर्जन होता है, यह बात हम पहले बता चुके हैं। यहाँ भी कारणत्वसे रहित ब्रह्ममें जगत्‌के प्रतीयमान जन्मादिके कारणत्व का अध्यारोप करके 'जन्माद्यस्य यतः'के द्वारा ब्रह्मका तटस्थ लक्षण किया गया है। इस जगत्‌का स्वरूप क्या है? श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं।

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचना-रूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः।

एकदिन ईश्वर एकान्तमें बैठा और कविता करनेका संकल्प करके उसने कहा कि 'अनन्त गगन है। वायु स्पन्दित हो रही है। तेज प्रकाशित हो रहा है। जल रसमय हो रहा है। पृथिवी धारण कर रही है…।' जो-जो भाव आया, जो-जो शब्द उसके मुँहसे निकला, वही-वही बनता गया। यह सृष्टि ही उसकी कविता बन गयी। वेदने कहा—

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

(अथर्ववेद, शौनक १०.८.३२)

ईश्वरके इस काव्यको देखो, यह न मरती है और न बुड्ढा होती है। ईश्वर अनेकरूप-रूप है, उनसे यह दृश्यकाव्य बन गया। इसमें मेरा-तेरा, दोस्त-दुश्मन, सुख, दुःख क्या? ईश्वर तो आनन्दरूप है। इसमें दुःख कहाँसे आया?

असलमें लोग बगीचेको देखते हैं; उसको नहीं देखते जिसका यह बगीचा है।

गुरुनानक के पास एकदिन उनके एक सत्संगी अपनी कन्याको भी लाये। कन्या अतीव सुन्दर थी। गुरुनानक गौरसे उसे देखने लगे। सत्संगीने पूछा—महाराज गौरसे क्या देखते हैं? गुरुनानक देवने कहा—अपने मालिककी कारीगरीको देखता हूँ।

संसारको देखो। दृष्टि है तो देखोगे ही; परन्तु देखनेमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए। भोग दृष्टिसे मत देखो।

जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो पहले उसका प्रारूप—घड़ेकी आकृतिका प्रारूप—अपने मनमें अंकित कर लेता है, तदुपरान्त वह चाकपर घड़ा बनाता है। उसी प्रकार सृष्टिमें जितने भी नाम और रूप हैं उनका व्याकरण ईश्वरकी बुद्धिमें रहता है—'नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य।'

इस जगत्में अनेक नाम हैं, अनेक रूप हैं, अनेक कर्ता हैं, अनेक भोक्ता हैं, देश है, काल है, द्रव्य है, द्रव्यमें कार्य-कारण भाव है, क्रिया है, कर्म है, कर्मफल है और स्वयं मनुष्यकी रचनासे लेकर सभी प्राणियोंकी रचना इतनी सूक्ष्म एवं जटिल है कि मनसे भी उनका पूरा चिन्तन नहीं किया जा सकता। जगत्में आश्चर्य ही आश्चर्य है!

ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि जिससे भी होगी, वह अवश्य ही चेतन सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होना चाहिए। उसीको वेदान्तने यहाँ ब्रह्म कहा है।

कहो कि सृष्टि शून्यसे या जड़से या जीवसे भी हो सकती है, तो फिर कथित ईश्वरकी क्या आवश्यकता है, तो ऐसा नहीं हो सकता।

प्रथम जीवसे सृष्टि हो सकती है, इसका खण्डन किया जाता है। जीव अनेक होते हैं और वह कर्ता भी होता है और भोक्ता भी। जीवकी स्वयंकी उत्पत्ति औपाधिक है। शरीर पैदा होता है, साँस पैदा होती है, मन-बुद्धिका उदय होता है। तब उपाधिकी उत्पत्तिसे चेतनमें जीव संज्ञा होती है। यदि उपाधिकी ही उत्पत्ति न हो तो चेतनमें जीव नामही क्यों हो? यही नहीं उपाधिसे ही

जीवकी अनेकता, कर्तापन और भोक्तापन सिद्ध होते हैं। अतः जीव स्वयंभू नहीं है। वह भी बनाये गये हैं। जीव तो स्वयं उपाधिकी उपज है और उपाधिमें उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय देखनेमें आते हैं। अतः उपाधिका उत्पादक (स्वयं उसका उत्पाद्य) जीव नहीं हो सकता।

फिर कर्ता भी कई प्रकारके होते हैं। जब कोई कर्त्ता रसोई तो बनाते हैं; परन्तु उस रसोईको खाते नहीं और कोई खाते भी हैं। उसी प्रकार कोई जीव केवल कर्ता ही होते हैं भोक्ता नहीं होते और कोई कर्ता और भोक्ता दोनों होते हैं। फिर जीवके पास सीमित शक्ति है, सीमित इन्द्रियाँ और सीमित बुद्धि है। अतः इतनी बड़ी और वैविध्यपूर्ण सृष्टि जिसने बनायी, वह कोई परिच्छिन्न जीव होगा, यह बात ठीक नहीं हो सकती।

सृष्टि जड़से भी नहीं बन सकती। बिना बुद्धिमें उल्लेख किये ही यदि जड़से सृष्टि बनी होती तो प्रश्न यह है कि वह अनिश्चित दिशामें क्यों नहीं बहती? वह अपने स्वभावको कैसे पकड़े रहती है? सृष्टि नियमबद्ध क्यों है? अमुक वृक्षमें अमुक ऋतुमें ही फल क्यों लगेंगे? जवानीमें ही उत्पादन-शक्ति क्यों रहेगी? नक्षत्रोंकी चाल, दिशा इत्यादि सब गणितके नियमोंका पालन क्यों करती हैं? सृष्टिमें नियम हैं यही यह बात सिद्ध करती है कि जगत्का कारण जड़ नहीं चेतन है [और नियमोंमें व्यतिक्रम भी जो है वह भी जगत्के मूलमें चेतनको ही सिद्ध करता है; क्योंकि जड़में क्रिया यंत्रवत् होती है]।

शून्यसे सृष्टि हुई, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ कुछ है ही नहीं उससे कुछ कैसे उत्पन्न हो सकता है?

वेदान्तकी रीति यह है कि वह पहले अल्प उपाधिवाले जीवको सिद्ध करता है, फिर सर्व उपाधिवाले ईश्वरको सिद्ध करता है और फिर निर्विशेष चिन्मात्रमें अभेद सिद्ध करता है।

इसका अन्तिम नतीजा यह निकलता है कि चिन्मात्र ब्रह्म है और चिन्मात्र ही जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका अधिष्ठान है। वह ब्रह्म जगत्‌के जन्मका निमित्त ही नहीं, उपादानकारण भी है। अर्थात् ब्रह्म जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसके अतिरिक्त शास्त्रयोनि होनेके कारण और संसारमें पूर्ण नियमबद्धता एवं व्यवस्था देखनेमें आनेके कारण उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध होती है। श्रुतिने 'तत्पद'से उसी समष्टि उपाधिगत चैतन्यको सूचित किया है, 'त्वम्' पदसे व्यष्टि उपाधिगत चैतन्यको सूचित किया है और 'तत्त्वमसि' वाक्यसे उन दोनों चैतन्योंका अभेद तथा अभेदकी दृष्टिसे उपाधिका मिथ्यात्व सूचित किया है।

तो इस नामरूपात्मक जगत्‌के पीछे, इस कर्तृभोक्तृसंयुक्त जगत्‌के पीछे इस देश-काल-निमित्त-क्रियाफलके आश्रय इस आश्चर्यमयी सृष्टिके मूलमें एक अद्वितीय 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' वस्तु विद्यमान है जो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वज्ञ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अनन्त, ब्रह्म है।

जगत्‌के सम्बन्धमें चार बातें हुईं—१. नाम-रूपमय; २. अनेक कर्ता-भोक्तासे संयुक्त; ३. देश, काल, निमित्त, क्रिया और फलका आश्रय एवं ४. मनसे भी अचिन्त्य आश्चर्यमय।

ब्रह्मके सम्बन्धमें भी पाँच बातें ध्यातव्य हैं—१. नामरूपका आश्रय और प्रकाशक २. कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं अनेकत्वकी उपाधियोंका आश्रय एवं उनके भावाभावका प्रकाशक ३. देश, काल, निमित्त, क्रिया और फल के भावाभावोंका प्रकाशक एवं अधिष्ठान ४. मनसे भी अचिन्त्य आश्चर्यमय जगत्‌के अत्यन्ताभावका प्रकाशक एवं अधिष्ठान ५. जगत्‌के किसी भी स्फुरणामात्रसे अबाधित, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित, प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न, अपरिच्छिन्न 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

(२.७)

भावविकार और 'जन्मादि'

अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थिति-नाशानामिह ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्ति-स्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्यते तन्माशङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

(भाष्य १.१.२)

अर्थ : अन्य भावविकारोंका भी इन तीनोंमें ही अन्तर्भाव है अतः यहाँ जन्म, स्थिति और नाशका ही (जन्मादिसे) ग्रहण है। यास्कमुनि द्वारा उक्त 'जायतेऽस्ति०' वाक्यमें जो छः भाव विकार हैं, उनका ग्रहण किये जानेपर जगत्‌की स्थितिकालमें उनकी सम्भावना होनेसे मूलकारण (ब्रह्म)से जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-नाश गृहीत नहीं होंगे—सम्भव है कोई यह आशंका करे। ऐसी आशंका न करे इसलिए ब्रह्मसे इस जगत्‌की जो उत्पत्ति, उसीमें जो स्थिति और (उसीमें जो) प्रलय श्रुतिमें प्रतिपादित हैं वे ही जन्म, स्थिति और लय यहाँ जन्मादिसे गृहीत होते हैं। ●

वेदके शब्दोंकी व्यवस्थाके लिए जो शब्द-कोष है उसे 'निरुक्त' बोलते हैं। यास्कमुनि इस कोषके रचयिता हैं। निरुक्तमें उनका एक वाक्य है—

जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यति। (१.२)

माने शरीर उत्पन्न होता है उत्पन्न होकर अस्तित्वको प्राप्त होता है, परिणामको प्राप्त होता है, बढ़ता है, क्षीण होता है और अन्तमें नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शरीरके और संसारकी सभी स्थितिमान वस्तुओंके, ये छह भावविकार कहलाते हैं। (भाव = क्रिया)।

यहाँ 'जन्माद्यस्य०' सूत्रमें जन्मादिका अर्थ जन्म, स्थिति और नाश किया गया है। इस प्रकार जायते, अस्ति और विनश्यति, इन तीन भावविकारोंका प्रत्यक्ष समावेश जन्मादिमें हो जाता है। परन्तु शेष तीन भावविकारोंका क्या हुआ ? तो कहते हैं कि शेष तीन भावविकारोंका भी इन्हीं तीन—जन्म, स्थिति और नाशमें अन्तर्भाव हो जाता है। (परिणामका और वर्द्धनका उत्पत्तिमें अन्तर्भाव है तथा अपक्षयका विनाशमें, प्रलयमें, अन्तर्भाव है)।

इस प्रकार 'जन्मादि' का अर्थ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' श्रुतिके अनुसार है और इसी अर्थमें यास्क-वाक्यके छह भावविकारोंका भी समावेश हो जाता है। अब श्री शङ्कराचार्य भगवान् यह प्रश्न उठाते हैं कि यह जो 'जन्माद्यस्य०' सूत्र है वह इन्हीं भावविकारोंके द्वारा ब्रह्मका लक्षण बतानेके लिए है या श्रुतिमें जो 'जायन्ते, जीवन्ति और अभिसंविशन्ति' है उससे ब्रह्मका लक्षण बतानेके लिए है ?

वेदान्तमें विचारसे कतराया नहीं जाता। प्रश्न यास्कमुनिका या किसी व्यक्तिका नहीं है। 'जायतेऽस्ति०' यह जो भावविकार-

वाला वाक्य है वह किसीका भी लिखा हुआ क्यों न हो, उसपर विचार करनेमें क्या आपत्ति हो सकती है।

श्रीशङ्कराचार्य भगवान् कहते हैं कि चाहे ऋषि हो या महर्षि, देवी हो या देवता या हिरण्यगर्भ हो; जो स्वयं पैदा होनेके बाद सृष्टिका अनुभव करता है और सृष्टिको देख-देखकर, अनुभव कर करके जो सृष्टिकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमें सिद्धान्त बनाता है वह परमात्माका लक्षण कैसे कर सकता है ? वह तो सृष्टिकी उत्पत्तिके बाद एक अन्तःकरणवाला पुरुष अपने अन्तःकरणसे अनुभाव्यका अनुभव करके फिर उसके बाद सिद्धान्त बना रहा है कि यह चीज पैदा होती है, अस्तित्ववान् होती है, बदलती है, बढ़ती है, क्षय होती है और नाशको प्राप्त हो जाती है। एक अन्तःकरणकी कल्पनामें जो चीज आती है और कल्पना शान्त हो जानेपर जो नहीं रहती, वह तो केवल अन्तःकरणके विषयमें ही कोई लक्षण बना सकती है, अन्तःकरणके आश्रयभूत पदार्थके सम्बन्धमें कि वह परिच्छिन्न है या महान् है या अपरिच्छिन्न है, कुछ लक्षण नहीं कर सकती।

मूल प्रश्न यह है कि वेदान्त अपौरुषेय ज्ञानका विचार करता है या पौरुषेय ज्ञानका ? जो ज्ञान एक जीवका है, जो किसी जीवको जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्तिमें, अनुभवमें आता है, वह पौरुषेय ज्ञान है। और एक वह ज्ञान है जो जीवका अपना स्वरूप है, जो जीवका विषय नहीं होता, और जिसको जीव इदंतया नहीं देख सकता। वह प्रत्येक पौरुषेय ज्ञानके होनेके पूर्व और उत्तर विद्यमान रहता है। वह जीवकृत या जीवभोग्य नहीं है। वही ज्ञान अपौरुषेय ज्ञान कहलाता है। वेदान्त किस ज्ञानका विचार करता है।

एक मनुष्य या एक व्यक्तिके अनुभवकी कोई कीमत नहीं है,

चाहे वह यास्क हों या कपिल या व्यास हों, देवी हो या देवता हो। उस अनुभववाला व्यक्ति तो स्वयं जन्म-मरणके चक्करमें है। कपिल भी मर गये, जैमिनि भी मर गये, गौतम, कणाद सभी तो मर गये! अन्तःकरणसे अनुभूत एक अनुभवके द्वारा अन्तःकरणके मूलभूत आश्रय माने सृष्टिके मूलभूत तत्त्वकी सिद्धि कैसे हो सकती है? उससे तो विषयमात्रकी ही सिद्धि होती है। इसलिए विचार यह है कि व्यक्ति चाहे यास्क हों या व्यास, पौरुषेय अनुभवसे अतीत जो वस्तु हैं जिससे पुरुषके पुरुषत्वका भी उदय-विलय होता है, उसका विचार कैसे किया जाय? पंचभूतकी उत्पत्ति कैसे हुई? अहंकारकी उत्पत्ति कैसे हुई? महत्तत्त्वकी उत्पत्ति कैसे हुई? महत्तत्त्वकी शान्त और विक्षिप्तदशाकी उत्पत्ति कैसे हुई? अपने अभावके अधिष्ठानमें भासे बिना इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए व्यक्तिके प्रति जो महत्त्वबुद्धि है वह वेदान्तको मान्य नहीं है।

उस अनन्त अधिष्ठानसे पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति हुई जिसमें पञ्च-भूतोंका बीज है। उसको जाननेकी प्रक्रिया यह है कि जब आप अपनेको निर्बीज जानोगे तब जगत्के मूल कारणको निर्बीज जानोगे। जब निर्बीज-निर्बीज और निर्विशेष-निर्विशेषकी एकताको पहचानोगे तब तत्त्वज्ञानका सामीप्य प्राप्त होगा। एक अन्तः-करणके जागनेका या सोनेका या शान्तिका या तदाकारताका नाम ज्ञान नहीं होता। यह जो श्रुति निरूपण करती है वह तुम्हारे मनोराज्यका या उसके बीजका निरूपण नहीं करती है, वह निर्बीज ब्रह्मका निरूपण करती है अर्थात् श्रुति पौरुषेय ज्ञानका नहीं अपितु अपौरुषेय ज्ञानका निरूपण करती है। मनुष्यके अनु-भवमें भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्साकी (वञ्चना करनेकी इच्छा) गुञ्जायश हो सकती है, परन्तु श्रुति-ज्ञान इन

सीमाओंसे उन्मुक्त ज्ञानका वर्णन करती है—उस ज्ञानका जो एक अन्तःकरणकी सविशेष अनुभूतिसे निरपेक्ष है; जिसमें मुक्त और बद्धका भेद नहीं होता, जिसमें जात-अजातका भेद नहीं होता, जिसमें छिन्न-अविच्छिन्नका भेद नहीं होता।

पहले दुनिया पैदा हुई और फिर बादमें यास्कने दुनियाके पदार्थोंके बारेमें यह अनुभव किया कि सब पाञ्चभौतिक वस्तुएं छह भाव-विकारोंसे आक्रान्त हैं। इसलिए यास्कका अनुभव सृष्टिकी स्थिति कालपर्यन्त ही सही हो सकता है। परन्तु श्रुति जब कहती है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' तो वह तो पाञ्चभौतिक वस्तुओंके बारेमें नहीं, स्वयं पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति-स्थिति-विनाशका वर्णन ब्रह्मसे करती है। अतः श्रुत्यर्थ ही यहाँ गृहीत है।

यास्क भले ही ऋषि होवें। शङ्कराचार्य भगवान्ने तो भाष्यमें (द्र० आनन्दमयाधिकरण) यहां तक लिखा है कि अगर कहीं श्रुति और (व्यासकृत) ब्रह्मसूत्रमें विरोध मिले तब क्या करना चाहिए? व्यासको मानें या श्रुतिको? तो उन्होंने कहा कि वहाँ श्रुतिके अनुकूल सूत्रको बना लेना चाहिए, न कि श्रुतिको सूत्रके अनुसार। इस श्रुतिपर इतना क्या विश्वास है कि इसके सामने किसी ऋषि-महर्षिको गिनते ही नहीं? विश्वास यह है कि दुनियामें किसी वस्तुके बारेमें बोला जाता है तो उसे अनुभव करके बोला जाता है; पहले अनुभव करते हैं फिर बोलते हैं। परन्तु श्रुतिका बोलना पहले होता है और अनुभव बादमें होता है। श्रुतिसे श्रवण करनेके बाद प्रतिपाद्य विषयका अनुभव होता है। श्रुतियाँ भी दो प्रकारकी होती हैं—एक परोक्षके बारेमें कथन करनेवाली और दूसरी प्रत्यक्ष अनुभवारूढ़के बारेमें कथन करनेवाली। श्रुतिके अनुसार ब्रह्म-

ज्ञानियोंको ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होकर ब्रह्मका ज्ञान होता ही है, तो सत्यका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण श्रुतिका प्रामाण्य है। एक और बात भी है श्रुतिप्रतिपाद्य वस्तुका (साक्षात्कार हो जानेके बाद) बाध नहीं होता परन्तु श्रुतिका, स्वयंका, बाध हो जाता है। माने हम श्रुतिको सच्ची इसलिए मानते हैं कि उससे सच्ची वस्तुका साक्षात्कार होता है वह स्वयं मिथ्या हो जाती है। किसी भी 'व्यक्ति'के कथनमें अपने कथनको मिथ्या करनेका सामर्थ्य नहीं होता अतः अद्वैत नहीं हो सकता। अद्वैत केवल श्रुतिप्रतिपाद्य है, व्यक्तिप्रतिपाद्य नहीं है।

वाचस्पति मिश्रने इस सम्बन्धमें यह बात कही कि अच्छा यदि श्रुतिने कोई बात कही और यास्कने भी वही बात कही तब किसको मानें? तो उन्होंने कहा कि फिर भी श्रुतिको ही मानो। उसमें बीचमें यास्कको घुसेड़नेकी क्या जरूरत है? श्रुतिको ही रहने दो न! श्रुति तो यास्कसे पहले है!

श्रुति इन्द्रियोंसे ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं कराती। शब्दप्रमाण दूसरी चीज है और श्रुतिप्रमाण दूसरी चीज है। शब्द माने क्या? खट-पट, फट-फट, कट-कट ये शब्द हैं, कानसे सुनायी पड़ते हैं। ध्वनिका अनुभव कानसे होता है। ध्वनिकी प्रत्यक्षताका नाम शब्दप्रमाण नहीं है। हृदयमें जो तदाकार वृत्ति उदय होती है, देश-काल-द्रव्यकी कल्पनासे रहित सजातीय-विजातीय, स्वगत-भेदकी कल्पनासे रहित जो अखण्डार्थ-धीका उदय होता है, उसमें अखण्डार्थका प्रत्यक्ष होते ही धी बाधित हो जाती है। यह अखण्डार्थ-धी ही श्रुतिप्रमाण है। इसलिए अखण्डार्थ-धी व्यक्तित्वका जनक नहीं है, उल्टे वह व्यक्तित्वका निषेधक है। अतः सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओंका निषेध करनेके कारण श्रुति अपरिच्छिन्न वस्तुके साक्षात्कारमें हेतु है।

वक्ता चाहे कोई हो, यदि वह श्रुतिके अनुसार बोलता है तो श्रुति तो हुई स्वतःप्रमाण और वक्ता हो गया परतःप्रमाण। इसलिए यास्क भी परतःप्रमाण ही हैं। (यदि वे श्रुतिके अनुसार ही बोले तो छहो भाव विकारोंका समावेश 'जन्मादि'में हो ही गया और यदि अन्तरसे बोले तो श्रुति ही स्वीकार्य है यास्क नहीं। अतः 'जन्मादि' शब्द श्रुतिके अनुसार जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयका वाचक है।)

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि 'जन्मादि'का अर्थ यास्कमुनि द्वारा कथित छह भाव-विकार मान लिये जायँ तो 'यतः' पदका अर्थ ब्रह्म नहीं भी हो सकता। क्योंकि छह भावविकारोंका अधिष्ठान स्वयं पञ्चभूत या अहङ्कारका या महत्तत्त्व या प्रकृति कोई भी हो सकता है। ऐसी दशामें जिस जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षणका प्रसंग है, वह ही समाप्त हो जायेगा। ऐसी सम्भावना न रहे, इसलिए भगवान् शङ्कराचार्य इस बातपर जोर देते हैं कि श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मका लक्षण यहाँ अभिप्रेत होनेके कारण 'जन्मादि'से यहाँ जगत्‌की उन्हीं उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयसे तात्पर्य है जो श्रुतिके अनुसार ब्रह्मसे होते हैं। इसलिए 'जगज्जन्मादि' ब्रह्मका लक्षण सिद्ध है।

यदि 'जगत्‌का जन्म ब्रह्मसे होता है' केवल इतना ही कहा जाता तो ब्रह्म जगत्‌का केवल उपादान कारण सिद्ध होता। परन्तु 'जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (जिस) ब्रह्मसे होते हैं' ऐसा यहाँ कहा गया है। अतः ब्रह्म जगत्‌का केवल निमित्त-कारण ही नहीं है उपादान-कारण भी है और केवल उपादान कारण ही नहीं है निमित्त-कारण भी है। अतः ब्रह्म जगत्‌का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, यह सिद्ध हुआ।

(२.८)

सृष्टि किससे शक्य नहीं है ?

न यथोक्त विशेषणस्य जगतो यथोक्त विशेषणमीश्वरं मुक्त्वा-न्यतः प्रधानादचेतनात् अणुभ्योऽभावात् संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। **न च स्वभावतः विशिष्टदेश-काल-निमित्ताना-मिहोपादानात्** ।

(भाष्य १.१.२)

अर्थ—पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त जगत्की यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वरको छोड़कर अन्यसे—अचेतन प्रधानसे, परमाणुसे, शून्यसे अथवा संसारी जीवसे, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी सम्भावना शक्य नहीं है। इसी प्रकार स्वभावसे भी जगत्की उत्पत्त्यादि शक्य नहीं है क्योंकि यहाँ विशिष्ट देश, काल और निमित्तका ग्रहण है।

श्रुति चेतन ब्रह्मको जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण बताती है। परन्तु चेतनका कारण होना युक्तियुक्त नहीं है। कारण तो वह होता है जो अपनी पूर्वावस्थामें फट करके उत्तरावस्थाके रूपमें आता है। जैसे बीज गीला होता है, फूलता है, फटता है और तब अंकुरके रूपमें आता है और तदनन्तर बीजका नाश हो जाता है, वैसे ही यदि बीजकी भाँति ब्रह्मसे जगदंकुरकी सृष्टि होती हो, माने यदि ब्रह्म अपनी पूर्वावस्थाको फोड़कर उत्तरावस्थामें आवे तो चेतनके भी नाशका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। परन्तु यह भी पक्का है कि इस नाम रूपात्मक कर्तृ-भोक्तृसंयुक्त देश,काल,क्रिया-फलका आश्रयरूप आश्चर्यमय जगत्के मूलमें यदि कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति चेतन परमेश्वर न हो तो जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी किसी भी प्रकारसे उपपत्ति सम्भव नहीं है। तब चेतनका जगत्कारणत्व कैसा है ?

[सृष्टिके कारणके सम्बन्धमें बहुत-से विकल्प किये जा सकते हैं। कुछ विकल्प आचार्यश्री स्वयं उठाते हैं। जैसे सांख्योंका अचेतनप्रधान कारणवाद, नैयायिकोंका परमाणुवाद, बौद्धोंका शून्यवाद, उपासकोंका हिरण्यगर्भवाद और चार्वाकोंका स्वभाव-वाद। परन्तु सृष्टिमें ऐसा नियम और ऐसी अवस्था देखनेमें आती है कि जड़से तो उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती! काल-कालमें उत्पत्ति, देश-देशमें उत्पत्ति, द्रव्य-द्रव्यमें उत्पत्ति—यह न तो अचेतन प्रधानका कार्य हो सकता है और न अभावरूप शून्यका या किसी परिच्छिन्न संसारी जीवका। निरवयव परमाणुओं का कार्य भी यह नहीं हो सकता क्योंकि निरवयव परमाणुओंका संयोग किसी प्रकार सम्भव नहीं है और वे स्वयं अनेक तथा जड़ हैं। विशेष शक्तिसम्पन्न किसी जीव (हिरण्यगर्भ) का भी यह कार्य नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति उसकी भी उत्पत्ति बताती है : 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'(श्वेता० ६.१८)। यह जगत् स्वभाव-

से भी उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम तो वह जड़ है और जीवोंके कर्मफलके लिए जिस देश, काल और निमित्तका ग्रहण आवश्यक है वह उसमें शक्य नहीं है।]

इसलिए वेदान्तियोंका यह कहना है कि यह जगत् सर्वज्ञ, सर्वशक्ति परमेश्वरका ही कार्य है। दो-एक हलकी बातें आपको सुनाता हूँ।

एक सज्जन थे नास्तिक। रोज घर में उपदेश करते थे कि इस जगत्को किसी ईश्वर-वीश्वरने नहीं बनाया। अपने आप ही बन गया है। उसी वातावरणमें उनका बेटा बड़ा हुआ। एक दिन बेटेने एक तस्वीर बनायी और मेजपर रख दी और स्वयं कहीं चला गया। पिताने चित्र देखा। अत्यन्त सुन्दर था वह चित्र। जब पुत्र लौटा तो पिताने पूछा: 'बेटा, यह चित्र किसने बनाया?'

पुत्र—'पिताजी, अपने आप ही बन गया होगा!'

पिता—'धुत इतना सुन्दर, इतना व्यवस्थित, इतना कला-पूर्ण चित्र अपने आप कैसे बन जायेगा?'

पुत्र—'पिताजी, आप ही तो कहा करते हैं कि यह दुनिया जो इतनी सुन्दर, इतनी व्यवस्थित है वह बिना किसीके बनाये ही बन गयी है! जब इतना छोटा-सा चित्र बिना किसीके बनाये नहीं बन सकता तो यह सम्पूर्ण कलामय जगत्, आश्चर्यमय जगत् बिना किसीके बनाये कैसे बन सकता है? आप मुझे इसके बनाने-वालेके बारेमें बतायें।'

तो दुनियाका वह कारीगर कौन है? वेदान्त कहता है कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वर है।

कहो कि नहीं, वह सांख्योक्त प्रधान (प्रकृति) है जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। 'प्रधीयते यस्मिन् इति प्रधानम् ।'

जिसमें सब वस्तुएँ रखी जाँय वह कहलाता है प्रधान। हमारे गांवकी तरफ उसे कोठिला बोलते हैं—बड़ा पात्र होता है जिसमें और सब बर्तन रखे जा सकते हैं। उस कोठिलेको प्रधान बोलते हैं। कोठिलेमें रखा हुआ बीज—यह सांख्योंका प्रधान हुआ। प्रधानसे सृष्टि कैसे हुई ? अयोध्याके एक महात्मा थे। सरयूकी रेतीमें रहते थे। बड़े चमत्कारी थे महाराज। अठारहों पुराण उन्हें कंठस्थ थे। उन्होंने बताया था कि जैसे एक बड़े पतीला (कोठिला) में छोटा पतीला और फिर उसमें एक छोटा पतीला और फिर उसमें एक छोटा पतीला और फिर उसमें एक छोटा पतीला रख दिया जाय—उसी प्रकार प्रधानमें महत्तत्त्व, महत्तत्त्वमें अहंकार, अहंकारमें महाभूत रखे हैं। अब यदि प्रधान (पतीला)को लेना हो तो पहिले सबसे छोटे पतीलाको फिर उससे बड़े पतीलाको फिर उससे वड़े पतीलाको क्रमसे बाहर निकालना पड़ेगा तब प्रधान मिलेगा। जब पहिले एकका दूसरेमें निधान किया जाता है तब उल्टे-क्रमसे उस प्रधानको प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु रखना या निकालना किसी दूसरे चेतनके द्वारा होगा। जड़ प्रधानमें स्वयं यह शक्ति नहीं है। अतः प्रधानसे सृष्टि शक्य नहीं है। हमारे जीवनमें जो ज्ञान, क्रिया और द्रव्य है उसके मूलके रूपमें सांख्यने सत्-रज-तमवाली त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी स्थापना-की है, परन्तु वेदान्तमें इनकी संगति सच्चिदानन्दके विवर्तरूपमें लगायी जाती है जिससे अद्वैतकी कोई हानि नहीं होती।

इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरके अतिरिक्त इस सृष्टिको वनानेवाला कोई अन्य नहीं प्राप्त होता।

सर्वज्ञमें जो 'सर्व' है वह उपादानका सूचक है और 'ज्ञ'

निमित्तका। अतः जो सर्वज्ञ है वही इस जगत्‌की माटी भी है और वही कुम्हार भी है। सर्वज्ञ अर्थात् जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म।

'ज्ञ' = बनानेवाला संङ्कल्पी, ज्ञाता; और जो बना सो सर्व। दोनों एक हैं यह सर्वज्ञ शब्द सूचित करता है।

'ज्ञ' सर्वको जानता है। 'ज्ञ' अंश अपरिवर्ती है और सर्व अंशमें परिवर्तन है; और दोनों एक हैं। 'ज्ञ' का कार्य सर्व है या 'ज्ञ' का विवर्त सर्व है? माने 'ज्ञ'का परिणाम सर्व है (जैसे दूधसे दही) या 'ज्ञ' ज्यों-का-त्यों रहकर ही सर्व प्रतीत होता है? ज्ञानमें परिणाम सम्भव न होनेके कारण जो व्यावहारिक दृष्टिसे सर्व-रूप है और जो व्यावहारिक दृष्टिसे सर्वका ज्ञाता भी है, वह वस्तुतः अद्वय ब्रह्म ही है। यही सर्वज्ञ पदका अर्थ है। अतः सर्वज्ञ = सर्वका विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म।

न्यायनिर्णयकारने बताया कि 'सर्वज्ञ' शब्दके दो अर्थ हैं— अद्वितीयत्व तथा सच्चिदात्मक। विवर्ती अधिष्ठान होनेसे सर्वज्ञका अर्थ अद्वितीयत्व होता है और सर्वका मूल सत् तथा 'ज्ञ' का मूल चित् होनेसे सर्वज्ञ सच्चिदात्मक है। अबाध सत्ता और स्वयं प्रकाश सर्वावभासकता, यही ज्ञानका अर्थ है। अपरिणामी अबाधित सत्ता होना, यह सत् है। अतः सर्वज्ञका अर्थ है : अबाधित अद्वितीय अपरिणामी चिदात्मक सत्ता।

आत्मसत्ता और सर्वज्ञ ईश्वर सत्तामें क्या भेद है? 'तत्' उस देशमें है, 'त्वम्' इस देशमें है। 'तत्' उस कालमें है और 'त्वम्' इस कालमें है। तत्-पदार्थ (ईश्वर सत्ता) और त्वम्-पदार्थ (आत्म सत्ता)की एकतामें व्यवधान जो देश, काल और द्रव्य है उसका निषेध करनेमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका उपयोग है। देश-काल-द्रव्यके अभावसे उपलक्षित जो चिन्मात्र वस्तु है

उसका ऐक्य वेदान्त-प्रतिपादित है। तत्के शोधनमें सर्वज्ञ, सर्वशक्ति आदि पदोंका उपयोग है और त्वम्के शोधनमें अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता आदि शब्दोंका उपयोग है; और तत्त्वमसि दोनोंके ऐक्यके व्यवधानका निषेधक है।

विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके रूपमें ही परमात्मा सर्वज्ञ होता है। क्योंकि जो परिणामी होगा वह 'ज्ञ'—ज्ञान ही नहीं होगा और जो ज्ञान स्वरूप होगा वह परिणामी नहीं होगा। फिर भी यदि सर्वरूपसे परिणाम प्रतीत होता है तो वह प्रतीति-मात्र है, वास्तविक नहीं है। यह सर्वज्ञ शब्दका एक अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि तत्-पदवाच्यार्थ ईश्वर सर्वज्ञ है और त्वं-पदवाच्यार्थ जीव अल्पज्ञ है और उनकी उपाधिके निषेधावधिके रूपमें, उनके अभावसे उपलक्षित जो चिन्मात्र वस्तु है वह ब्रह्म है और वही सर्वज्ञ पदका अर्थ है।

अब थोड़ा 'सर्वशक्ति' शब्दपर विचार करते हैं। सर्वशक्तिका अर्थ है सर्व-भवन-योग्यता। सब हो सकनेकी योग्यता। जैसे, बिजली एक शक्ति है। उसमें चुम्बकीय शक्ति भी है, गरम करनेकी शक्ति है, ठंडा करनेकी, रोशनी करनेकी, जलानेकी, इत्यादि बहुत-सी शक्तियाँ हैं। शक्ति कार्यानुमेय होती है अर्थात् कार्यके अनुसार शक्तिकी कल्पना कर ली जाती है। परमात्मामें सर्वशक्ति होनेका क्या अर्थ है? जड़में शक्ति और ज्ञानमें शक्ति इन दोनोंमें अन्तर होता है। जड़में शक्ति परतन्त्र होती है और ज्ञानमें शक्ति स्वतन्त्र होती है। स्वतन्त्रताका अर्थ है—'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'-का सामर्थ्य। करना, न करना, उल्टा करना, यह चेतनका सामर्थ्य है। और जड़में जो शक्ति होती है वह एक बँधे नियमके अनुसार ही कार्य करती है। अतः जब हम ज्ञानस्वरूप परमात्मा-को सर्वशक्ति कहते हैं तो इसका मतलब है कि परमात्मा बिलकुल स्वतन्त्र है।

सर्वोपादान होनेसे ब्रह्म सर्वरूप है, ज्ञानरूप चेतन होनेसे वह अपरिणामी विवर्ती अधिष्ठान है और सर्वशक्ति होनेसे वह स्वतन्त्र, परमानन्द-स्वरूप है। सर्वज्ञ और सर्वशक्ति कहनेका अभिप्राय ईश्वरको सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म बताना है।

कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव (बृहदा० ४.५.१३)

श्रुति कहती है कि यह सब प्रज्ञानघन ही है।

आह च तन्मात्रम् (ब्रह्मसूत्र ३.२.१६)

—यह सूत्र भी इसी बातको कहता है।

एक महात्मा थे। उनका नाम था ठसाठस। ठसाठस माने जिसमें किसीके घुसनेका अवकाश ही न हो। जो देश और कालमें भरा हो सो ठसाठस नहीं। जिसमें देश-कालके लिए भी अवकाश नहीं। ऐसा प्रज्ञानघन वाची नाम था उनका। आपने पहचाना वे महात्मा कौन हैं? सबका अपना आपा ही—यह आत्मदेव ही, वह महात्मा हैं।

जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, चेतन परमेश्वर इस जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है, वह विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होनेसे आत्माभिन्न है और जगत् उससे भिन्न नहीं है। ●

(२.९)

अनुमान एवं श्रुति प्रमाण

एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादि-साधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। ननिवहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादि सूत्रे। न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधिप्रमा भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। यथा हि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः'(बृहदा० २.४.५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो० ६. १४. २) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। (भाष्य १.१,२)

अर्थ—ईश्वरको जगत्का कारण माननेवाले (नैयायिक) इसी अनुमानको संसारी जीवसे अलग ईश्वरके अस्तित्व आदिकी सिद्धिमें साधन मानते हैं। तो क्या इस जन्मादि सूत्रमें इसी अनुमानका उपन्यास किया गया है ? नहीं, क्योंकि सूत्र तो वेदान्तवाक्यरूपी पुष्पोंको गूंथनेके लिए है। सूत्रों द्वारा वेदान्त-वाक्योंका उदाहरण देकर विचार किया जाता है। वाक्यार्थ-विचारके द्वारा निश्चित तात्पर्यसे ब्रह्मावगति होती है, अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंसे नहीं। जगत्के जन्मादिके कारणका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तवाक्योंके विद्यमान होनेपर उनके अर्थकी दृढ़ताके लिए वेदान्तवाक्योंका अविरोधी अनुमान भी यदि प्रमाण होता हो, तो उसका निवारण नहीं किया जाता। क्योंकि श्रुतिने ही सहायकरूपसे तर्क-अनुमानको स्वीकार किया है। जैसे 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' यह श्रुति है (आत्माका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) तथा 'पण्डितो-मेधावी०' जैसे पण्डित और मेधावी गान्धारदेशको प्राप्त करता है वैसे ही आचार्यवान् पुरुष सत्को जानता है, यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुष बुद्धिको सहायक दिखलाती है। ●

जगत्का जितना विचार करोगे वहांतक बुद्धि जिन्दा रहेगी। इसलिए यदि कोई दावा करे कि हमने विचारसे सृष्टिको जान लिया है, उसके सारे रहस्यको पा लिया है तो वह कल्पना केवल अभिमानमें हो होगी।

पिताको जन्म कूं जाने पूत !

बुद्धिका जो आश्रय है, बुद्धिका जो प्रकाशक है, उसको बुद्धि कभी देख नहीं सकेगी ! इसलिए बुद्धिका जो विषय होगा वह जगत् ही होगा, जगत्का समूचा रहस्य नहीं होगा। और इसलिए यदि कोई भी व्यक्ति यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र या समाधि या विज्ञानका नाम

ले करके यह दावा करता है कि उसने जगत्के रहस्यको जान लिया है तो वह झूठ ही बोलता है।

सबके अन्तरमें जो निरन्तर है उसको पहचाननेके लिए महापुरुषकी शरण ही एकमात्र उपाय है। महापुरुषकी कसौटी क्या है ? जो आत्मा और परमात्माकी एकताको नहीं बताता वह या तो जान-बूझकर छिपाता है या वह स्वयं अज्ञानी है। यह श्रुतिसंविधान ही महापुरुषकी कसौटी है।

मूर्खोंकी महापुरुषके बारेमें कसौटी दूसरी है—वे तो बाल, चमड़ा, आयु, आश्रम, रुपयाको ही महापुरुषकी कसौटी मानते हैं। एक गुरु, चेलामें हुई लड़ाई। गुरु थे २५ बरसके और चेलाजी थे २० बरसके। खूब द्वन्द्व हुआ दोनोंमें। पञ्चायत हुई। अन्तमें मेरे पास पंचायत आयी। मैंने चेलासे पूछा—क्यों भाई ! इतने बड़े-बड़े महात्मा हैं वृन्दावनमें, श्रीहरिबाबाजी महाराज हैं, श्री श्रीआनन्द-मयी माँ हैं, उन सबको छोड़कर तुमने इनको ही गुरु क्यों बनाया ? उसने कहा—'स्वमीजो, हमने तो सोचा था कि ये सब बड़े-बड़े महात्मा तो बुड्ढे हो चले, जल्दी मर जायेंगे। और ये जवान थे इसलिए अधिक समयतक हमारे आँख, नाक, कानको तृप्ति होगी-इस ख्यालसे हमने इनको गुरु बनाया था।'

जो बताते हैं कि ईश्वर उधर ही है वे श्रुतिके विपरीत बताते हैं। ईश्वर इधर नहीं है तो क्या ईश्वर देशमें सीमित हो गया ? यदि यहाँवाले ईश्वरको ही नहीं पहचानते तो वहाँ पहुँचकर भी वहाँवाले ईश्वरको कैसे पहिचानेंगे ? जो बताते हैं ईश्वर अब नहीं है, महाप्रलयमें हैं, अथवा जगत्के आदिमें है, वे भी श्रुतिके विपरीत बताते हैं। महाप्रलयमें क्या ईश्वर पैदा होगा जो अब नहीं है ? या सृष्टिके आदिमें जो ईश्वर था वह अब मर गया ? श्रुति बताती है कि ईश्वर अभी है, यहीं है और प्रत्येक नामरूपमें

वह प्रकट है। वह चिन्मात्र ईश्वर तुम्हारी आत्मासे अभिन्न है और तुम ईश्वरसे अभिन्न हो। तुम और ईश्वर—एक ही वस्तुके दो नाम हैं। इसलिए जो ब्रह्म और आत्माकी एकताका प्रत्यक्ष करा दे, सो महापुरुष है।

तो महापुरुष ऐसे ईश्वरका साक्षात्कार कराते हैं जो तुमसे एक है, जगत्से एक है और जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका अधिष्ठान एवं साक्षी है। ऐसा ईश्वर किस प्रमाणका विषय है ?

नैयायिक लोग जगत्‌को देख करके, माने कार्यको देख करके, कार्यकी विचित्रताको देख करके और प्रत्यक्ष वस्तुओंमें कार्य-कारणका व्यवहार देख करके इस जगत्‌के निमित्त कारण एक सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरका अनुमान करते हैं, जो चेतन होनेपर भी अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, संसारी, परतन्त्र जीवसे नितान्त भिन्न है।

न्यायशास्त्रमें—सेश्वरन्यायमें और निरीश्वरन्यायमें भी—तर्क ही मुख्य मन्त्र है। परन्तु एक बात है कि मनुष्यका मन ईश्वरके बिना ठहर नहीं सकता : 'बिनु देखे रघुवीर पद जियकी जरनि न जाय !' मौत सिरपर सवार है। रोग शरीरमें घुसे हुए हैं। भविष्यका भय लगा है, भूतका शोक सन्तप्त कर रहा है और वर्तमानमें मोहसे बँधा है। ईश्वरको नहीं मानोगे तो सन्तुष्ट जीवन एक क्षणके लिए भी नहीं बिता सकते। इसलिए जो लोग मुँहसे ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, वे भी प्रकारान्तरसे किसी-न किसी प्रकारसे ईश्वरको स्वीकार करते ही हैं।

डॉ० नगेन्द्र रूस गये। उन्होंने देखा कि लेनिनके मौसोलियम (कब्र) पर एक लम्बी क्यू लगी हुई है लोगोंकी, चुपचाप, गुम-सुम, अपने-अपने नम्बरकी प्रतीक्षामें जब वे लेनिनको समाधिका दर्शन करेंगे और अपनी श्रद्धा प्रकट करेंगे। हमने जब यह वर्णन

पढ़ा तो कहा कि एक मरे हुए व्यक्तिकी समाधिके दर्शनके लिए इतनी श्रद्धा और इतना इतिकृत्य (एटीकेट)—यह ईश्वर-पूजा भले ही न हो, भूत-पूजा तो है ही। असलमें अगर मनुष्यकी श्रद्धा श्रेष्ठपर नहीं गिरेगी तो कनिष्ठपर गिरेगी ही। मनुष्यका यह स्वभाव ही है।

जिनके जीवनमें विवेक नहीं है, वे सौ-सौबार नीचे गिरते चले जाते हैं। ईश्वरपर श्रद्धा नहीं करोगे तो भूतपर श्रद्धा करोगे, पर श्रद्धा करनी पड़ेगी। इसलिए उस जगत्स्रष्टा, जगन्नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरपर श्रद्धा करो न !

जगत् है, इसलिए इसका रचयिता भी है। जगत्-रचना अचिन्त्य है, सृष्टिमें नियम है, व्यवस्था है इसलिए कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वर होना चाहिए। यह अनुमान है। यह अमुमान भी यदि ईश्वरके निकट ले आये, ऊपर उठाये, अन्तर्मुख बनाये, आपके जीवनमें सदाचार- सद्‌गुणका सन्निधान करे, आपकी बुद्धिको अनेकसे एकमें ले आये, जड़से चेतनमें ले जाय, भेदसे अभेदमें ले जाय, तो वह अनुमान भी श्रुति-संविधानके अनुसारी होनेसे स्वीकार्य है।

लोग कहते हैं कि ब्रह्मका जो लक्षण किया गया, 'जन्माद्यस्य यतः' वह भी एक अनुमान ही है। ऐसा नहीं है। हमलोग (वेदान्ती) ईश्वरको अनुमान-सिद्ध नहीं मानते। क्योंकि अनुमानसे तो ईश्वर या तो परोक्ष होगा या कल्पित। वेदान्त ईश्वरको प्रत्यक्ष मानता है, परन्तु वह प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है कि जैसे आँखसे हम घड़ीको देखते हैं। ऐसा ईश्वर होता तो अन्धेको ईश्वर कैसे दीखता ? फिर कैसा प्रत्यक्ष मानते हैं ईश्वरको ? जैसे मैंको मैंका प्रत्यक्ष बिना आंखके है, ऐसे ही ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है—बिना

इन्द्रियोंके। वेदान्तमें ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ईश्वर ये सब प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु हैं।

एक आदमीने घड़ी शब्द सुना है, घड़ी वस्तु देखी भी है, लेकिन घड़ी शब्दका यही घड़ी वस्तु है—यह वाक्यार्थ ज्ञान नहीं है। घड़ीपद ज्ञात है किन्तु पदका अर्थके साथ सम्बन्धका ज्ञान नहीं है। अब किसीने बताया कि 'यह घड़ी है' माने घड़ीपदका यह अर्थ है और घड़ी अर्थका यह पद है तो बतानेके साथ ही उसे घड़ी पदार्थका ज्ञान हो जायेगा। वाक्य (यह घड़ी है)से जब घड़ी लखायेंगे तब घड़ीका प्रत्यक्ष होगा या अनुमान ? प्रत्यक्ष ही होगा अनुमान नहीं।

ये जो ब्रह्मात्मैक्य-बोधक वाक्य हैं (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि) वे ब्रह्मके बारेमें विश्वास दिलानेके लिए नहीं हैं। विश्वाससे तो असत्त्वापादक आवरणकी निवृत्ति भी नहीं होती। आप विश्वास करो कि ईश्वर है तो क्या उस विश्वाससे बुद्धिमें जो ईश्वरके प्रति यह आवरण है कि ईश्वर नहीं है, वह हट जायेगा ? वेदान्त-सिद्धान्त यह है कि बिना परोक्षज्ञानके असत्त्वापदक आवरणका भङ्ग नहीं होता और बिना अपरोक्षज्ञानके अभानापादक आवरणका भङ्ग नहीं होता। वाक्यके द्वारा ही अभानापादक आवरण मिट जाता है और ईश्वर प्रत्यक्ष हो जाता है।

ईश्वरके बारेमें केवल अनुमानको या परोक्षता-बोधक वेदान्त वचनोंको ही प्रमाण नहीं मानते। मात्र विश्वास और श्रद्धासे सशय केवल दबता है। केवल परोक्षज्ञानसे असत्त्वापादक आवरण भङ्ग होता है। अपरोक्षज्ञानसे अभानापादक आवरण भङ्ग होता है। वेदान्त जो चर्चा करता है वह ईश्वरका अनुमान करानेवाला नहीं होता। आत्मा तो पहिलेसे ही प्रत्यक्ष है। परन्तु यही आत्मा देश-

काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है, यह ज्ञान वाक्यके प्रयोगसे होता है। वाक्य आत्माके प्रत्यक्षके लिए नहीं होता, आत्मा तो प्रत्यक्ष है ही; वाक्य आत्माकी अखण्डताकी प्रत्यक्षताके लिए होता है। श्रुति (वेदान्त) युक्ति नहीं है, श्रुति अनुमान नहीं है, बल्कि एक अंशमें जो प्रत्यक्ष आत्म-वस्तु है, उसे सर्वांशमें प्रत्यक्ष करानेके लिए श्रुति-वाक्योंका सार्थक्य है।

संसारसे परे जो ईश्वर है उसे अनुमानसे सिद्ध करनेवाले न्याय-वैशेषिक दूसरे हैं और श्रुति-वाक्योंका ईश्वरको आत्मरूपमें लखानेवाले वाक्योंका, विचार करनेवाले वेदान्ती दूसरे हैं!

प्रश्न—यदि 'जन्माद्यस्य यतः'में भी अनुमान हो तो ?

उत्तर—नहीं। यह तो श्रुति-प्रमाण 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'के अनुसार ब्रह्मका लक्षण है। वेदान्त-वाक्यरूपी पुष्पोंको गूँथनेके लिए ब्रह्मसूत्र हैं न कि स्वतन्त्र अनुमानके लिए। 'वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।' ब्रह्म-सूत्रमें श्रुति-वाक्योंका उदाहरण देकर विचार किया जाता है। आत्माकी ब्रह्मताका जो बोध है वह अनुमान-आदि किसी अन्य प्रमाणका विषय नहीं है। वह तो केवल वाक्यार्थ-विचारके द्वारा ही होता है—

वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः नानुमानादिप्रमाणान्तर निर्वृत्ता।

ब्रह्म कोई ऐन्द्रियक वस्तु नहीं है कि उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियादिसे हो सके। फिर लिंगके अभावमें और अन्ततः प्रत्यक्ष न होनेकी दशामें अनुमान तो प्रमाण न होकर अनुमानाभास ही रह जायेगा न! प्रत्यक्ष अग्निके लिंग धूमको देखकर अग्निका अनुमान तो हो सकता है परन्तु यावत् अग्निका प्रत्यक्ष न हो जाय तावत् वह

प्रमाणकी कोटिमें नहीं आता। इस प्रकार ऐन्द्रियक प्रत्यक्षमें अनुमान हेतु हो सकता है परन्तु अतीन्द्रिय वस्तु ब्रह्मके बोधमें अनुमान हेतु नहीं है। इसलिए ईश्वरकी सिद्धिमें अनुमान हेतु नहीं है। यह जो अपना आत्मा है सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, प्रत्यगात्मा, इसी अपरोक्ष वस्तुको ब्रह्मरूप बोध करानेके लिए समस्त वेदान्त-वाक्योंकी योजना है।

प्रश्न-तो फिर युक्ति, तर्क, अनुमान सबको छोड़ ही दें ?

उत्तर-नहीं। वेदान्त युक्ति, तर्क, अनुमान आदिका निषेध भी नहीं करता। परन्तु उनको श्रुत्यर्थमें सहायक होना चाहिए, विरोधी नहीं होना चाहिए।

सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मकारणवादिषु तदर्थग्रहण दार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्यविरोधि प्रमाणं भवत् न निवार्यते। श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्।

श्रुतिमें 'जगज्जन्मादि ब्रह्मसे होते हैं' ऐसे वाक्य विद्यमान हैं। उस विद्यमान अर्थको पुष्ट करनेमें जो भी अनुमान या तर्क सहायक होते हों और उससे विरोध उपस्थित न करते हों वे वाक्य-विचारमें उपयोगी हैं। उनका निवारण नहीं किया जाता। श्रुति स्वयं तर्क और अनुमानको सहायकके रूपमें स्वीकार करती है। (इसके उदाहरण अभी आगे देंगे)।

युक्ति-तर्कके बारेमें भी किंचित् विचार अपेक्षित है।

एक महात्मा कहते हैं। 'पाषाणखण्डेऽपि रत्नबुद्धिः।' पत्थरके टुकड़ोंको लोग रत्न समझते हैं। जो खून-मांसका लोथड़ा है उसको कहते हैं स्त्री, उसको कहते हैं पुरुष ! कफ-वात-पित्तसे बने हुए इस मुर्देको लोग आत्मा समझते हैं। मोहकी यह कोई ऐसी लीला हो रही है कि जो सबपर छायी हुई है। असत्को सत् समझ

लेना, अज्ञानको ज्ञान समझ लेना, दुःखको सुख समझ लेना, जो स्पष्टरूपसे अनेक भासता है उसको आत्मा समझ लेना—यह मोहकी लीला है। किसीको पता नहीं रहता कि जिन्दगी भरकी कमाई कहाँ जायेगी, परन्तु संग्रहमें कितना प्रेम होता है। सबको पता रहता है कि भोगमें रोग रहता है परन्तु सब भोगमें जुटे हैं! और तारीफकी बात यह है कि ऐसे लोग ही अधिकतर स्वच्छन्द तर्कके पक्षपाती होते हैं! पहिले अपने जीवनको युक्तियुक्त बनाओ तब परमार्थ-प्रसंगमें युक्तिकी बात समझमें आयेगी।

युक्तियुक्त जीवन माने अन्वय-व्यतिरेकी जीवन। अर्थात् इस ज्ञानसे युक्त जीवन कि क्या करनेसे क्या होगा और क्या न करनेसे क्या नहीं होगा। संसारमें जितने भी कर्म हैं उनको अन्वय-व्यतिरेककी दृष्टिसे ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ, भोजन करनेसे शरीरमें शक्ति रहती है और न करनेसे नहीं रहती, इसलिए भोजन करना चाहिए। भोग-विलास न करनेसे शरीर स्वस्थ रहता है और भोग-विलास करनेसे शरीरमें रोग आता है, इसलिए भोग-विलास नहीं करना चाहिए। इत्यादि।

वाचस्पति मिश्रने भामतीमें कहा कि मनुष्यको अपना व्यवहार अन्वय-व्यतिरेककी युक्तिसे विचार करके करना चाहिए। विचार-पूर्वक संग्रह, विचारपूर्वक कर्म, विचारपूर्वक भोग! और ब्रह्मज्ञानीको भी अपना व्यवहार अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक ही करना चाहिए। युक्तिकी तो बड़ी महिमा है और वेदान्त भी युक्तिकी महिमाको नजरन्दाज नहीं करता।

संस्कृतमें एक श्लोक प्रचलित है:

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अश्रद्धेयमयुक्तं तु[1] अप्युक्तं पद्मजन्मना॥

1. अन्यत् तृणमिवत्याज्यमप्युक्त—(पाठान्तर)।

यदि एक बालकके मुँहसे भी युक्तियुक्त वचन निकले तो उसको भी ग्रहण करना चाहिए और युक्तिविरुद्ध स्वयं ब्रह्मा भी बोलें तो भी उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए, वह तृणके समान त्याग देने योग्य है।

आर्षधर्मोपदेशका निर्णय भी युक्तिपूर्वक ही करना चाहिए।

तो क्या सृष्टिके कारणत्वमें अथवा तल्लक्षित ब्रह्मतत्त्वमें भी युक्ति ही प्रमाण है? हमारा युक्तिसे कोई विरोध नहीं है :

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

(मनु० १२.१०६)

हमारा तो तर्कशास्त्र ही है जिसमें प्रतिज्ञा (लक्ष्य, साध्य), हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमयके द्वारा निर्णय किया जाता है। परन्तु युक्तिकी एक मर्यादा भी होती है। यदि युक्तिकी मर्यादा नहीं समझोगे तो मर्यादित युक्ति भी युक्तिविरुद्ध हो जायेगी।

शायद सन् १९३५-३६ की बात है। बम्बईसे एक मारवाड़ी सज्जनकी बारात दिल्ली गयी। हम भी उस बारातमें गये थे। पहिले रतनगढ़से बम्बई आये और फिर बम्बईसे बारातमें दिल्ली गये। लड़के (वर) के हाथमें कोई ३००० रु० के मूल्यकी अंगूठी थी। वह स्नान करने बाथरूममें गया तो अंगूठी वहीं उतारकर रख दी और चलते समय उसे उठाना भूल गया। किसीने वह अंगूठी उठा ली। अब हल्ला मचा कि अंगूठी चोरी हो गयी। सब लोग काँपें कि न जाने किसको चोरी लगे! हम लोगोंमें एक बुद्धिमान् सज्जन भी ठहरे हुए थे। बोले : ठहरो, हमें एक युक्ति मालूम है जिससे चोरका पता लग जायेगा। हम लोग पाँच सात आदमी हो तो यहाँ ऊपर ठहरे हैं। अंगूठी तो यहीं होनी चाहिए।

उन्होंने जितने व्यक्ति थे उतनी ही सींक बराबर कैंचीसे काटे और सबको एक-एक सींक देकर ध्यान करने लगे। ध्यानके बाद कहने लगे कि जो चोर होगा उसकी सींक दो अंगुल बढ़ जायेगी। कुछ समय बाद सबकी सींक इकट्ठी की गयीं तो एक सज्जनकी सींक दो अंगुल छोटी मिली। असलमें वही चोर थे। सींक बढ़ने के डरसे उन्होंने अपनी सींक दो अंगुल काट दी थी। पकड़े गये। बादमें उन्होंने बताया कि दो सौ रुपयेमें उन्होंने उस अंगूठीको बेच दिया था। जाकर वह अंगूठी छुड़ा ली गयी। यह अपराधी-मनोवृत्तिको युक्तिका उदाहरण था। परन्तु युक्ति सदैव ऐन्द्रियक अनुभूतिके विषयमें ही काम देती है, अतीन्द्रिय वस्तुकी अनुभूतिके विषयमें नहीं।

ब्रह्मानुभूति असलमें क्या है कि अनात्माकारितासे वर्जित और शान्त अन्तःकरण जो है वह स्वयंको अपने अधिष्ठान और प्रकाशसे जुदा नहीं दिखाता। यह 'त्वम्' पदार्थ है। यह ठीक है कि उस समय सारी वृत्तियाँ शान्त हैं और अपने अधिष्ठानसे अन्यता भी नहीं दिखा रहा है। परन्तु फिर भी यही जो शान्त स्वयंप्रकाश, अधिष्ठान-स्वरूप त्वम्-पदार्थ है वही अद्वितीय ब्रह्म है ('तत्' और 'त्वम्' पदार्थोंका लक्ष्य) इस ज्ञानके लिए, इस यथार्थ अनुभूतिके लिए, एक प्रमाणजन्य प्रमावृत्तिके उदयकी आवश्यकता रहती है। वह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि नहीं हो सकते क्योंकि प्रमाण तो वहाँ वह वाक्य होगा जो उस शान्त अन्तःकरणके स्वयंप्रकाश अधिष्ठानको अद्वितीय ब्रह्म बतावे। अतएव महावाक्यजन्य प्रमाकी उत्पत्ति ही वहाँ एक मात्र उपाय है, दूसरी कोई युक्ति नहीं है, नहीं तो वह केवल आत्मस्थिति होगी, शान्ति होगी, ब्रह्मानुभूति नहीं। यह वेदान्तकी डौंड़ी है, डिण्डिमघोष है। 'इति वेदान्त-डिण्डिमः'।

वेदान्तमें युक्ति, तर्क, अनुमान आदिकी उपेक्षा नहीं है, परन्तु वे लक्ष्यानुसारी होने चाहिए। लक्ष्य है—आत्माके ब्रह्मत्वका बोध और वह यथार्थमें केवल महावाक्यजन्य प्रमाके द्वारा ही प्राप्त होता है। उस तत्त्वमस्यादि महावाक्यकी दृढ़ धारणामें जहाँ तक युक्ति, तर्क, अनुमान आदि सहायक हैं, वहाँतक वे स्वीकार्य हैं। उच्छृङ्खल तर्क-युक्ति दिशाहीन है और श्रुतिप्रतिपाद्य लक्ष्यकी दिशामें कार्यान्वित युक्ति-तर्क सहकारी होकर अन्तमें ब्रह्मावगति होकर रहती है। इसलिए श्रुति कहती है—

आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।

(बृहदा० २.४.५)

अरे ओ जीव ! विधिपूर्वक माने शुद्धान्तःकरणसे सद्गुरुके श्रीमुखसे आत्माका श्रवण करो। त्वम्-पदार्थका विवेक करो कि आत्मा क्या है ! तत्-पदार्थका विवेक करो कि परमात्मा क्या है ! तो जो देश, काल, द्रव्यका अधिष्ठान है, वह सर्वज्ञ परमात्मा है और जो देश, काल, वस्तुका ज्ञाता है, वह आत्मा है। ज्ञाता और सर्वज्ञमें कहाँ अन्तर है. यह मनन करो ! यह अन्तर क्या मिलेगा कि 'अल्प' और 'सर्व' इन उपाधियोंका ही मात्र अन्तर है; अथवा केवल अविद्या और मायाका अन्तर है अथवा केवल अन्तःकरण (कार्य) और माया (कारण) का अन्तर है; अथवा व्यष्टि और समष्टिका अन्तर है। परन्तु स्वयंप्रकाश परमात्मामें किसी प्रकारका भेद नहीं हो सकता। 'त्वं'-पदार्थगत 'ज्ञान' और 'तत्'पदार्थगत 'ज्ञान' एक ही है—यह प्रमा महावाक्य 'तत्त्वमसि'से तुरन्त उत्पन्न होकर अपने ब्रह्मत्वका साक्षात् अनुभव होता है। यदि कुछ विपर्यय होता हो तो इसी विविक्तबोधस्वरूपमें अपनी वृत्तिकी एकतानतारूप समाधि अर्थात् निदिध्यासन करो। ब्रह्मावगति होगी और अवश्य होगी।

ब्रह्मावगति लक्ष्य है, आत्मावगति नहीं। क्योंकि आत्मा तो आत्मांशमें (मैं रूपमें) नित्य अवगत है ही, उसकी ब्रह्मांशमें ही अनवगतता है। इसलिए 'ब्रह्मावगतिः हि पुरुषार्थः'।

तो फिर युक्तिमें और प्रमाणजन्य प्रमामें क्या सम्बन्ध है ? उत्तर यह है कि महावाक्य सुननेके बाद भी यदि किसीके मनमें संशय हो तो उसे मनन करनेकी जरूरत है। यदि विपर्यय (विपरीत बुद्धि) होता हो तो निदिध्यासन करनेकी भी आवश्यकता है। परन्तु यदि संशय और विपर्यय न होते हों तो श्रवण-मात्रसे ही महावाक्यजन्य प्रमा उत्पन्न होकर अविद्याका नाश हो जायेगा और ब्रह्मावगति हो जायेगी, ठीक वैसे ही जैसे 'दशमस्त्वमसि' (तुम दसवाँ मनुष्य हो) वाले दृष्टान्तमें होता है।

दश मनुष्य नदीको तैरकर पार पहुँचे। कहीं कोई बह न गया हो इसलिए गिनने लगे। परन्तु प्रत्येक अपने आपको छोड़कर गिने। गिनती तो नौ आनी ही थी। सबने गिना और सबने मान लिया कि दशवाँ बह गया। रोने लगे कि हाय दशवाँ बह गया। एक बुद्धिमान् मनुष्य उधरसे निकला। उनके रोनेके कारणको जाना और उसने सबको गिना। दश तो वहाँ थे ही। अब उनकी भूल उसकी समझमें आगयी। उसने बारी-बारीसे प्रत्येकको शेष नौसे अलग किया और उस दशवेंको चपत मारकर बताया कि 'दशवाँ तू है।' वास्तवमें प्रत्येक ही दशवाँ था। अतः सबकी समझमें आगया। दशवाँ अपरोक्ष होते हुए भी परोक्ष हो रहा था। यह भ्रम 'वह दशवाँ तू है' इस वाक्यज्ञानसे निवृत्त हो गया। इसी प्रकार आत्मा अपरोक्ष होते हुए भी उसकी ब्रह्मता (यहाँ दशमता) परोक्ष हो रही है जो समस्त अनर्थोंका मूल है। यह भ्रम 'वह तू है—तत्त्वमसि' इस वाक्यज्ञानसे तुरन्त निवृत्त हो जाता है।

वेदान्त-विचारके लिए जगज्जन्मादि लक्षणको यदि अनुमान मानकर भी विचार किया जाय तो यह महावाक्यार्थ-शोधनमें उपयोगी होनेके कारण उसको रोकनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि वाक्यके मददगारके रूपमें वेदान्तने तर्कका उपयोग किया है। कैसे ?

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एतमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते

(छां० ८.१.६)

यह श्रुति कहती है कि 'जैसे यहाँ लौकिक कर्मोंसे सम्पादित फल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही वैदिक पुण्यकर्मोंका स्वर्गादि फल भी क्षीण हो जाता है।' यह स्पष्टतः युक्तिका प्रयोग है।

दूसरा उदाहरण देते हैं कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा६.१४.२) आचार्यवान् पुरुष ही अर्थात् श्रुतज्ञानसे ही पुरुष ब्रह्मको जानता है। यह श्रुतिवाक्य है। इसको सिद्ध करनेके लिए श्रुति एक दृष्टान्तरूप युक्ति देती है। क्या ?

पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येत्तैवमेवेह आचार्यवान् पुरुषो वेद। (छान्दोग्य, वहीं)।

एक आदमीको डाकू लोग आँख बन्द करके घोर जंगलमें ले गये। लूटलाट करके उसको वहीं छोड़ दिया। उसके हाथ पांव बँधे हुए थे : न तो वह चल सकता था और न उसे अपने देश गन्धार प्रदेशका रास्ता ही मालूम था। उधर कोई दयालु पुरुष निकले। उन्होंने उसके हाथ-पांव खोले। गन्धार देशका रास्ता बताया और मार्गके चिह्न कुआँ, बगीचा इत्यादि भी बताये। अब उसके बताये हुए निर्देशके अनुसार वह पण्डित और मेधावी व्यक्ति चल पड़ा और अन्तमें गन्धार पहुँच गया। इसी प्रकार यह जो अज्ञान है, काम है, क्रोध है, लोभ है, राग है

द्वेष है, इन डाकुओंने जीवात्माको लूटकर इस भवाटवीमें छोड़ दिया है। जब कोई दयालु आचार्य आकर श्रुति-सम्मत अपने देश, (ब्रह्मदेश) के मार्गका निर्देश करते हैं तो वह जीव भी निश्चित अपने लक्ष्यको जान जाता है, प्राप्त कर लेता है। यह भी युक्तिका प्रयोग करके ही श्रुति समझा रही है।

उपर्युक्त मन्त्रमें पण्डित और मेधावी दो शब्द आये हैं। 'सद-सद्विवेकिनी बुद्धि पण्डा'। 'धी धारणावती मेधा'। जिसकी बुद्धि सत् और असत्का विवेक कर सके वह पण्डित है और जिसकी बुद्धि सुने हुएको धारण कर सके वह मेधावी है। परमार्थके मार्गमें पण्डित ही गुरुके पास जाता है और मेधावी ही गुरुसे प्राप्त ज्ञानके अनुसार चलकर ब्रह्मावगति प्राप्त करता है।

गुरु जब समझा देता है कि 'तू अन्नमयकोश नहीं है, प्राणमय-कोश नहीं है, मनोमयकोश नहीं है, विज्ञानमयकोश नहीं है, आनन्दमयकोश नहीं है, तू तो इन सबका साक्षी है, माने तू तो देश-काल-वस्तुका और उनकी कल्पनाका साक्षी है, तो अब बता कि तेरा देखा जानेवाला काल क्या तुझे काट सकता है? तेरा देखा जानेवाला दृश्य क्या तुझे परिच्छिन्न बना सकता है? क्या आश्रित स्वयं अपने आश्रयका प्रतियोगी हो सकता है? तुम स्वयं-प्रकाश आत्मा सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हो और यह जितना अनात्माकार द्वैताकार प्रपञ्च तुममें भास रहा है वह सब अध्यस्त है।'

इस प्रकार श्रुति स्वयं बताती है कि मनुष्य अपनी बुद्धिकी सहायतामें महावाक्यार्थका ज्ञान स्वयं कर लेता है। वेदान्तमें बुद्धिका विरोध नहीं है। विरोध यह है कि बुद्धि तुम्हारी लक्ष्य-हीन न हो जाय। महावाक्यके द्वारा जो लक्ष्य है बुद्धि उसीको ढूँढे, उसीको प्राप्त करे। तब बोध होगा। यदि उच्छृङ्खल होकर भटक गयी तो परमात्माका साक्षात्कार नहीं होगा। ●

(२. १०)

ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासामें श्रुति-प्रमाणका अन्तर

न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्। अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्त्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्त्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाऽश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति। तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षा। न

वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्धयपेक्षम् । किं तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत् । नहि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं, भवति । तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम् । स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं वस्तुतन्त्रत्वात् । एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम् । तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात् ।

(भाष्य १.१.२)

अर्थ : धर्म-जिज्ञासाके समान ब्रह्मजिज्ञासामें केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं किन्तु श्रुति आदि और अनुभव आदि यथा-संभव उसमें प्रमाण हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तु-विषयक है और साक्षात् अनुभव-पर्यन्त अवधिवाला है। कर्तव्य-विषयमें अनुभवकी अपेक्षा नहीं है (क्योंकि) उसमें तो केवल श्रुति आदि ही प्रमाण हैं इसके अतिरिक्त धर्मकी (कर्त्तव्यकी) उत्पत्ति पुरुषके अधीन है। इसलिए लौकिक और वैदिक कर्मोंको करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें पुरुष स्वतन्त्र है। जैसे कि अश्वसे जाता है, पैदल जाता है अथवा अन्य साधनसे जाता है अथवा नहीं ही जाता।' वैसे ही 'अतिरात्रिमें षोडशीका ग्रहण करें, 'अतिरात्रिमें षोडशीका ग्रहण न करे', 'ऋग्वेदी सूर्य उदय होनेपर अग्निहोत्र करे', 'यजुर्वेदी सूर्योदयसे पहले अग्निहोत्र करें'—इस प्रकार विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद यहाँ धर्ममें सार्थक होते हैं। परन्तु सिद्ध वस्तुके बारेमें वह ऐसी है अथवा ऐसी नहीं है अथवा नहीं ही है—ऐसे विकल्प नहीं किये जा सकते। विकल्प तो पुरुषकी बुद्धिकी अपेक्षासे होते हैं। सिद्ध वस्तुका यथार्थ ज्ञान पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता, अपितु वह तो सिद्ध वस्तुके अधीन हैं। (जैसे) स्थाणुमें स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है—ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उसमें पुरुष है अथवा अन्य है, यह मिथ्या ज्ञान है। स्थाणु ही है यह यथार्थ ज्ञान है,

क्योंकि वह वस्तुके अधीन है। उसी प्रकार सिद्ध वस्तु-विषयक ज्ञानोंका प्रामाण्य वस्तुके अधीन है। ऐसा होनेपर ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके अधीन है क्योंकि वह भी सिद्ध वस्तु-विषयक है।

अब भगवान् शंकराचार्य एक नया प्रश्न उठाते हैं। बड़ा विलक्षण है यह प्रश्न! वे कहते हैं कि धर्मजिज्ञासामें भी वेद प्रमाण हैं और ब्रह्मजिज्ञासामें भी वेद प्रमाण हैं। दोनों स्थानोंमें वेदकी प्रामाणिकतामें कुछ अन्तर है या एक रूप ही प्रामाणिकता है?

प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि धर्म कोई साक्षात्कारका विषय नहीं है। धर्मका फल प्रयोजनीय है कि सुख मिले (यहाँ भी और मरनेके बाद भी)। दूसरे धर्म अनुष्ठेय हैं, करनेकी चीज है। करनेकी वस्तुमें और जाननेकी वस्तुमें फर्क होता है। करनेकी वस्तुमें कर्ता स्वतन्त्र होता है। उस कर्मको कर्ता करे, न करे अथवा उल्टा करे। इसको कहते हैं कि धर्म-जिज्ञासा पुरुष-बुद्धि-तन्त्र है। धर्मानुष्ठानमें पुरुषकी बुद्धिका स्वातन्त्र्य बना रहता है क्योंकि वहाँ धर्मानुष्ठान कर्तृत्वपूर्वक होता है। यह बात कर्ताकी बुद्धिके अधीन है कि वह अनुष्ठानमें द्रव्यका विनियोग, कर्मका विनियोग, भोगका विनियोग कैसे करता है—विधिके अनुकूल करता है या प्रतिकूल करता है अथवा करता ही नहीं। इसीलिए धर्म और अधर्म कर्ताको (पुरुषको) लगता है। कर्ता कर्म करनेके उपरान्त पापी या पुण्यात्मा होता है। अधिकारीके लिए धर्म-कर्मको करने या न करनेसे पाप-पुण्य होते हैं।

इसके विपरीत वस्तुका ज्ञान पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता कि उसे जानें या न जानें या उल्टा जानें। इस मकानको जानें या न जानें या इसे गड्ढा जानें, इसमें स्वतन्त्रता नहीं है। सिद्ध वस्तुका ज्ञान पुरुषकी बुद्धिके अधीन नहीं होता; वह वस्तुके अधीन होता है माने वस्तु जो है, जैसी है, वैसी ही ज्ञात होती है। और

वैसी ही ज्ञात होना ज्ञान है और अन्यथा-रूप ज्ञात होना ज्ञान नहीं भ्रम है। इसी बातको पारिभाषिक शब्दावलीमें यों कहते हैं कि ज्ञान-पुरुष बुद्धि-तन्त्र नहीं है, वस्तु-तन्त्र है अथवा कि ज्ञान कर्तृतन्त्र नहीं है, वस्तुतन्त्र है।

धर्म करना, उपासना करना, योगाभ्यास करना—ये सब कर्ताकी नींवपर खड़े हैं और आत्माकी ब्रह्मताका ज्ञान कर्ताके अधीन नहीं है। कर्ता धर्म करे, न करे, विपरीत करे; कर्ता उपासना करे, न करे, विपरीत करे; कर्ता योगाभ्यास करे; न करे, विपरीत करे। परन्तु कर्ता तत्त्वज्ञानमें हेर-फेर नहीं कर सकता। इसलिए तत्त्वज्ञान पाप-पुण्यके अन्तर्गत नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि ज्ञाता ब्रह्मको निर्गुण मानले या सगुण मानले या उसे यह मानले या वह मानले। ब्रह्म वस्तु जैसी है वैसी हो उसे जान लेना तत्त्वज्ञान है। इसीलिए तत्त्वज्ञान न धर्मके अन्तर्गत है, न उपासनाके और न योगके। वह न तर्कका विषय है न अनुमानका। उसके यथार्थ अपरिच्छिन्न प्रत्यक् चैतन्याभिन्न स्वरूपको श्रुति लखाती है।

श्रुति तत्त्वका प्रकाश करती है और धर्मका आदेश देती है। दूसरे शब्दोंमें श्रुति तत्त्वका शंसन करती है और धर्मका शासन करती है।

ब्रह्मज्ञानमें आत्मवस्तु जैसी है वैसी ही लखाई जाती है; लखाना मात्र है वहाँ। और धर्ममें तो आदेश है; केवल शंसन नहीं शासन है। अग्निको अग्नि जान लेना मात्र पर्याप्त है परन्तु उसमें होम करना—यह दूसरी बात है। असलमें धर्म विश्वास-प्रधान है और ब्रह्मज्ञान अपरोक्ष-अनुभव-प्रधान है। ब्रह्मज्ञान है—आत्मानुभूति और धर्म है—कर्तृत्व और विश्वाससे भविष्यमें उत्तम फल देनेवाली एक क्रिया! अतः यद्यपि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्म-

जिज्ञासा दोनों ही वैदिक हैं तथापि दोनोंमें वेदकी प्रामाणिकतामें अन्तर है। धर्ममें केवल आदेश-वाक्य (शासन) ही प्रमाण हैं; परन्तु ब्रह्मजिज्ञासा अनुभव पर्यवसायी होनेके कारण उसमें अनुभव उत्पन्न करनेवाले शंसन-वाक्योंका और स्वयं अनुभवका भी प्रामाण्य है।

अब थोड़ा धर्मके बारेमें विचार करते हैं—

थोड़ी देरके लिए धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानको छोड़ दो और मान लो कि मनुष्य केवल देह है और वह ऐसा ही समझकर काम करता है। जानते हो इसका नतीजा क्या होगा? मरनेपर उसको क्या मिलेगा? ब्रह्म, ईश्वर, बैकुण्ठ या स्वर्ग, उसे कुछ नहीं मिलेगा; मुक्ति भी नहीं मिलेगी। यहाँ तक कि उसे पुनर्जन्म भी नहीं मिलेगा। देहकी जो गति होगी वही उसकी गति होगी। जिसने आजीवन अपनेको देहरूप माना है, उसकी अन्तिम गति भी वही होगी जो देहकी गति होती है। देहकी गति यह है कि धरतीमें गाड़ दो तो कीड़े पड़ जायेंगे, बाहर फेंक दो तो पशु-पक्षी खा जायेंगे और जला दो तो राख हो जायेगी। हर हालतमें यह शरीर पञ्चभूतोंमें मिल जायेगा। क्योंकि सारे जीवन तुमने अपनेको शरीरसे मिलाये रखा है; इसलिए अब तुम्हारे लिए शरीरसे बाहर निकलनेकी कोई चर्चा ही नहीं है। तो अपने आपको जड़के साथ एक कर देना, यह देहको मैं माननेका परिणाम है। जो लोग धर्म-कर्मको नहीं मानते हैं, वे लोग यही गति स्वीकार भी करते हैं। चार्वाक यही मानता है कि एकबार घुणाक्षर-न्यायसे यह शरीर बन गया और मरनेके बाद खतम हो जायेगा; न पहले कुछ था और न बादमें कुछ रहेगा। कहो कि 'मैं' कहाँ गया, तो कहेंगे कि जहाँ शरीर गया वहीं मैं चला गया। 'मैं' तो कुछ था ही नहीं।

दूसरी प्रक्रिया इस विषयमें जैन-बौद्धों और पूर्वमीमांसकोंकी है। बौद्ध मुक्त होनेके बाद आत्माका अस्तित्व नहीं मानते। जबतक कर्मधारा, संस्कारधारा चल रही है तबतक आत्माका जन्मान्तर और लोकान्तर दोनों होते हैं; परन्तु मुक्तिके बाद आत्मोच्छेद ही मुक्ति है, यह दोनों शून्यवादी और विज्ञानवादी बौद्धोंका मत है। उनके मतमें मुक्तिके बाद कुछ नहीं रहता— न जड़ न चेतन।

जैन लोग वासनाके अनुसार मरनेके बाद आत्माका जन्मान्तर और लोकान्तर मानते हैं और कर्म-वासनासे छुटकारा पानेपर भी (मुक्त होनेपर भी) निर्मल, उज्ज्वल, निर्दोष, अदेश, अकाल, चिदंशरूप आत्माका अतित्व रहता है, ऐसा मनते हैं।

जैन, बौद्ध, मुस्लिम और ईसाई सब धर्माधर्मको मानते हैं और मरनेके बाद आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। इस्लाम और ईसाई मुक्ति स्वीकार नहीं करते; परन्तु जैन-बौद्ध मुक्ति स्वीकार करते हैं। कर्मके अनुसार पुनर्जन्म बौद्ध और जैन दोनों मानते हैं। कर्मके अनुसार बहिश्त और दोजख (स्वर्ग और नरक) इस्लाम और ईसाई दोनों मानते हैं। कर्मके अनुसार गति होती है तथा मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व रहता है, इस सिद्धान्तको बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई, सिक्ख, पारसी और पूर्वमीमांसक सब मानते हैं।

धर्मकी प्रक्रिया कहाँ है? जड़ शरीरमें जो हमारा मैं लथ-पथ हो गया है, फँस गया है, उसे वहाँसे निकालें। यह जो देह-वासनासे अभिभूत जीव-चैतन्य है उसे कैसे निकालें? शरीरकी और मनकी क्रियापर नियन्त्रण करके यह अनुभव करलें कि हम शरीर नहीं हैं, शरीरसे अलग हैं। यह जो शरीर और मनकी क्रिया-प्रक्रियापर आत्मनियन्त्रण स्थापित करना है, अर्थात् आत्म-

नियन्त्रणकी स्थापनाकी जो प्रक्रिया है उसको धर्म कहते हैं। बौद्धोंने भी और पूज्यपाद गौड़पादाचार्यजीने भी आत्माका एक नाम 'धर्म' बताया है। (द्र० माण्डूक्यकारिका ४.१)। अवश्य ही दोनोंके अभिप्राय अलग-अलग हैं।

'धरति इति धर्मः।' जो पकड़ ले सो धर्म। 'धरति नियन्त्रयति इन्द्रियादीनि इति धर्मः।' जो इन्द्रियोंको पकड़ कर नियन्त्रणमें लाये सो धर्म।

'धारणात् धर्म इत्याहुः'। जो धारण किया जाय सो धर्म।

'धर्मो धारयते प्रजाः'। धर्म प्रजाको धारण करता है। अतः जिसमें धारणकी शक्ति हो सो धर्म। अर्थात् कहाँ जाना और कहाँ न जाना—जो इस प्रकारका विधि-प्रतिषेधके अनुशासनसे पूर्ण है। धारणार्थक जो 'धृ' धातु है उससे ही धर्म शब्द बनता है।

महाभारतमें बताया कि—

> **धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।**
> **यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥**
>
> (कर्णपर्व ६९.५८)

धारण करनेसे धर्म है, ऐसा कहते हैं। धर्म प्रजाको धारण करता है। इसलिए जो धारण-संयुक्त होवे वह निश्चयपूर्वक धर्म है।

'धृयते कर्तृभिः इति धर्मः'। कर्ता जीवात्मा जिसको पुण्य-दानादिके रूपमें धारण करे सो धर्म।

यह स्त्री, यह धन, यह सम्पत्ति, यह शक्ति-सामर्थ्य ऐसे हैं कि मनुष्यकी बुद्धि इनसे मतवाली हो जाती है। ये काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकार बुद्धिके लिए तो विष ही हैं। धर्म इस विषसे रक्षा करता है।

जीवनमें कर्मकी आवश्यकता है। आप अपनी इन्द्रियोंको और मनको काबूमें करके कर्ता बन जाओ। उचित करो, अनुचित मत करो। अपने जीवनमें नियन्त्रण आवश्यक है, माने धर्म आवश्यक है।

किसीने कहा कि नहीं जी, हम तो सीधे वेदान्ती ही बन जायेंगे। तो वेदान्तको समझनेमें चार बातें बाधक हैं—

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्यय-दुराग्रहः।
विषयासक्तिरित्यते ज्ञाने वै प्रतिबन्धकाः॥

(१) प्रज्ञामान्द्य—अर्थात् बुद्धिका मोटा होना। (२) कुतर्क-अर्थात् केवल काटना ही लक्ष्य हो। लक्ष्य विध्वंस हो रचना नहीं। (३) विपर्ययदुराग्रह—अर्थात् अपनेको इन्द्रियवाला, मनवाला, अज्ञानी, परिच्छिन्न माननेका दुराग्रह (४) विषयासक्ति—अर्थात् पृथक्भूत द्रव्यका सुख-बुद्धिसे सेवन।

इनमें क्रम इस प्रकार है कि विषयासक्ति स्थूलतम विघ्न है, फिर विपर्यय, कुतर्क और प्रज्ञामान्द्य यह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम विघ्न हैं।

विषयासक्ति हटानेके लिए हम आसक्तिवश विषय-सेवन न करें। धर्मके औचित्यका विचार करके सेवन करें। नियन्त्रण बना रहना चाहिए। मोटर चलाइये, पर जहाँ आवश्यकता हो या खतरा हो, वहाँ ब्रेक भी लगाइये। ब्रेक अर्थात् वारक, रोकनेवाला। इन्द्रियोंके विषयसेवनमें धर्म ही वारक है।

मुश्किल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनेको छोड़कर सारी दुनियाको धर्मात्मा देखना चाहता है। जबकि सचाई यह है कि यदि प्रत्येक इकाई धर्मात्मा हो जाय तो सारी दुनिया अपने आप धर्मात्मा हो जायेगी।

तो धर्मने क्या किया ? आपको कर्ताके रूपमें शरीरसे अलग कर दिया, कर्मके करणोंसे अलग कर दिया। फिर आपको धर्म और अधर्मका विवेकी बनाया। मरनेके बाद धर्माधर्मके अनुसार फल मिलता है, इस विज्ञानका बीज आपकी बुद्धिमें डाल दिया। आपको मिट्टीमें मिलनेसे बचा लिया धर्मने! आप स्वामी हो, विकारी पदार्थ नहीं हो। समाजका व्यवहार ठीक तब चलेगा जब तुम धर्मात्मा होओगे। मरनेके बाद भी तुम रहोगे, यह धर्म बताता है।

धर्मका फल क्या है ? वृत्ति। इसका भी विज्ञान है कि कौन-सा कर्म करके आपका मन सुख अनुभव करता है और कौन-सा कर्म करनेके बाद ग्लानि। जिस कर्मको करनेके बाद आत्मतुष्टि अनुभव हो वह कर्म धर्म है और जिस कर्मको करनेके बाद ग्लानि अनुभव होती हो वह कर्म अधर्म है। वैसे धर्मके निर्णयमें चार प्रकारसे निर्णय होता है—श्रुतिसे, स्मृतिसे, सदाचारसे तथा आत्मप्रियतासे—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतद् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनुस्मृति २.१२)

'श्रुति, श्रुतिसे अविरुद्ध स्मृति, श्रुति-स्मृतिसे अविरुद्ध सदाचार और श्रुति-स्मृति-सदाचारसे अविरुद्ध आत्मतुष्टि—ये चारों बात धर्ममें प्रमाण हैं।'

बहिरंग धर्म इन्द्रियोंके व्यापारमें, धनोपार्जनमें और कर्ममें नियन्त्रण करता है और यह अनर्थनिवृत्ति-प्रधान है। अन्तरंग धर्म हमारी मनोवृत्तिका नियन्त्रक है और यह इष्टप्राप्ति-प्रधान है। परम अन्तरंग धर्मयोग द्वारा हमारे अहंको आत्मोन्मुख करनेवाला है, ऐसा याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्।
(याज्ञवल्क्यस्मृति १.८)

ये सब धर्म कर्मसापेक्ष हैं। धर्म करनेसे पहले और धर्म-समकालमें धर्मका अनुभव नहीं होता, माने धर्मका प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु धर्मके उत्तरकालमें धर्मके फलके रूपमें सुखका अनुभव होगा, शान्तिका अनुभव होगा।

इसके विपरीत ब्रह्मका प्रत्यक्ष होता है। ब्रह्मके निर्णयमें युक्ति-तर्क सहायक होते हैं। परन्तु धर्मके निर्णयमें युक्ति-तर्क अत्यन्त गौण हैं वहाँ तो शास्त्रादेश, सद्गुरु, सम्प्रदाय, इनकी प्रधानता रहती है। (तर्क और वासनाकी प्रधानता नहीं रहती)।

लोग कहते हैं कि ये वेदान्ती लोग तर्कको बाँधते क्यों हैं? स्वतन्त्र तर्कमें दोष यह है कि हम सदैव अपनी ऐन्द्रियक और मानसिक अनुभूतिके आधारपर ही तो तर्क करते हैं; परन्तु वेदान्तका लक्ष्य आत्मानुभूति-परक है और वह एक अतीन्द्रिय अनुभव है। अतीन्द्रियके अनुभवके लिए अतीन्द्रिय वस्तुके अनुभवके प्रमाणके जो अनुकूल तर्क होगा वही ग्राह्य होगा, अन्य नहीं।

'तर्कणम् ऊहनम् अभ्यूहनम्'। सम्भावनाओंपर विचार करनेका नाम तर्क होता है। यह जो तर्क शब्द है, वह कर्तको उलट करके बनाया गया है। जैसे, सिंहको उलट करके हिंस या हिंसा बनता है। इसलिए तर्कका वही अर्थ है जो कर्तका है। 'कृति कृन्तने'से कर्त बनता है। अतः कर्तका अर्थ है—काटना। कर्तरी कैंचीको कहते ही हैं। काटना कोई बहुत अच्छा गुण नहीं है।

एक महात्मा थे। वह एक दिन दर्जीके घर गये। देखा दर्जीने सुईको काम करके टोपीमें खोंस लिया और कैंचीको काम करके जमीनपर रख दिया। महात्माने शिक्षा ली कि जो जोड़नेका

काम करती है सुई, वह शीशपर रखी जाती है और जो काटनेका काम करती है कैंची, वह अन्ततः जमीनपर ही रखी जाती है।

तर्कमें काटना-ही-काटना है, विध्वंस-ही-विध्वंस है, इसमें रचना पक्ष नहीं है। ब्रह्मज्ञान आत्माके रूपमें ब्रह्मावगति करानेवाला होता है। यह श्रुतिगम्य ही है। यदि श्रुत्यर्थमें संशय हो तो युक्ति-तर्कपूर्वक मनन करना चाहिए। यदि विपर्यय हो तो निदिध्यासन भी करना चाहिए। परन्तु आत्माको ब्रह्म अनुभव करनेमें जो साधक युक्ति-तर्क होते हों, केवल वही ग्राह्य हैं, अन्य नहीं।

जहाँ मनुष्य है वहाँ और लक्ष्य स्थानके बीचकी दूरीको मिटानेवाला तर्क मनन कहलाता है। परन्तु जहाँ उद्देश्य अज्ञात है, कहाँ पहुँचना है कोई पता नहीं, ऐसी तर्ककी स्थिति होती है।

स्टेशन है ब्रह्मात्मैक्य बोध। उसके अनुरूप टिकट है—मनन। उसकी ओर ले जानेवाली ट्रेनपर सवार होनेका नाम है—निदिध्यासन। इसलिए जहाँ प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी वस्तु है वहाँ उस वस्तुका पता लगा लो कि वह क्या है? वह ब्रह्मात्मैक्य-बोध है।

जो लोग समझते हैं कि वेदान्तसे आत्माको ब्रह्म बनाया जाता है, वे ठीक नहीं समझते। वेदान्त-ज्ञानसे आत्माको ब्रह्म बनाया नहीं जाता, आत्मा सचमुचमें ब्रह्म है ही। परन्तु किसी अज्ञात कारणसे हमारी यह जानकारी गड़बड़ हो गयी है। इस भेद डालनेवाले कारणको मिटानेके लिए वेदान्त है, आत्माको ब्रह्म बनानेके लिए वेदान्त नहीं है। आत्मा तो सिद्ध रूपसे ब्रह्म है।

तो धर्मको जाननेके लिए श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मसन्तोष चाहिए। परन्तु ब्रह्मज्ञानके लिए ब्रह्मबोधक श्रुति चाहिए; साक्षी किसीसे कटता नहीं, यह तर्क चाहिए, जो देश-

काल-वस्तुको जान रहा है, वही देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है, यह ज्ञान चाहिए।

अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।

ब्रह्मज्ञान अनुभव-स्वरूप है और वह जो पहलेसे है, उसके लिए है। ब्रह्म माने अनन्त! अनन्त पहलेसे है कि उसको तुम बनाओगे? ब्रह्म माने अपरिच्छिन्न! अपरिच्छिन्न पहलेसे है या उसको तुम बनाओगे? वह ब्रह्म कौन है? इस प्रश्नको बोलनेवालेके मनमें यह प्रश्न है कि 'मैं कौन हूँ।' इस प्रश्नकी वृत्तिको कौन देख रहा है? आत्मा, साक्षी देख रहा है। यह जो साक्षी आत्मा है वह प्रश्नाकार-वृत्ति और उसके बीच तथा उनके आश्रय अन्तःकरणसे परिच्छिन्न नहीं है, क्योंकि वह इनसे न्यारा है, इनका साक्षी है। देश-काल-द्रव्यके अभावसे उपलक्षित आत्मा ही ब्रह्म है।

सत्तार्थक 'भू' धातुसे 'भव' शब्द बनता है। होना भव है। 'भवनं भवः।' और जिससे होवे वह कारण भी भव कहलाता है: 'भवति अस्मात् इति भवः कारणं शिवं सर्वज्ञम्।' अतः कार्य और कारण दोनों भव हैं। 'भव' शब्दमें 'अनु' उपसर्ग लगानेसे अनुभव शब्द बनता है। 'अनु भवति अनुभवः।' भव (कार्य और कारण) के जो 'अनु' अर्थात् पीछे रहे सो अनुभव है! माने कार्य-कारण-रूप सत्ताका जो प्रकाशक चैतन्य है, वह अनुभव है। अज्ञान-दशामें जो चीज सत्ताके रूपमें भासती है उसकी यथार्थताका ज्ञान होनेपर वह अनुभव स्वरूप ही है। अनुभवसे पृथक् न कार्य है न कारण है। अनुभवसे पृथक् यह कार्य-कारणात्मक प्रपञ्च नहीं है। 'अनुभवो ब्रह्म' अर्थात् अनुभव ही ब्रह्म है।

अनु भवति अनुभवः। कस्मात् अनु? कार्य-कारणात् अनु भवति उपलभ्यते।

दुनियामें जितना कार्य-कारण है उनके 'अनु' आप हैं। जो कुछ हुआ, हो रहा है तथा होगा और वह 'जो कुछ' जिससे है, वह सब आपको ही भासते हैं। जहाँ कार्य और कारण होते हैं वहीं उस-उस उपाधिसे उपहित 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ भी होते हैं। परन्तु जहाँ कार्य-कारण-प्रपञ्च नहीं है वहाँ 'तत्' और 'त्वम्'-का औपाधिक भेद भी नहीं है।

'भेदाभावोपलक्षिततत्व' यह आत्माका लक्षण है। माने भेद और भेदाभाव दोनोंका साक्षी आत्मा है। देश-भेद, काल-भेद, द्रव्य-भेद, सजातीय भेद, विजातीय भेद, स्वगत-भेद और इन-भेदोंका अभाव—सबका साक्षी आत्मा है। और भेदका साक्षी भेदक वस्तुसे असंस्पृष्ट होनेके कारण अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

इसका अर्थ है कि तुम जो अपनेको इन्द्रियवाला, मनवाला, बुद्धिवाला, शान्तिवाला, समाधिवाला, देशवाला, कालवाला, बीजवाला समझते हो वह सब गलत है। तुम कोई वाला नहीं हो। तुम तो ब्रह्म हो—अनन्त, अपरिच्छिन्न, अखण्ड चैतन्य !

तुम्हारे इस प्रकारके ब्रह्मत्वका अनुभव तुमको होगा, होता ही है। 'अनुभवावसानत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्य'।

ब्रह्मज्ञान न केवल अनुभवपर्यवसायी है; बल्कि वह 'भूतवस्तु-विषयत्वाद्' भी है अर्थात् वह सिद्धवस्तु-विषयक ज्ञान है।

कोई चीज बनानी होती है उसका ज्ञान दूसरे प्रकारका होता है। और जो वस्तु पहलेसे ही मौजूद होती है उसका ज्ञान दूसरे ढंगका होता है। बनानेमें स्वातन्त्र्य होता है कि वस्तुको गोल बनावें या लम्बी या चौड़ी। डिजाइन और फैशन नित्य-प्रति बदलते रहते ही हैं। इस स्वातन्त्र्यका स्वरूप है: कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुम् (करें, न करें अथवा अन्यथा करें)। धर्म-कर्म ऐसी ही चीज है। परन्तु जो वस्तु जैसी हो वैसी ही उसे

जानना ज्ञान है। धर्म कर्ताके अधीन होता है और ज्ञान वस्तुतन्त्र है : 'भूतवस्तुविषयत्वात्'।

आप मोटरसे जायँ, पैदल जायँ या न जायँ, यह तो हो सकता है, परन्तु क्या आप इस खम्भेको हाथी समझ सकते हैं? स्पष्ट है कि नहीं। कर्म-सम्बन्धी समझ भीतरसे निकलती है, वासनाके अनुसार। और वस्तुसम्बन्धी समझमें वस्तुके स्वरूपके अनुसार समझना पड़ता है। उसमें यह विकल्प तो है ही नहीं कि वह है या नहीं है।

ब्रह्म सिद्ध वस्तु है। वह स्वर्गमें है या सगुण है या निर्गुण है, इत्यादि, इत्यादि—ये सब समझ हैं। जबतक बुद्धि लगी रहेगी तबतक वह सगुण ही रहेगा। परन्तु जब तुम अपनेको ब्रह्म अनुभव कर लोगे तब बुद्धि बाधित हो जायेगी और तब तुम वास्तवमें निर्गुण होगे, बुद्धि रहते निर्गुण नहीं होगे। बुद्धि बाँधती है।

विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद धर्ममें सार्थक होते हैं।[1] धर्ममें विकल्प कर्ताके अधीन है कि ऐसे करें या वैसे करें। परन्तु वस्तुके ज्ञानमें वस्तु है या नहीं, ऐसी है या वैसी है, यह विकल्प नहीं होता। वस्तु तो जैसी है वैसी ही उसे

---

१. 'यजेत' (यज्ञ करें) यह विधिवाक्य है। 'न सुरां पिबेत्' (सुरा न पीवे) यह प्रतिषेध वाक्य है। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रिमें षोडशीका ग्रहण करे, अतिरात्रिमें षोडशीका ग्रहण न करे) यह विकल्पवाक्य है। 'मा हिंस्यात्' (हिंसा न करे) सामान्य वाक्य होनेसे उत्सर्ग है। विशेष वाक्य जिसमें सामान्य वाक्य बाधित हो जाते हैं, अपवाद कहलाते हैं जैसे 'अग्नीषोमीय 'पशुमालभेत' (बलिके लिए अग्निषोमीय पशुका आलभन करे)। यह 'मा हिंस्यात्' का अपवाद कर देता है।

जानना ज्ञान कहलाता है। द्रष्टामें विकल्प नहीं होता। विकल्प सदैव हृदयमें होता है। देश है या नहीं है, इतना लम्बा है या इतना छोटा है? काल है या नहीं है, इतना है या उतना है? द्रव्य यह है या वह है? ये सब विकल्प दृश्यमें हैं। ऐसा-वैसा दृश्यमें होता है, द्रष्टामें नहीं।

तदीदृक् व ईदृक् न तादृक्।

ब्रह्म न ऐसा है न वैसा है। ऐसा-वैसा तो भास्य है, ज्ञान नहीं है। ऐसा-वैसा प्रकारका विकल्प है। सत्यवस्तुके सम्बन्धमें वह है या नहीं—यह भी विकल्प नहीं हो सकता। सत्य अस्ति-नास्ति बुद्धिवृत्तिका विषय नहीं होता।

न तु वस्तु एवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते।

विकल्प कहाँ होता है? पुरुषकी बुद्धिमें। विकल्प अपूर्ण ज्ञानका फल होता है। पुरुषकी बुद्धि जितना-जितना दृश्यका अनुभव करती जाती है, उतना-उतना ही विकल्पका उदय-लय होता जाता है। घटः अस्ति, घटः नास्ति (घट है, घट नहीं है)—यह विकल्प घटके सम्बन्धमें ही है। परन्तु जो अस्ति-नास्ति दोनों प्रत्ययोंका साक्षी है वह अस्ति-नास्ति दोनों वृत्तियोंका विषय नहीं है।

तो विकल्प पुरुषबुद्धिकी अपेक्षासे होते हैं—'विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः।' परन्तु वस्तुका यथार्थज्ञान पुरुषबुद्धिकी अपेक्षा नहीं करता—

न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।

आत्मा बुद्धिकी अपेक्षासे नहीं है। जितना तुम्हारी बुद्धिमें आता जाय; उतना-उतना उसमें बैठते जाओ, ऐसा बुद्धि-तन्त्र नहीं है। फिर वह क्या है? 'किं तर्हि?' तो कहा—वह वस्तुतन्त्र है—

वस्तुतन्त्रमेव तत्।

बात दो टूक है। सामने खम्भा (स्थाणु) तुमको दीख रहा है। यह खम्भा है, यह पुरुष है, यह चोर है, यह सिपाही है—ये ज्ञान इस खम्भेके बारेमें हो सकते हैं। परन्तु इन सब ज्ञानोंमें केवल 'यह खम्भा है' यह ज्ञान ही ज्ञान है, बाकी सब अज्ञान हैं, मिथ्या ज्ञान हैं, क्योंकि खम्भेका ज्ञान खम्भानिष्ठ ही है, उस खम्भेके देखनेवालेकी बुद्धि निष्ठ नहीं है।

नहि स्थाणवेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्व-ज्ञानम्, वस्तुतन्त्रत्वात्।

'एक स्थाणुमें स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है, ऐसा ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं होता। उसमें पुरुष है अथवा अन्य है यह मिथ्या ज्ञान है और 'स्थाणु ही है' यह तत्त्वज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु (स्थाणु) के ही अधीन है।'

धर्म कर्तामें-से निकलता है। कर्ता रहता है—एक विशेष देशमें, विशेषकालमें। इसलिए देश, काल, अवस्था, जाति, सम्प्रदायके बदलनेसे धर्म भी बदल जाता है। यूरोपमें पानीसे स्नान न करना और मात्र कपड़े बदल लेना धर्म हो सकता है, परन्तु गर्म-देश भारतमें स्नान धर्म है। गृहस्थके लिए स्त्री-सहवास धर्म है परन्तु संन्यासीके लिए वह धर्म नहीं है।

परन्तु वस्तु-ज्ञानमें देश-कालादिका भेद नहीं होता। सत्य जैसा होता है, उसे वैसा ही जाना जाता है। धर्म हमारी योग्यताके अनुसार जाना जाता है। धर्ममें योग्यताकी उपाधिसे भेद होता है और निरुपाधिकताके कारण वस्तुज्ञानमें भेद नहीं होता।

एवंभूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्म-ज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात्।

'इस प्रकार सिद्ध वस्तु-विषयक ज्ञानोंका प्रामाण्य वस्तुके ही अधीन है। और क्योंकि ब्रह्म भी सिद्ध वस्तु है अतः ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके अधीन है।'

जैसे घटकी उपाधिसे आकाश छोटा और मठकी उपाधिसे आकाश बड़ा मालूम पड़ता है परन्तु आकाश जो वस्तु है वह न तो घटाकाशके बराबर है और न मठाकाशके बराबर है। आकाश तो अनन्त-अखण्ड है। उसी प्रकार यह जो आत्म-चैतन्य है वह न तो विकारी है, न यह पैदा हुआ है और न तो यह मरेगा ही। क्योंकि पैदा होना और मरना दोनों चैतन्यके अस्तित्वसे ही सिद्ध होते हैं। चेतन पैदा नहीं हो सकता। चेतन मर नहीं सकता: अन्यथा पैदा होने और मरनेका साक्षी कौन होगा ? जन्मके पूर्व जो चित् है और मृत्युके उत्तर जो सिद्ध है और वहिरंग-अन्तरंगके भेदको जो जानता है, उसका नाम है चेतन। वह वस्तुतन्त्र है।

अनन्तका जब किसीको ज्ञान होगा तो उसमें एक बात तो यह है कि आत्मासे अभिन्न हुए बिना अनन्त नहीं हो सकता अन्यथा वस्तुएँ दो हो जायेंगी—एक आत्मा और एक अनन्त; और उनमें-से कोई भी अनन्त नहीं हो सकेगा। ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है उससे अभिन्न जो सत्ता है; और जो अनन्तसत्ता है उससे अभिन्न जो आत्मा है, उसीको ब्रह्म कहते हैं! अनन्तसत्तासे अभिन्न ज्ञान और ज्ञानसे अभिन्न अनन्तसत्ता ब्रह्म है। जहाँ सत्ता ज्ञानसे अलग हो जायेगी, वह जड़ हो जायेगी। यदि ब्रह्म तुमसे अलग है तो जड़ है और यदि तुम ब्रह्मसे अलग हो तो तुम परिच्छिन्न हो! ऐसा यह वस्तुतन्त्र है ब्रह्मज्ञान कि मनुष्यकी बुद्धि उसे अदल-बदल नहीं सकती; क्योंकि सिद्धवस्तु (ब्रह्म) के सन्बन्धमें है।

•

(२. ११)

जन्माद्यधिकरण भाष्यका उपसंहार

ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्य-विचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न, इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मण इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणासम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्मात् जन्मादिसूत्रं नानुमानो-पन्यासार्थम्। किं तर्हि? वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

किं पुनस्तद् वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह विवक्षयिषितम्! 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युप-क्रम्याह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व' (तैत्ति० ३.१)। तस्य च निर्णयवाक्यम्–'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनदं प्रयन्ति अभि-संविशन्तीति' (तैत्ति० ३.६) अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि।

(इति जन्माद्यधिकरण भाष्यम्)

अर्थ—यदि शंका हो कि सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्म प्रमाणान्तरका विषय ही है और इससे वेदान्तवाक्योंके विचारकी निरर्थकता

प्राप्त होती है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियोंका अविषय है। अतः अन्य प्रमाणसे उसका जगत्‌रूप कार्यके साथ कारणताका सम्बन्ध ग्रहण नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ स्वभावसे ही विषय-विषयक हैं, ब्रह्म विषयक नहीं हैं! यदि ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय होता तो यह अपने कार्य-जगत्‌के साथ सम्बन्ध होकर गृहीत होता। परन्तु इन्द्रियोंसे तो कार्यमात्र (जगत् ही) गृहीत होता है। अतः यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वह ब्रह्मके साथ अथवा किसी अन्यके साथ (कारण रूपसे) सम्बद्ध है। इसलिए जन्मादि सूत्र अनुमानके उपन्यासके लिए नहीं है। फिर किसके लिए है? वेदान्तवाक्यके प्रदर्शनके लिए है।

वे कौन-से वेदान्तवाक्य हैं जिनका सूत्र द्वारा ब्रह्मके लक्षण-रूपसे यहाँ विचार करना इष्ट है? 'भृगुर्वै वारुणिः'०से उपक्रम करके कहते हैं—'यतो वा इमानि'० इस सामान्य कारणपरक श्रुतिवाक्यका निर्णयवाक्य यह है—'आनन्दाद्ध्येव'०। नित्य शुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव, सर्वज्ञस्वरूप कारण-ब्रह्मविषयक इस प्रकारके अन्य उपनिषद्‌वाक्य भी उदाहरणरूपसे देने चाहिए। ●

पञ्चदशीमें एक प्रश्न उठाया कि जब ब्रह्म सिद्धवस्तु है तो क्या ब्रह्मका घटवत् प्रत्यक्ष नहीं होता?

घटवत् किं न भासते?

और उत्तर दिया कि बिलकुल ऐसे ही होता है। स्थिति कुछ ऐसी ही है जैसे किसी बच्चेके सामने घट तो प्रत्यक्ष हो और उसने घट शब्द भी सुना हो, परन्तु उसे घट शब्द और घट पदार्थका सम्बन्ध ज्ञात न हो। अब बच्चेको किसीने कहा कि 'घट ले आओ।' बच्चा घट लायेगा? नहीं। घट तो सामने है अपरोक्ष परन्तु उसकी पहिचान न होनेसे, पद और पदार्थका सम्बन्ध ज्ञात न होनेसे, वह घट नहीं ला सकता। अब यदि कोई

उसे बता दे कि 'यह अपरोक्ष पदार्थ घट है' तो घटकी अज्ञातता दूर हो जायेगी और वह घट ले आयेगा। जहाँ वस्तु अपरोक्ष होती है परन्तु वह अज्ञात होती है तो वहाँ केवल वाक्यके द्वारा ही उस वस्तुका ज्ञान होता है, किसी अन्य प्रमाण जैसे प्रत्यक्ष अनुमानादिके द्वारा नहीं।

ठीक ऐसे ही, आत्मा सबको नित्य अपरोक्ष है और ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' है यह परोक्ष ज्ञान भी है! परन्तु यही अपरोक्ष आत्मा देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान ब्रह्म है, यह अज्ञात है। अतएव इस अज्ञातताके कारण सम्पूर्ण अनर्थोंके भाजन हम बने हुए हैं। जब श्रुति महावाक्य द्वारा इस आत्माको ब्रह्मरूपताका बोधन करती है तब अविद्याका नाश होकर सम्पूर्ण अनर्थ कट जाते हैं।

दूसरी शंका ब्रह्मको सिद्ध पदार्थ माननेमें यह है कि सिद्ध-वस्तु तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय होती है। अतः ब्रह्म भी इन प्रमाणोंका विषय होगा। और इसलिए प्रमाणान्तरका विषय होनेके कारण ब्रह्म केवल श्रुतिगम्य नहीं रह पायेगा, माने श्रुति ब्रह्मके विषयमें प्रमाण नहीं रह पायेगी, वह केवल अन्य प्रमाणोंका अनुवादमात्र रह जायेगी। इस प्रकार श्रुतिका अवमूल्यन हो जायेगा और ब्रह्मज्ञानके लिए श्रुतिवाक्योंका विचार निरर्थक सिद्ध होगा।

ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्त-वाक्यविचारणानार्थकैव प्राप्ता।

इस शंकाको उठाकर श्री शंकराचार्य भगवान् उसका समाधान करते हैं कि—

न, इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्।

'ऐसा नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियोंका अविषय है, अतः उसका

जगत्‌के साथ कारणताका जो सम्बन्ध है वह (श्रुतिके अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाणका विषय नहीं हो सकता।'

प्रमाण क्या ? प्रमाण माने तद्‌-विषयक वृत्तिजनकत्व ; अर्थात् जिस वस्तुको जानना चाहते हैं, उसको अन्तःकरणमें तदाकार-वृत्तिका जो जनक है वह प्रमाण कहलाता है। प्रमाण माने पोथी, मन्त्र, श्लोक नहीं होता। पोथी प्रमाण तो दूसरी पोथी-प्रमाणसे कट जायेगा। इसी प्रकार मन्त्र और श्लोक दूसरे मन्त्रों और श्लोकसे कट जाते हैं।

एक सज्जन हैं। उन्होंने कोई १५-२० किताबें लिखी हैं। उनमें उन्होंने लिखा है कि सब किताबें झूठी हैं। एक सभा जुड़ी। पूछा गया उनके भक्तोंसे कि किताबें सब झूठी हैं न ? हाँ कहनेपर उनकी वे १५-२० किताबें वहीं फाड़ दी गयीं। उनके भक्तोंने टोका—'इनकी किताब क्यों फाड़ते हो ? वह तो वेदशास्त्रकी किताबोंकी बात थी !' तो कहा—'पहले इनकी किताबें फाड़ दो फिर वेदशास्त्र भी फाड़ देंगे।'

विचित्र खोपड़ियाँ हैं दुनियांमें ! कहते हैं वेदान्त-विचारकी क्या आवश्यकता, हम अन्य प्रमाणसे ही ब्रह्मको जान लेंगे ! अरे भाई ! हमारे अन्तःकरणमें 'आत्मा और ब्रह्म एक हैं' यह बोधवृत्ति उदय होनी चाहिए, तब आत्माका ब्रह्मत्व प्रमाणित होगा ! अब अन्तःकरण है भीतर और रूप है बाहर। आंख रूपका भेद करती है कि यह लाल है अथवा काला है और सम्वेदन अन्तः-करणमें होता है। परन्तु अनन्तताका सम्वेदन कौन-सी इन्द्रिय करेगी; जबकि इन्द्रियाँ तो स्वभावसे ही परिच्छिन्न-विषयक होती हैं ? इसलिए ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण, इन्द्रिय या मन-बुद्धि नहीं होगी; बल्कि ब्रह्मात्मैक्य-विषयक वृत्तिजनकत्व जिसमें हो, वही होगा। और यह सामर्थ्य वाक्यमें ही हो सकता है।

यदि कहो कि हमें संस्कृत भाषा पसन्द नहीं है, तो ठीक है। वाक्य हिन्दीमें बोलो या फारसीमें या अंग्रेजीमें; भाषासे हमें कोई परहेज नहीं है। परन्तु उस वाक्यको सुनकर हमारे अन्तः-करण में इस प्रकारकी वृत्ति उदय होनी चाहिए कि 'जो निराकार, निर्विकार, एकरस, निर्विशेष, निर्धर्मक, अकाल, अदेश, अद्रव्य, सजातीय-विजातीय स्वगत-भेदसे रहित ब्रह्मतत्त्व है वह हमारा आत्मा है।' यही वृत्ति ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण है और इसलिए इस वृत्तिका जनक जो वेदान्तवाक्य है वह भी प्रमाण कहलाता है।

ब्रह्म वह वस्तु है जो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणकी वहाँ गम नहीं है। बोले—कोई बात नहीं, हम कार्य (जगत्) को देखकर कारण (ब्रह्म) का अनुमान कर लेंगे। तो कहा कि बेवकूफी होगी यह! कार्य जगत्‌को देखकर यह तो मालूम पड़ेगा कि इसका कोई कारण है; परन्तु वह कारण ब्रह्म है या शून्य, परमाणु है या प्रकृति, यह नहीं मालूम पड़ सकता। आत्म-चैतन्य ही इस जगत्‌का कारण है, यह अनुमान भी कैसे होगा? कार्य और कारणका सम्बन्ध इन्द्रिय-गृहीत नहीं है। अग्नि, धुँआ तथा अग्नि और धुंआका सम्बन्ध सब इन्द्रियोंके द्वारा पूर्व ज्ञात रहता है, इसलिए धुँएको देखकर अग्निका अनुमान होता है। परन्तु यहाँ तो केवल कार्य-जगत् ही इन्द्रिय-गृहीत है। ब्रह्म और उसका जगत्‌के साथ कार्य कारण सम्बन्ध इन्द्रिय-गृहीत नहीं है। अतः जगत्‌को देखकर कारण ब्रह्मका अनुमान भी नहीं होगा, केवल कल्पना होगी। इन्द्रियोंमें मन-बुद्धिका भी समावेश है।

जहाँ प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार होता है, वहाँ या तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है या मानसिक प्रत्यक्ष या बौद्धिक प्रत्यक्ष होता है। परन्तु सुषुप्ति दशामें न तो वृत्ति रहती है और न कोई इन्द्रिय,

न विषय। इसलिए वहाँ सुषुप्तिदशा साक्षी-प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष ही है और जिस साक्षीको सुषुप्ति प्रत्यक्ष है उसीको जाग्रदादि अन्य अवस्थाएँ भी प्रत्यक्ष हैं। चित्तकी चाहे कोई स्वाभाविक दशा जैसे जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति और चाहे कोई अभ्यासजन्य अवस्था हो, जैसे समाधि आदि और वह दशा ब्रह्मा, विष्णुकी भी क्यों न हो, वह सब साक्षी-प्रत्यक्ष है। क्योंकि जब सुषुप्ति ही साक्षी-प्रत्यक्ष है तब जो स्पन्दनात्मक, कार्यात्मक या वृत्त्यात्मक दशाएँ हैं, वे क्यों न होंगी। चित्तकी अवस्था चाहे एककी हो या अनेककी, चाहे चोरकी हो अथवा साधुकी; चाहे देवीकी हो या देवताकी, उसका जो साक्षी है वह उससे न्यारा होगा और चित्तके द्वारा उसका सम्बन्ध ग्रहण नहीं होगा। 'सम्बन्धाग्रहणात्।' क्योंकि अनन्त चित्तका विषय नहीं है, चेतन चित्तका विषय नहीं है, ज्ञान चित्तका विषय नहीं है।

आप कहते हैं 'चित्त मेरा,' परन्तु यह 'मैं' कौन है? इस चामकी पुड़ियामें बन्द इस चित्तको जो मेरा मानता है; वह शरीरको भी मैं मानता है। वह देहाभिमानी है। चित्त न आत्माका है, न ईश्वरका और न ब्रह्मका। वह तो कर्ता-भोक्ता-संसारी जीवका है। इसलिए जहाँ सत्यकी जिज्ञासा होती है वहाँ चित्तको मैं-मेरा मानकर नहीं होती। यह चित्त जीवका भी नहीं है; क्योंकि यदि तुम्हारा (-जीवका) है तो बताओ कि यह कहाँसे आया, इस समय क्यों है और एक क्षण बाद इसमें क्या स्फुरण होनेवाला है? यह चित्त तुम्हारा बिलकुल नहीं है और न यह तुम हो। कोरा अविवेकजन्य सम्बन्ध है यह! इसलिए चित्तकी अवस्थाओं, स्थितियोंके प्रति जो आस्था है, वह भी अविवेक-जन्य ही सिद्ध होती है। इनको लेकर तत्त्वजिज्ञासा नहीं होती।

एतेन योगः प्रत्युक्तः (ब्रह्मसूत्र २.१.३)

इससे योगके साधन और साध्य दोनों खण्डित हो गये। योग-साधन तो अन्तःकरणका शोधक होनेसे (वेदान्तमें) ग्राह्य है; परन्तु साध्य तो बिलकुल मिथ्या है। न तो कोई निर्विकल्प निर्बीज अवस्था होती है और न तो कोई द्रष्टाका निरोधमूलक स्वरूपमें अवस्थान होता है।

इसी प्रकार सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उपासना-दर्शन, सब-के-सब (साध्यत्वेन) मिथ्या है; कर्मकाण्ड-वादी वेद भी मिथ्या हैं और वृत्ति उत्पन्न करनेके बाद प्रतिपादक अंशमें उपनिषद् भी मिथ्या है (प्रतिपाद्य अंशमें उपनिषद् सत्य हैं)।

उपनिषद्-सिद्धान्त सच्चा; परन्तु उसका कथन करनेवाले उप-निषद् मिथ्या! अपने वाक्यको भी मिथ्या करनेवाला यह कौन-सा सिद्धान्त सृष्टिमें विद्यमान है! यह ब्रह्मविद्या है। किसी भी पुराण, कुरान, बाइबिल, अवेस्तामें इस प्रकारके मिथ्यात्वका सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया है। केवल आत्मा ब्रह्म है, यह सच्चा है, शेष सब मिथ्या है!

कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणासम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्मात् जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्।

केवल कार्यमात्र ही इन्द्रियोंसे गृहीत होता है, कारण गृहीत नहीं होता और इसलिए कार्य-कारण सम्बन्ध भी गृहीत नहीं होता। अतः यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि कार्य-जगत्का कारण ब्रह्म है अथवा कोई अन्य। इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र जो है वह जगत्रूपी कार्यसे किसी कारणरूप ब्रह्मका अनुमान करनेके लिए नहीं है।

'किं तर्हि ?' फिर वह किसलिए है ? तो कहा कि वेदान्तवाक्य

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' तथा अन्य ऐसे वाक्योंमें जो ब्रह्मकी कारणता श्रुति (अध्यारोपके लिए) बताती है उसके प्रदर्शनके लिए यह 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र है—'वेदान्तवाक्य-प्रदर्शनार्थम् ।'

प्रश्न—यदि जगत् और ब्रह्मका कार्य-कारण सम्बन्ध इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, श्रुति उसका वर्णन करती है तो वह कारणता है कहाँ ?

उत्तर—वह कारणता द्रष्टाकी दृष्टिसे भिन्न नहीं है। जो कार्यकारणात्मक दृष्टिसे उपलक्षित ब्रह्म है वही उसके अभावसे उपलक्षित ब्रह्म है। वह ब्रह्म, देश, काल, द्रव्यकी आख्यासे रहित है, देश, काल, द्रव्यकी प्रतीतिका निमित्त और उपादान होते हुए भी इनके सत्यत्वकी भ्रान्तिसे मुक्त है। वह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है। यही वेदान्तका प्रतिपाद्य है जिसको लखाकर गुरु और उपनिषद् मिथ्या हो जाते हैं और जिसको जानकर शिष्य भी मिथ्या हो जाते हैं। उस ब्रह्मतत्त्वको जानकर जितनी सृष्टि है वह और उसके जितने कारण हैं, प्रेरक हैं, वे सब मिथ्या हो जाते हैं। फिर अन्तःकरणको या उसकी किसी अवस्था-स्थितिको बनाये रखकर या बनाये रखनेका आग्रह लेकर तत्त्व-जिज्ञासा नहीं की जाती।

मोकलपुरके बाबा कहते थे—जो मैं सो मच्छर; जो मच्छर सो मैं। ब्रह्मज्ञानमें शरीर और अन्तःकरणका कोई मूल्य नहीं होता।

यह साधन-बाधनकी चर्चा वेदान्तका विषय नहीं है। परन्तु श्रोताओंमें सब तरहके लोग बैठे रहते हैं और किसीको भ्रान्त करना या साधनसे च्युत करना सत्संग या वेदान्त या हमारा कोई उद्देश्य नहीं है। वेदान्त तो साधनकी पूर्णता जहाँ होती है उस ज्ञानस्वरूप आत्म-ब्रह्मकी चर्चा करता है।

देखो, ब्रह्मत्वेन सब एक हैं और मिथ्यात्वेन भी सब एक हैं। इसलिए सब साधन ठीक हैं, अपनी-अपनी कक्षामें।

स्वामी स्वरूपानन्दजीने एक फक्कड़से पूछा—महाराज, साधन क्या है?

फक्कड़—साधन गधा है।

मोकलपुरके बाबा कहते थे—गुरु बिना किये तो यह सब इतना हो गया। अब कुछ करोगे तो यह बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं।

साधन करो, अवश्य करो और अपने-अपने सम्प्रदाय, गुरु शास्त्रके अनुसार करो। परन्तु वेदान्तको साधनसे सीमित मत करो। साधन-साध्य वेदान्त नहीं है। उस अद्वितीय आत्मतत्त्वको घेरेमें मत बांधो!

हमसे एक साधुने कहा—'हमको देवताने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा कि वेदान्त मिथ्या है।' मैंने कहा—तुम्हारा देवता और तुम और उसका कथन सब मिथ्या हैं। दृश्यमात्र मिथ्या है।

पञ्चदशीमें नाटकदीप प्रकरणमें बताया कि अन्तःकरणके दीयेमें वासनाके तेल और प्रारब्धकी वत्तीसे यह ज्ञानात्मक प्रकाशरूप जीवन प्रज्वलित हो रहा है। यह जीवन उन्नत हो, इसके लिए साधन करो; परन्तु वेदान्तको संकुचित मत करो।

उपनिषद् ब्रह्मविद्या है। बुद्धिका नाम विद्या नहीं होता। बुद्धि तो मनुष्यके भीतर रहती है। उस बुद्धिके संस्कारकी जो प्रक्रिया है उसको विद्या बोलते हैं। बुद्धिमें स्वाभाविक ही जड़ता रहती है जिसके स्वरूप हैं—मोहादि विकार। इस जड़ताको मिटानेके लिए (दोषापनयन) और उसे सत्योन्मुख करनेके लिए (गुणाधान) कुछ विद्याएँ होती हैं, जिनकी गिनती अपर विद्याओंमें होती है। परन्तु यह जो ब्रह्मविद्या है, वह अन्तःकरण,

अन्तःकरणका विषय (देश, काल, वस्तु) और अन्तःकरणका अभिमानी (विश्व-तैजस-प्राज्ञ या विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर) रूप जो व्यष्टि और समष्टिरूप त्रिपुटियाँ हैं, उनको उनके अधिष्ठान और प्रकाशककी एकताके ज्ञानसे भस्म करने (मिथ्या अनुभव कराने) का काम करती है।

ऐसी ब्रह्मविद्याको व्यक्तित्वके घेरेमें मत लाओ। व्यक्तित्व छोड़ना नहीं है क्योंकि छोड़नेवाला और छोड़ना दोनों व्यक्तित्व ही हैं। छोड़ना सांख्यसिद्धान्त है और छोड़कर स्थिर होना—यह योग-सिद्धान्त है। और छोड़कर जो स्थिर है उसको ईश्वरमें मिला देना, यह भक्ति-सिद्धान्त है। परन्तु त्याग, त्यक्त, त्यक्त-स्थिर, त्यक्त-स्थिरकी ईश्वरके साथ तन्मयता, ईश्वर और तन्मयताकी प्रक्रिया—ये सब जिस प्रत्यक् चैतन्याभिन्न वस्तुके ज्ञानसे मिथ्या हो जाते हैं, उस ज्ञानका नाम ब्रह्म-विचार है। इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' द्वारा सत्यका यथार्थ ज्ञान करानेके लिए प्रतिज्ञा है, न कि अन्तःकरणकी किसी स्थितिको बनानेके लिए। इसलिए वेदान्तका किसी भी दर्शनमें समावेश या समन्वय नहीं होता (अन्य सब दर्शनोंका समन्वय वेदान्तमें होता है)। समन्वय तो एक सामाजिक प्रक्रिया है जो उपस्थित विरोधके तनावको दूर करती है। परन्तु वेदान्त सत्य-वस्तुका यथार्थ ज्ञान है, यह कोई सामाजिक सम्मेलन नहीं है। वेदान्त कोई सम्प्रदाय भी नहीं है। वेदान्तके ज्ञानसे यह बात समझमें आती है कि अज्ञानकी किसी-न-किसी कक्षामें सब सम्प्रदाय, सब सिद्धान्त, सब साधन-साध्य, सब धर्म और व्यवहार यथास्थान स्थित हैं और ज्ञानकी दृष्टिसे सब या तो मिथ्या हैं या आत्मरूपसे सत्य हैं। इसलिए जिज्ञासुको छोटे-बड़ेके रागद्वेषके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए। उसे तो सत्यकी ओर ही उन्मुख होना चाहिए। •

(३. ०)

शास्त्रयोनित्वाधिकरण

शास्त्रयोनित्वात् (१.१.३.)

'शास्त्रका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है।

अथवा

ब्रह्म केवल शास्त्रयोनि है अर्थात् ब्रह्मके विषयमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है।"

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं, तदेव द्रढयन्नाह–शास्त्रयोनित्वात्। महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।

नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुष-विशेषात्सम्भवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यमनेक-शाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादि प्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुष-निश्वासवद्यस्मान् महतो भूताद्योनेः सम्भवः, 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृहदा० २.४.१०) इत्यादि श्रुतेः तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। (इति प्रथम वर्णकम्)

अथवा यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्? यावता पूर्वसूत्र एवैवं जातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्र-योनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्।

उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति॥३॥

अर्थ—जगत्कारणत्वदर्शन करनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह अर्थतः प्राप्त हुआ। उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं—'शास्त्रयोनित्वात्'।

अनेक विद्यास्थानोंसे उपकृतदीपकके समान सब अर्थोंका प्रकाशन करनेमें समर्थ और सर्वज्ञके समान महान् ऋग्वेदादि शास्त्रका योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादिरूप सर्वगुण-सम्पन्न शास्त्रकी उत्पत्ति सर्वज्ञको छोड़कर किसी अन्यसे नहीं है। जो-जो विस्तारार्थ शास्त्र जिस पुरुष-विशेषमें विरचित हैं—

जैसे पाणिनि आदिके ज्ञयका एक अंशरूप अर्थसे युक्त व्याकरण आदि शास्त्र है, वह पुरुषविशेष उस स्वविरचित शास्त्रसे अधिक ज्ञानवान् होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। तो अनेक शाखाभेदसे भिन्न-भिन्न देव, मनुष्य, पशु वर्ण, आश्रम आदि विभागोंके जो हेतु हैं और सर्वज्ञानके भण्डार हैं, ऐसे ऋग्वेदादि नामक वेदोंकी अनायास ही लीलान्यायसे पुरुष-निःश्वासकी तरह जिस महान् सद्रूप कारणसे उत्पत्ति होती है, क्योंकि 'अस्य महतो०' इत्यादि श्रुति हैं, उस महान् सद्रूप ब्रह्मके निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्वके विषयमें तो कहना ही क्या है। यह 'शास्त्र-योनित्वात्' सूत्रका पहला अर्थ है।

अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र इस ब्रह्मके यथार्थस्वरूपके ज्ञानमें योनि अर्थात् प्रमाण हैं (यह 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्रका दूसरा अर्थ है)। शास्त्र-प्रमाणसे ही यह ज्ञात होता है कि जगत्के जन्मादिका कारण ब्रह्म है, यह अभिप्राय है। पूर्वसूत्रमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इत्यादि शास्त्र उद्धृत हैं। (शंका-) जब पूर्वसूत्रमें ही इस प्रकार शास्त्रका उदाहरण देते हुए सूत्रकारने 'ब्रह्म शास्त्र-योनि है' ऐसा दिखला दिया है तो फिर इस सूत्रका क्या प्रयोजन है ? उत्तर यह कि पूर्वसूत्रके अक्षरोंसे शास्त्रका स्पष्ट ग्रहण नहीं किया गया। इसलिए जगत्के जन्मादिका केवल अनुमानरूपसे उपन्यास किया है, कोई ऐसी शंका करे तो उस शंकाकी निवृत्तिके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

•

(३. १)

पूर्वसूत्रोंके साथ सम्बन्ध

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्, तत्तु समन्वयात्—यह वेदान्तदर्शनकी चतुःसूत्री कहलाती है। वेदान्तके विषयमें चार-चारका प्रसंग बहुत है। ब्रह्म चतुष्पाद है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। ब्रह्मसूत्रके चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें चार-चार पाद हैं। सारे ब्रह्मसूत्रका सार-अर्थ इन्हीं चार सूत्रोंमें आ-गया है। यह महर्षि बादरायणका रचना-कौशल ही है।

प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'में बताया गया कि जीवनमें विवेक होना आवश्यक है। अच्छे-बुरेका विवेक दूसरी चीज है। क्या कर्म (करणीय) है क्या अकर्म (अकरणीय) है, इसमें जैसे-जैसे उम्र और अनुभव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे यह विवेक-वृद्धि भी बढ़ती जाती है। धर्मके सम्बन्धमें भी ऐसा ही है। जो जितना समझता है उसके लिए उतना ही ठीक है। परन्तु वस्तु-विषयक ज्ञान वस्तु-निष्ठ होता है। इसलिए जबतक वस्तु जैसी है उसका वैसा ही ज्ञान न हो जाय तबतक चाहे कोई कुछ भी करे, कहे, समझे, सब अज्ञान ही रहता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान और (धर्माधर्मका ज्ञान) भी भौगोलिक दृष्टिसे अथवा साम्प्रदायिक दृष्टिसे अथवा जातीय या व्यक्तिगत दृष्टिसे अलग-अलग हो जाता है, परन्तु वस्तुका ज्ञान एक ही रहता है। बल्कि उस ज्ञानमें अलगाव ही अज्ञान है। इसलिए प्रथम सच्ची वस्तु क्या है और झूठी वस्तु क्या है—इसका विवेक किया जाना चाहिए। कालकी दृष्टिसे नित्य क्या है, अनित्य क्या है; देशकी दृष्टिसे पूर्ण क्या है,

अपूर्ण क्या है, वस्तुकी दृष्टिसे 'अहम्' क्या है, इदं क्या है ?—इन तीनों प्रकारके विवेकका उदय होना चाहिए।

विवेकके उदयका लक्षण है—वैराग्य। अनित्य, अपूर्ण और 'इदम्'में अरुचि—यही वैराग्य है। यह विवेकके परिणामस्वरूप जीवनमें प्रवेश करता है। जो लोग वेदान्त पढ़कर यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि व्यापारमें चाहे जितना पाप कर लो, पाप नहीं लगेगा, वे लोग तो वेदान्तके अधिकारी ही नहीं हैं। वेदान्त उस अधिकारीके लिए है जो अनित्य, अपूर्ण और 'इदम्'को छोड़कर नित्य, पूर्ण और 'अहम्'में रुचि रखनेवाला है। बिना विवेकके ऐसा हो नहीं सकता। इसलिए प्रथम कक्षा विवेककी है और दूसरी वैराग्यकी।

जब वैराग्य आता है तो छह बातें अपने आप जीवनमें आती हैं, इनको 'षट्सम्पत्ति' बोलते हैं। ये परमार्थ-पथिककी पूँजी हैं। ये हैं शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। परन्तु ये हमेशा रहतीं नहीं। इसलिए तब यह इच्छा होती है कि इस चित्तसे ही हमको मुक्ति मिल जाय—यह मुमुक्षा है। (इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षासे सम्पन्न अधिकारी यह अथ-पदका अर्थ है)।

तब क्या करनेसे चित्तसे मुक्ति मिलेगी—यह एक पक्ष है। किस देवताकी उपासना करनेसे चित्तसे मुक्ति मिलेगी ? यह दूसरा पक्ष है। कहाँ बैठनेसे चित्तसे मुक्ति मिलेगी ? यह तीसरा पक्ष है। करना कर्म है, देवताकी आराधना उपासना है, बैठना योग है। इनमें कुछ करनेसे या उपासनासे या योगसे किसीसे भी चित्त नहीं छूटेगा; क्योंकि ये सब चित्तके ही आश्रित [illegible] हैं।

हाथसे अनात्मपदार्थको पकड़े रखना भी चाहते हो और मुक्ति भी चाहते हो! इसमें हाथसे और कर्तृत्वसे मुक्ति कहाँ मिलेगी ?

चित्तको देवताकार भी रखना चाहते हो और चित्तसे मुक्ति भी चाहते हो ! इसमें देवता कहाँसे छूटेगा ? शान्तिसे बैठे रहना भी चाहते हो और चित्तसे मुक्ति भी चाहते हो ! इसमें अज्ञान कहाँसे छूटेगा ?

यह समझमें आ जाना कि बिना तत्त्वज्ञानके मुक्ति नहीं हो सकती, यही 'अतः' पदका अर्थ है।

इसके पश्चात् ही अनन्तकी जिज्ञासा चित्तमें उदय होती है। इसीको ब्रह्मजिज्ञासा बोलते हैं। ब्रह्म शब्दका अर्थ होता है—

परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षिततत्वम् ब्रह्मत्वम् ।

देश, काल, द्रव्य, जीव-अजीव, प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष वस्तुओंके जितने भी छोटे-छोटे टुकड़े हैं, सब परिच्छेद-सामान्य हैं। इन परिच्छेद-सामान्यके अत्यन्त-अभावसे उपलक्षित (उस अभावका प्रकाशक एवं अधिष्ठान) जो चेतनतत्त्व है उसको ब्रह्म कहते है। यही जिज्ञास्य है।

यह जिज्ञास्य ब्रह्म यदि प्रत्यक्-चैतन्यसे अभिन्न है तब तो पूर्ण है और यदि भिन्न है तो दोनों ही अधूरे हैं, कोई पूर्ण नहीं है। मान लो कि दोनों ही पूर्ण हैं तो किसको रखोगे ? आत्माको (अपने आपेको) या ब्रह्मको (अन्यको)। अन्यको रखोगे तो वह आत्माके बिना मालूम ही नहीं पड़ेगा और अपना अभाव तुम सोच नहीं सकते, क्योंकि अभाव सोचनेवाला ही अपना आपा है। इसलिए अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान होनेपर अपना आपा ही अद्वितीय सिद्ध होता है। जबतक अपना आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म नहीं होगा तबतक अद्वितीयता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार संक्षेपमें यह 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'का भावार्थ हुआ।

अब कहा कि ठीक है अपना आत्मा ब्रह्म है। परन्तु यह जगत्

क्या है? यह तो कुछ सिद्ध नहीं हुआ न! इसपर कहा कि 'जन्माद्यस्य यतः'।

जहाँ आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न समझनेकी जरूरत है वहाँ जगत् भी ब्रह्मसे अलग नहीं है, यह भी समझनेकी जरूरत है। अगर दुनिया ब्रह्मसे अलग है, तो ब्रह्म अद्वितीय कैसे? और यदि जीव ब्रह्मसे अलग है तो ब्रह्म अद्वितीय कैसे? इसमें गणित यह है कि आत्मासे प्रपञ्च जुदा नहीं है और ब्रह्मसे प्रपञ्च जुदा नहीं है, अतः आत्मासे ब्रह्म जुदा नहीं है। आत्मा ही प्रपञ्च, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वरके रूपमें प्रतीत हो रहा है। ज्ञानस्वरूपकी ही प्रतीति हो रही है—सर्वके रूपमें!

यह अखण्ड आत्मबोध है। न यह आधिभौतिक शयन बनाम निद्रा है, न आधिदैविक शयन बनाम तल्लीनता है और न आध्यात्मिक शयन बनाम समाधि है! इसमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिकका भेद नहीं है। यह तो ज्ञानका एक समुद्र है जिसमें प्रतीतिकी लहरें हिलोरें मारती रहती हैं; परन्तु अधिष्ठान जल-रूप ज्ञानसे कभी अलग नहीं होतीं।

'जन्माद्यस्य यतः'। यह दुनिया परमात्मासे बिलकुल जुदा नहीं है। परन्तु समझानेकी प्रक्रिया यह है कि पहले ब्रह्मको दुनियासे अलग बताया जाता है और फिर दुनिया ब्रह्मसे अलग नहीं है—यह समझाया जाता है। जैसे सोनेको पहचाननेके लिए पहिले उसे नाम-रूपसे अलग बताया जाता है कि जेवरसे सोना अलग है। तदुपरान्त यह बात समझमें आ जाती है कि सब जेवरोंके नाम-रूप सोनामें ही कल्पित है। जेवरसे न्यारा सोना है, परन्तु सोनासे न्यारा जेवर नहीं है।

जो कार्यसे पृथक् करके परब्रह्म परमात्माको पहचान लेता है

वही फिर पहचान पाता है कि परब्रह्म परमात्मासे पृथक् जगत् नहीं है।

तो 'यह' के रूपमें (इदं रूपसे तथा इदं सम्बन्धित अहम् रूपसे) जो प्रतीत होता है अथवा अनुभव होता है अथवा स्फुरित होता है, वह है जगत्। इस जगत्का (अस्य) जन्म, इस जगत्की स्थिति, इस जगत्का लय (जन्मादि) जिससे होता है (यतः) वह है ब्रह्म। 'जन्माद्यस्य यतः'।

यह सृष्टि आत्मासे हुई या ईश्वरसे ? प्रकाशकी दृष्टिसे आत्मासे और उत्पत्तिकी दृष्टिसे ईश्वरसे। तो जगत्के दो कारण हुए—उपादान कारण ईश्वर और प्रकाशक (निमित्त) कारण आत्मा ? कौषीतकी उपनिषद्में बताया है कि जैसे सुषुप्तिकालमें सृष्टि आत्मामें लीन हो जाती है, वैसे ही प्रलयकालमें सृष्टि ईश्वरमें लीन हो जाती है। परन्तु इस समय इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों सहित सो जाती हैं, उस समम सुषुप्ति और प्रलयका भेद किसने देखा है ? इसलिए जो सुषुप्ति-उपाधिक आत्मा है वही प्रलयोपाधिक आत्मा है। अतः इन्द्रियोंके सो जानेपर जो ईश्वर चैतन्य समष्टिमें शेष रहता है वही आत्म चैतन्यके रूपमें व्यष्टिमें शेष रहता है। अतएव आत्म-चैतन्य और ईश्वर-चैतन्य दोनों अलग-अलग वस्तुएं नहीं हैं, दोनों एक हैं।

'सृष्टि 'इदं'रूप है, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयवाली है। जो सृष्टिका कारण है ('यतः') वह 'अनिदम्' है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयवाला नहीं है। यह 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रसे बात निकलती है। अच्छा, यह कारण 'सः' है या 'अहम्' है ? तो बोले कि 'सः' भी 'इदम्' रूपसे ही वृत्तिमें प्रतीत होता है; वह भी जात-अजात होता है। परन्तु आत्मदेव तो ज्यों-के-त्यों असंग ही रहते हैं। इसलिए ईश्वर भी आत्मदेवसे भिन्न नहीं हो सकते। इसलिए जब 'जन्माद्यस्य

यतः' बोलते हैं तो सृष्टिके अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके रूपमें ही परमात्माका वर्णन करते हैं। माने सृष्टि बनानेवाला भी वही और बननेवाला भी वही। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह दो रूपवाला है। 'बनानेवाला है'का अर्थ है कि वह सर्वज्ञ है और 'बननेवाला है'का अर्थ है कि उसमें सर्वभुवनसामर्थ्य है अर्थात् वह सर्वशक्ति है।

इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः'में जो 'यत्' है वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है। कहो कि इसमें तो विरोध होगा, क्योंकि शक्ति बदलनेवाली चीज होती है और ज्ञान न बदलनेवाला होता है। तो इसका समाधान यह है कि 'ज्ञान' तो ब्रह्मका स्वरूप है और शक्ति विवर्त है। इसलिए ब्रह्म विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है सृष्टिका। ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है और प्रपञ्च उसमें प्रतीतिमात्र है।

इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः'से ब्रह्मको जगत्के कारणके रूपमें निरूपण किया गया और उस निरूपणसे ब्रह्म सर्वज्ञ है यह अर्थतः प्राप्त भी हो गया, तथापि ब्रह्मको सर्वज्ञताका स्पष्ट निरूपण नहीं हुआ। अतः अपने मुखसे ही ब्रह्मकी सर्वज्ञताका निरूपण करनेके लिए अगला सूत्र प्रारम्भ होता है—

शास्त्रयोनित्वात् (१.१.३)

संस्कृत-भाषामें सूत्रप्रणाली होनेसे थोड़े-से-थोड़े शब्दोंमें अधिकसे-अधिक बात कह दी जाती है। ऐसी दूसरी किसी भाषामें नहीं है। हम तो खैर सब भाषाएँ नहीं जानते। परन्तु स्वामी भारतीकृष्ण तीर्थजी महाराज जो पुरीके शंकराचार्य भी थे, वे कोई १५-२० भाषाएँ जानते थे और सुनते हैं उन्होंने उन भाषाओंमें परीक्षा भी दी थी। बाइबिल तो उनकी जुबानपर रहती थी। वे बताते थे कि सूत्रप्रणाली संस्कृत भाषाकी ही विशेषता है।

सब भाषाएँ शब्दको 'अर्थ-संकेतयुक्त' मानती हैं। अर्थ पहले रहता है फिर शब्द होता है, यह चार्वाकोंकी मान्यता है। पहले (हृदयमें संकल्पपूर्वक) शब्द रहता है, बादमें उसका अर्थ होता है—यह वैयाकरणोंका मत है। शब्द और अर्थकी उत्पत्ति एक साथ होती है—ऐसा मीमांसक लोग कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनों व्यावहारिक ही हैं—ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। दोनों संविद् हैं—यह शैव-सम्प्रदाय है। शब्द और अर्थ दोनों ब्रह्मके विवर्त हैं—यह वेदान्त-सिद्धान्त है।

शब्दोंकी भी अपनी एक विधा है और उसका ज्ञान होना बहुत आवश्यक है, खासकर सूत्रोंका अर्थ करनेमें। 'अर्थ अमित अति आखर थोरे।' भगवान् शङ्कराचार्यजीने इस सूत्रके दो अर्थ किये हैं—(१) ब्रह्म शास्त्रोंकी योनि अर्थात् कारण है, अतः ब्रह्मसर्वज्ञ है। दूसरा (२) शास्त्र ब्रह्मके विषयमें योनि अर्थात् प्रमाण है।

इन अर्थोंकी व्याख्या तो आपको आगे सुनायेंगे ही। परन्तु हम आपको यह बताना चाहते हैं कि आजकल जो वेदान्त कहानी-किस्से, छन्द, गजलके रूपमें सुना या सुनाया जाता है उससे वेदान्त कुछ पल्ले नहीं पड़ता। इन वेदान्तवादियोंके अन्तः-करणके एक कोनेमें द्वैत पड़ा रहता है, आसक्ति पड़ी रहती है, और दूसरे कोनेमें अद्वैत भी पड़ा रहता है। जो अन्तःकरणसे खेलते हैं, वे वेदान्तकी छाया भी नहीं छूते। वेदान्त वह चीज है जिससे समस्त व्यक्तित्वका बाध होता है। इसके विपरीत धर्म, उपासना और योग सब व्यक्तित्वकी फुरना हैं। ये सब अव्यक्तमें लीन रहते हैं और अव्यक्त स्वयं परब्रह्म परमात्मामें एक फुरना-मात्र है, प्रतीतिमात्र है। अव्यक्त नामकी कोई वस्तु ब्रह्ममें नहीं है।

यह जो परमात्मा है वह आनन्द होनेसे प्रत्यगात्मा है और ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रत्यगात्मा है। सबके मिट जानेपर भी अपना आपा नहीं मिटता। अपने अभावकी प्रतीति कभी किसीको नहीं हो सकती। सारे जगत्की प्रतीति अपने-आपमें ही होती है। जगत्के उपादानकी और उसके निमित्तकी दोनोंकी प्रतीति अपनेमें ही होती है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी प्रतीति अपने आपमें होती है और उनके कारण ईश्वरकी भी प्रतीति अपने-आपमें होती है। यहाँतक कि यदि ब्रह्म भी अन्य हो तो उसकी प्रतीति भी अपने आपमें ही होगी। इसलिए देश, काल, वस्तुका परिच्छेद हुए बिना ही अपना जो स्वरूप है वह अखण्ड, अविनाशी और अद्वय है। अखण्ड अर्थात् देश-परिच्छेदसे रहित, अविनाशी अर्थात् काल-परिच्छेदसे रहित और अद्वय अर्थात् वस्तु-परिच्छेदसे रहित।

जो ज्ञान व्यक्तिके अधीन होता है वह स्वरूप नहीं है। अनुवादक ज्ञान भी स्वरूप नहीं है। अनुवादक ज्ञान क्या? आँखसे जैसा घड़ा दीखा वैसा बुद्धिमें स्वीकृत हो गया। उसका वैसा ही वर्णन कर दिया। यह अनुवादक ज्ञान इन्द्रिय-परतन्त्र है। परन्तु आत्माकी ब्रह्मताका जो ज्ञान है (स्वरूप-ज्ञान) वह पहलेसे जाने हुएका ज्ञान नहीं है। जो सबको जानकर स्वयं अनजान रह जाता है यह तो वह ज्ञान है। इसमें इन्द्रिय, मन या बुद्धि कोई काम नहीं देती। यह तो जिन्होंने अपने जीवन इस विषयके अनुसन्धानमें समर्पित कर दिये, उन महापुरुषोंके द्वारा ही जाना जा सकता है। कोई खालाजीका घर नहीं है ब्रह्मज्ञान!

यह बात पहले कह चुके हैं कि 'जन्माद्यस्य यतः'में कार्यसे कारणका अनुमान नहीं है। यह दृश्यमान जगत् किसीसे बना,

यह किञ्चित् अनुमान तो जगत्को देखकर हो सकता है; परन्तु ब्रह्म ही कारण है यह अनुमान नहीं हो सकता। क्योंकि अनुमानके लिए व्याप्तिग्रह भी होना चाहिए। आपको क्या बतावें कार्य-कारणकी दुर्दशा! जिसने कभी माटीसे घड़ा बनते देखा ही नहीं है या जिसको ऐसा समझाया नहीं गया है, वह माटीको देखकर कभी सोच ही नहीं सकता कि इससे घड़ा बन सकता है और घड़ेको देखकर यह नहीं सोच सकता कि वह मिट्टीसे बना है। यह कार्य-कारणका सम्बन्ध जब पहलेसे देखा होता है तभी अनुभव होता है।

तो यदि यथाकथञ्चित् 'तुष्यतु दुर्जनन्याय'से यह मान भी लें कि जगत् कार्य है और किसीसे पैदा हुआ है तो ब्रह्मसे ही पैदा हुआ है यह बात कैसे मालूम पड़ेगी? उन लोगोंको छोड़ दो जो ब्रह्मसूत्र और गीता फाड़ देनेकी बात करते हैं और अपनी लिखी हुई किताबोंको रखना चाहते हैं। (और मजा यह है कि उनकी किताबोंमें भी ऐसी कोई मौलिक बात नहीं है जो पहलेसे हमारे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र या गीतामें न कही गयी हो। वह तो चेला बनानेका एक स्टण्ट है उनका)।

ब्रह्मके साथ जगत्का कार्य-कारण सम्बन्ध है यह बात इन्द्रिय-गम्य नहीं है और अनुमान भी नहीं है। यह बात केवल शास्त्रसे ही जानी जाती है। उसी शास्त्रसे ब्रह्मका ज्ञान होना शक्य है और उस शास्त्रका कारण स्वयं ब्रह्म है। इससे ब्रह्म सर्वज्ञ है। शास्त्रयोनित्वात्।

•

(३. २)

ज्ञान-बीज ईश्वर

जीव बन्धनसे जकड़ा हुआ है। कर्ममें बन्धन है पाप-पुण्यका। भोगमें बन्धन है सुख-दुःखका। प्रेममें बन्धन है संयोग-वियोगका। सृष्टिमें चारों ओर भय, बन्धन और परतन्त्रता ही नजर आते हैं। तब भयसे, बन्धनसे, पराधीनतासे मुक्ति कैसे हो, यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। 'श्रुति पुरान बहु कहे उपाई,' परन्तु कोई काम नहीं बना पाता। यदि कदाचित् अपना आपा ही ब्रह्म निकल आवे तो सब समस्याएँ हल हो सकती हैं। ब्रह्मज्ञानका यही प्रयोजन है।

अपनेको ब्रह्म समझना बहुत आवश्यक है। जबतक आप अपनेको शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि या अहंकार समझते रहोगे अर्थात् जबतक आप अपनेको परिच्छिन्न समझते रहोगे, तबतक इनके बन्धनोंसे मुक्ति नहीं मिल सकती। आपकी समूची पराधीनता मिटानेके लिए ब्रह्मज्ञान है।

सत्यको जाने बिना जो लोग जी रहे हैं वे तो पशुका जीवन जी रहे हैं! मुसलमानोंके घरोंमें जैसे बकरे बँधे रहते हैं और खा-खाकर मोटे होते रहते हैं; परन्तु उन्हें यह पता नहीं रहता कि वही उसका खिलानेवाला प्रिय कसाई उसको एक दिन मारनेवाला है। इसी प्रकार मनुष्य काल-चक्रमें सुखसे जी रहा है। न उसे यह मालूम है कि कहाँसे आया है। और न यह मालूम है कि कहाँ जायेगा। वह स्वयं क्या है, यह जाननेकी कभी कोशिश नहीं की उसने। अन्धकारकी गुफामें बन्द, प्राप्त सुखके भोगमें मस्त! कभी भैरवजीके पास जाकर कहता है कि भैरवजी, हमें दुःखसे छुड़ा दो, कभी ज्योतिषियोंसे भविष्य मालूम करवाता है, कभी प्लेन्चेटके प्रेतकी शरण लेता है। ये जो अज्ञानान्धकारमें जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वे अत्यन्त दयाके पात्र हैं।

जन्म-मरण अपनी सत्ताके विपरीत हैं, अज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपके विपरीत है और दुःखी होना अपनी आनन्दस्वरूपताके विपरीत है। हम जो हैं (सच्चिदानन्द अद्वय) अनेक विपरीत जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जैसे डाकू लोग करोड़पति सेठको पकड़कर जंगलमें किसी अँधेरी कोठरीमें बन्द कर दें, वैसे ही स्थिति मनुष्यकी है। अतः आओ, अपने ब्रह्मस्वरूपको जानें और सम्पूर्ण बन्धनोंसे—जन्म-मरणसे, अज्ञानसे, दुःखसे, आवागमनसे और परिच्छिन्नत्वसे—मुक्त हो जायें। यह जीवनका परम पुरुषार्थ

है। नहीं तो 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बने बैठे रहो कि हम बड़े सुखी हैं, चाहे वैसे कोई चार गाली देदे तो दुःखके समुद्रमें डूब जायेंगे।

ब्रह्म अर्थात् ऐसा पदार्थ जिसमें कोई खण्ड न हो, जिसपर अविनाशी कालकी भी दाल न गले, जो परिपूर्ण हो (अर्थात् जिसमें हिन्दू-मुसलमान, मैसूरी-मराठी, पशु-पक्षी-मनुष्य इत्यादि, का भेद न हो), जो सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्दमात्र हो और जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न हो। ऐसे ब्रह्मकी जिज्ञासा हमें इष्ट है। यह कोई बच्चोंका खिलौना नहीं है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।'

जिज्ञासा माने इच्छा नहीं होता। क्योंकि इच्छा कर्तृतन्त्र नहीं है। इच्छा कर्ताके अधीन नहीं होती। वह जब उदय हो जाती है तब तो ज्ञात होती है। इसीलिए पाप करनेसे या समर्थन करनेसे पाप लगता है, पाप इच्छासे पाप नहीं लगता; क्योंकि इच्छाका उदय मनुष्यके हाथमें नहीं है। विचार क्योंकि कर्ताके अधीन है (कर्तृतन्त्र है)। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासाका अर्थ है ब्रह्मका विचार। आइये ब्रह्मका विचार करें!

ब्रह्मका क्या लक्षण है? पहचान बताओ? अपने-अपने ढंगसे सब बोलते हैं। नास्तिकोंमें जैन और आस्तिकोंमें योगी लोग 'त्वंप्रधान'-लक्षण 'असंगता' करते हैं और बौद्ध लोग 'त्वं'-पदार्थका भी निषेध करते हैं और शून्यताप्रधान लक्षण करते हैं। योगियोंमें आस्तिक-वर्ग ईश्वरप्रणिधानपूर्वक आत्माकी असंगताको लक्षण बताते हैं। जैनी लोग साधनसे असंगताका और सांख्यवादी विवेकसे असंगताका प्रतिपादन करते हैं। परन्तु ब्रह्मका यह वेदान्तोक्त लक्षण नहीं है। आजकल तो सभी लोग अपनेको वेदान्ती कहते हैं—शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य। परन्तु सब अद्वैत वेदान्तका विरोध करते हैं। 'ब्रह्म है', 'ब्रह्म साक्षी है',

'ब्रह्म आनन्द है' ये सब अधूरे लक्षण हैं। असली लक्षण ब्रह्मका यह है कि ब्रह्म प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न है, देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है और अद्वय है।

अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए यह जो नानात्मक प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है, उससे उसका सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। ब्रह्म अद्वितीय है तो यह प्रपञ्च क्या है? असलमें कहना यह है कि प्रतीत प्रपञ्च ब्रह्मसे अलग नहीं है या कि आत्मासे अलग नहीं है; परन्तु तब जब कि आत्मा और ब्रह्मकी एकताको समझ लो। इस एकत्वकी सिद्धिके लिए दो विभाग करते हैं विचारका प्रपञ्चका कारण कौन? प्रपञ्चका प्रकाशक कौन? असलमे जादूगरके जादूकी तरह प्रपञ्चकी प्रतीति होती है।

१९३६–३७की बात होगी। पॉल ब्रन्टन नामका एक पत्रकार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास आया था। वह चमत्कार-प्रेमी था, चमत्कार देखता फिरता था। बाबासे उसने कहा कि कोई चमत्कार दिखाइये। अब महात्मा लोग तो चमत्कारोंको नीचा ही समझते हैं। अतएव वे बोले—'पानीकी एक बूँदसे इतना बड़ा शरीर निकला और वह हँसता, खेलता, बोलता है, नाचता-गाता है, बच्चे पैदाकर मर जाता है और फिर पानीकी बूँदमें ही मिल जाता है। यदि यह जादू नहीं मालूम पड़ता तो किसी और जादूको क्या जादू समझेगा?

प्रपञ्च अर्थात् पाँच जादूके हथकण्डे जो हमारे पास हैं—ये ज्ञानेन्द्रियाँ, उनसे अनुभूत जो सत्ता है, वही प्रपञ्च है। एक ही सत्ताको ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच प्रकारसे दिखाती हैं। कान शब्दरूपमें त्वचा स्पर्शरूपमें, नेत्र रूपके रूपमें, जिह्वा रसरूपमें, नाक गन्ध-रूपमें। वह जादूगर कौन है जिसने एकको पाँच बताया? तो कहा कि जादूगर है तो; परन्तु जादूके खेलसे न्यारा है। 'जन्मा-

द्यस्य यतः'। जगत्‌के जन्मादिका खेल जिस जादूगरके द्वारा हो रहा है, वह ब्रह्म है। अधिष्ठानके पर्देपर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके कोटि-कोटि जीव और अधिपति, उनके अलग-अलग देश, काल और वस्तु जो दिखायी पड़ रहे हैं, वह अधिष्ठान कौन है? और उस दृश्यका प्रकाशक कौन है? वह कौन है जो जादू दिखाता है; परन्तु जादूके खेलकी तरह आता-जाता नहीं है, जो ज्ञानी-अज्ञानी बनकर बैठता नहीं, जो सुखी-दुःखी बनकर बैठता नहीं? जो दीखता है, वह सब तो ढोंग है! सुखी-दुःखी होना ढोंग है, ज्ञानी-अज्ञानी बनना ढोंग है, मरना भी ढोंग है और अजर-अमर होना भी ढोंग है। इन ढोंगोंको दिखाता हुआ जो इनके भीतर है, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा, असलमें उसको पहचानना है। जो जन्म-मृत्यु, दृश्यता, सुख-दुःख, राग-द्वेष, संयोग-वियोगवाला है वह प्रपञ्च है और जो इन वाला नहीं है, वह अद्वय पदार्थ ब्रह्म है। 'जन्माद्यस्य यतः'में वही यत् है।

एति इति यत्। ऐति सर्वरूपेण अवभासते इति यत्। स जन्मवन्नभवति स्थितिमन्नभवति भङ्गवन्नवति। तर्हि किं भवति? अनिदं भवति इदंताक्रान्तं न भवति। वाङ्मनसागोचरं भवति।

यदि वह जन्म-स्थिति-भंगवत् नहीं होता, इदन्ताक्रान्त नहीं होता और मन-वाणीका विषय नही बनता तो फिर वह जगत्‌का कारण है और जगत् उसका कार्य है, यह कैसे मालूम हुआ? जब-तक सृष्टि सच्ची मालूम पड़ती है तबतक ब्रह्मका ऐसा ही (कार्य-कारण) सम्बन्ध जोड़ते हैं कि जगत् ब्रह्मसे ही पैदा हुआ है। परन्तु यह पैदा होना कैसा है? सपनेमें एक पैंतीस वर्षका आदमी आया उसका नाम था लोकूराम। उसके साथ उसका पाँच वर्षका बेटा भी आया—प्रपंचूराम नाम था उसका। लोगोंने कहा कि बाप-

बेटा आये। बापने भी और बेटेने भी उसकी स्वीकृति दी। परस्पर बाप-बेटा पक्के हो गये! परन्तु जरा सोचो। वे दोनों एक ही क्षणमें पैदा हुए, एक ही गर्भाशय (अन्तःकरण)में पैदा हुए, एक ही बीज वासनासे, एक ही उपादानसे दोनों पैदा हुए। फिर उनका बाप-बेटाका सम्बन्ध कैसा? (कुछ ऐसा ही है ब्रह्म और जगत्‌में कारण-कार्यका सम्बन्ध)।

इसलिए ब्रह्मकी पहचान क्या? कूटस्थ वह मूल पर्दा है और उसपर यह सब दृश्य जगत् आता-जाता रहता है। ब्रह्म यदि जड़ पदार्थ होता तो वह बीजात्मक हो सकता था; परन्तु चेतन होनेसे उसमें बीजात्मकता नहीं हो सकती। तो बीज उसकी उपाधिमें होगा? हाँ बीज उपाधिमें ही होना चाहिए। उपाधि माने यही होता है कि जो किसीके पास रहकरके अपने गुणको उसमें प्रदर्शित करे, वह उपाधि कहलाती है। उपाधिका कार्य है कि दूसरेमें कोई चीज है और दूसरेमें मालूम पड़ती है। असलमें सत्‌में भी बीज नहीं हो सकता, चेतनमें भी नहीं हो सकता और आनन्दमें भी बीज नहीं हो सकता। ज्ञानमें वृत्त्यात्मक भेद, सत्‌में आकृत्यात्मक भेद और आनन्दमें विषयगत भेद है, वह सब अन्तःकरणकी और इन्द्रियोंकी उपाधिके कारण है। सत्ता अद्वैत है, चित् अद्वैत है और आनन्द भी अद्वैत है। और अद्वैत + अद्वैत + अद्वैत = अद्वैत ही रहता है। अद्वैतमें जोड़-घटाना, गुणा-भाग नहीं होते।

'जन्माद्यस्य यतः' कहकर जगत्कारण ब्रह्मके चेतन होनेकी सूचना दी गयी है और साथ ही यह भी कि वह चेतन सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ माने क्या होता है कि जब हम सच्चिदानन्दके साथ कर्मकी उपाधि जोड़ते हैं तो सत्ता है वह महाकर्ताके रूपमें और जो चित्ता है, वह सर्वज्ञके रूपमें और जो आनन्द है, वह महाभोक्ताके रूपमें प्रतीत होता है। उपाधि जोड़ते हैं हम, चन्दन-टीका लगाते हैं हम

और वह उतर आता है फोटोमें ! यही महान् कर्ता, (सर्वशक्तिमान्), सर्वज्ञ और महाभोक्ता ईश्वरके रूपमें विख्यात है।

यह जीव भी इस शरीरमें औपाधिक ही है। जैसे बीजको अंकुरित होनेके लिए अनुकूल स्थान, अनुकूल मिट्टी, अनुकूल समय और अनुकूल पोषण चाहिए; उसी प्रकार जीवके लिए भी स्त्री-आश्रित अनुकूल-स्थान (गर्भाशय), अनुकूल मिट्टी (गर्भाशयकी अनुकूल धातु), अनुकूल समय (स्त्रीका ऋतु-काल), और पुरुषाश्रित अनुकूल क्रिया और संस्कार चाहिए। तभी जीव बोया जा सकता है।

अधिष्ठानता, प्रेरकता, सर्वज्ञता—ये चेतनके औपाधिक उपद्रव हैं। और अध्यस्तता, नियम्यता, अल्पज्ञता—ये भी चेतनके औपाधिक उपद्रव हैं। ईश्वर और जीवमें इन्हीं औपाधिक उपद्रवोंका ही भेद है, तत्त्वतः नहीं है।

यह ईश्वर अपने शरीरमें रहता है या नहीं ? रहता तो है। कार्यमें कारण अनुगत होता है। जहाँ कार्योपाधि है वहाँ कारणोपाधि तो है ही। बल्कि कारणमें कार्य कल्पित ही है; इसलिए कारणोपाधिक ईश्वरमें कार्योपाधिक जीव कल्पित ही है। हम जीवको जानते हैं; परन्तु अज्ञानवश उसके ईश्वरत्वको नहीं जानते। इसीसे अभी, यहीं, इसी शरीरमें ईश्वर रहता हुआ हमसे अज्ञात है।

दुनियामें इतना ज्ञान-विज्ञान निकलता है, इतना अनुशासन निकलता है, इतनी बुद्धियाँ निकलती हैं—वे सब कहाँसे निकलती हैं ? उनका उद्गम कहाँ है ? जैसे ईश्वर सर्वबीजात्मक कारण है वैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है और न केवल प्रतीयमान जगत्का ही कारण है बल्कि जो अलग-अलग बुद्धियाँ हैं उनको भी उसीने बनाया है। इन बुद्धियोंमें-से जो अलग-अलग शास्त्र निकलते

हैं, वे कहाँसे पैदा हुए ? वे भी उसीके ज्ञानकी परछाइं हैं। उसीके ज्ञानके आभास अन्तःकरणमें पड़कर सब जीव अल्पज्ञ हो रहे हैं और ईश्वर सर्वज्ञ हो रहा है।

जब कारणरूपसे ब्रह्मको समझाते हैं (जन्माद्यस्य यतः) तो यह बात समझाते हैं कि प्रपञ्चको मूल सत्ता उसीमें (ब्रह्ममें) निहित है। और जब सम्पूर्णवृत्तियोंके कारणके रूपमें ब्रह्मको समझाते हैं (शास्त्रयोनित्वात्) तो सम्पूर्ण ज्ञानोंका जो मूल ज्ञान है, वह भी ब्रह्ममें ही निहित है, यह बात समझाते हैं। यद्यपि प्रपञ्चका कारण सर्वज्ञ होना ही चाहिए, यह बात अर्थतः 'जन्माद्यस्य यतः' से निकल आती है, तथापि 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र उसी बातको स्पष्ट करता है ! इस प्रकार दूसरे और तीसरे सूत्रको मिलाकर यह बात कही गयी कि जगत्‌की खण्ड-खण्ड सत्ता और उसके समस्त खण्ड-खण्ड ज्ञान, अल्प-महान् ज्ञान, सबका कारण एक अखण्ड सत्ता ब्रह्म है, जो अखण्ड ज्ञानस्वरूप है।

ईश्वरने सृष्टि बनायी (जन्माद्यस्य यतः) तो उसने अपने बच्चोंको (जीवोंको) कुर्सी भी दो (शरीर दिया) और साथमें उनके संस्कारके लिए, उनकी शिक्षा-दीक्षाके लिए शास्त्र भी बनाया; उनको एक शाश्वत संविधान भी प्रदान किया (वेदका)। यह जगत्, यह शरीर, यह बुद्धि, यह बुद्धिगत ज्ञान और सम्पूर्ण शास्त्र सब एक ही ईश्वरने बनाये, एक ही ईश्वरसे बने। 'शास्त्र-योनित्वात्' और 'जन्माद्यस्य यतः'।

यहाँ विचारको एक गलती यह होती है कि हम मानने लगते हैं कि ईश्वरने सृष्टिके प्रारम्भमें ही ज्ञान दिया। माने ईश्वर अमुक कालमें ही ज्ञान देता है ! ऐसा नहीं है। ज्ञान कहाँ दिया ? अन्तर्देशमें या वैकुण्ठमें ईश्वर इसी समय यहीं और इसी शरीरमें बैठकर ज्ञान दे रहा है और ईश्वर शरीरके बाहर रहकर भी ज्ञान

देता है। यदि ईश्वर कालमें ज्ञान फूंकता है, यदि ईश्वर देशमें ज्ञान बिखेरता है, तो वह वस्तुओंमें ज्ञान बिखेरता है या नहीं ? अवश्य बिखेरता है। ईश्वर भीतर बैठकर तो ज्ञान देता ही है बाहर बैठकर भी ज्ञान दे रहा है। 'अग्निमें हाथ मत डालो' यह अनुशासन ईश्वर स्वयं अग्निमें बैठकर सिखाता है। संस्कारमें बैठकर माताका दूध पिलाना ईश्वर नन्हें-नन्हें बच्चोंको सिखाता है। हमने कुतियाके नवजात पिल्लोंको, जिनकी अभी आँखें भी नहीं खुलीं, देखा है कि वह मुँहसे माताके स्तन टटोल-टटोलकर कैसे दूध पीते हैं ? कौन उन्हें यह सिखा रहा है ?

शास्त्रका अभिप्राय समझो। वह कहता है—

अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्

प्राणियोंके अन्तःमें बैठकर वही शासन करता है। सृष्टिकी आदिमें रहकर शासन करता है या बैकुण्ठमें रहकर या धुरधाम या कुल्लेमालिकमें बैठकर अनुशासन करता है—यह दूसरी बात है। असलियत यह है कि वह ईश्वर ऐसा है कि यहाँ रहकर भी शासन करता है और वहाँ रहकर भी शासन करता है; बाहरसे भी करता है और भीतरसे भी करता है।

इस अनुशासनकी योनि अर्थात् कारण क्या है ? अपना ज्ञान-स्वरूप। अपनी अज्ञात ज्ञानस्वरूपता ही ईश्वर है, वेदान्तमें यह बात बिलकुल साफ है। सब ज्ञानोंका खजाना ईश्वर है, यह बात तब कहते हैं जब अपनी ज्ञानस्वरूपता अज्ञात है। और जब अपनी ज्ञानस्वरूपता ज्ञात हो जाती है तब कहते हैं कि देश, काल, वस्तु क्रिया, संस्कारकी उपाधिके स्पर्शके बिना जो अविनाशी, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप है, वह अद्वितीय है। इसलिए वही ईश्वर और वही इस जगत्‌के रूपमें विराजमान है। 'शास्त्रयोनित्वात्'।

●

(३. ३)

शास्त्रयोनि भी ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । जन्माद्यस्य यतः । शास्त्रयोनित्वात् । तत्तु समन्वयात् ।

ब्रह्मज्ञानकी इच्छा होना माने दुःख, भय, जन्म-मरण, आना-जाना इत्यादि जिस ब्रह्मके अज्ञानसे हो रहे हैं उस अज्ञानकी निवृत्तिके उपायका अनुसन्धान । यह मनुष्य इतना हठी है, जैसे कि यह हठ उसकी छठीमें ही डाल दिया हो कि वह अपने अज्ञान-को ही ज्ञान समझता है । 'अज्ञाने ज्ञानमानिनः' । ('विष्णु पु० १.५.९) । जिस समय क्रोध आता है उस समय मनुष्यकी बुद्धि क्रोध-को ही ठीक समझती है परन्तु; बादमें पछतावा होता है । इसी प्रकार जब कामका, लोभका; मत्सरका नशा (आवेश) चढ़ता है तब-तब समझ (बुद्धि) विश्वसनीय नहीं रह जाती । इस नासमझीके काबूमें होकर जो काम आप करते हैं, वह बहुत तकलीफ देता है । वेदान्तका कहना यह है कि आप अपनी नासमझीको दूर कर दीजिये तो जितने दुःख हैं, वे सब दूर हो जायेंगे ।

आपको एक बाण लगा हुआ है । वह जब-जब चुभता है तब-तब आप बेहोश हो जाते हैं, मरता हुआ-सा अनुभव करते हैं, दुःखी अनुभव करते हैं । उस बाणको निकाल देनेके लिए और आपका निर्वाण करनेके लिए यह ब्रह्म-ज्ञान प्रारम्भ होता है । यदि यह समझमें आजाय तो यह भी सुख और वह भी सुख, जन्म-मृत्यु भी सुख और इनसे मुक्त होना भी सुख । यह ऐसा अखण्ड जीवन, अखण्ड ज्ञान, अखण्ड आनन्द है जो केवल जन्ममें ही नहीं मृत्युमें भी रहता है, होशमें भी रहता है और बेहोशमें

भी रहता है; जिसको पानेके लिए भी और मिल जानेके बाद सुरक्षित करनेके लिए भी आवृत्तिकी जरूरत नहीं है। वह मिलता है एक चोटमें, तत्त्वमस्यादि महावाक्योंके द्वारा और पहचान लेनेके बाद आवृत्तिकी कोई जरूरत नहीं। यह ज्ञान विलक्षण है, यह कोई मजदूरी नहीं है। न यह कर्मसे निर्मित स्वर्गादि-फल है और न यह उपासनासे निर्मित इष्टदेवकी आकृतिरूप है। यह कोई अभ्याससे सिद्ध स्थिति या चित्तकी अवस्था भी नहीं है। इसमें न आँख बन्द करनी है, न खोलनी है, न टेढ़ी करनी है। असलमें जो चीज ज्यों-की-त्यों है, उसको पहचाननेकी बात है। बादमें देखोगे कि जीवनमें कितने दुःख थे, वे सब इसी तत्त्वको न पहचाननेके कारण थे।

वह तत्त्व क्या है? तो व्यवहारके लिए उसका नाम रखा 'ब्रह्म'। ब्रह्म एक नाम है। कुछ और नाम रख लो उसका—राम, कृष्ण, शिव। कच्चे वेदान्ती डरते हैं इस नाम-बदलसे। और उपासक लोग अपने-अपने इष्टदेवके लिए लड़ते हैं, जैसे छोटे-छोटे राजा अपने छोटे-छोटे राज्योंके लिए लड़ते हैं। परन्तु सच्चे वेदान्ती तो चक्रवर्ती सम्राट्के मानिन्द हैं। उनके 'अद्वितीय' राज्यमें संघर्ष कहाँ?

तत्त्व माने 'आकार-आरोप किये बिना वस्तुका जो स्वरूप है वह'—

अनारोपिताकारं तत्त्वम्।

तत्त्वज्ञकी दृष्टि आकृति-विशेषपर नहीं रहती, वह वस्तुके सार-स्वरूपपर रहती है। ब्रह्मज्ञान विशिष्ट आकृतिकी प्रतीतिका विरोधी नहीं है, प्रतीति होवे तो होवे; परन्तु उस प्रतीतिकी सत्यताका विरोधी है। विशिष्ट अवयव-संस्थानका नाम आकृति है। आकृतिमें जो वर्ण है वह रूप है और उस सरूप आकृतिका एक

नाम होता है[1]। इस प्रकार आकृति मुख्य है और नाम-रूप उसीसे सम्बन्धित हैं। आकृतिमें जो नाम-रूपका आरोप है, उसको एक बार हम अपनी बुद्धिसे हटा दें, बुद्धिसे उसका अपवाद कर दें। बादमें जो आकृतिके आरोपसे विनिर्मुक्त धातु है उसको ब्रह्म पहचानना तत्त्वज्ञान है।

जो हर घड़ेमें है, सबमें परिपूर्ण है और घड़ाका भेद होनेपर भी (उपाधिका भेद होनेपर भी) अभिन्न है, वह घटतत्त्व है।

नाम-रूपका निषेध कर देनेपर अर्थात् प्रतीतिके विषयका निषेध कर देनेपर क्या बचता है? जिसको प्रतीति हो रही है वही बचता है, अन्य कुछ नहीं बचता। बुद्धिमें न परमाणु बचता है, न विषय, न इन्द्रियाँ, न अन्तःकरण, न प्रकृति, न शून्य, न ईश्वर। जिसके द्वारा सब प्रकाशित होता है बस, वही बचता है।

देश, काल, वस्तु कुछ नहीं है, प्रतीति हैं। सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद कुछ नहीं हैं, प्रतीति हैं और प्रतीति वास्तविक नहीं है, प्रतीतिमात्र है और प्रतीति स्वरूपमें अन्यवस्तु नहीं है, वस्तुतः स्वरूप ही है। यह प्रतीतिके विषयको निषेधका स्वरूप है। निषेध कर देनेपर निषेधावधिके रूपमें अपना आपा ही बचता है। वही तत्त्व है और वही ब्रह्म है।

ब्रह्म माने होता है—'परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षितत्वम् ब्रह्मत्वम्'। जितने प्रकारके खण्ड-खण्ड टुकड़े हैं—कोई परिणामसे अनेक होता है, कोई उपाधिसे अनेक होता है, कोई विकारसे अनेक होता है, कोई अवस्थासे अनेक होता है—माने

---

१. 'मोहन काले रंगका मनुष्य है।' इस उदाहरणमें मनुष्य एक आकृति है। काला रंग उस आकृतिका रूप बताता है और मोहन उस आकृतिका नाम है।

जितने प्रकारके परिच्छेदकी किस्म हैं, जातियाँ है, उनके अत्यन्त अभावसे उपलक्षित ब्रह्मतत्त्व है। एक बार इन परिच्छेदोंको निकाल दो। जैसे क्षण-क्षणमें काल है, तो क्षण-क्षणका ख्याल मत करो। क्षणभेदसे मुक्त काल अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार ऊपर, नीचे, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिमका ख्याल मत करो; इन पूर्व, पश्चिमादिके भेदसे मुक्त जो देश है वह अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता। मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके भेदसे रहित जो सत्ता है वह भी अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती। इसलिए भेदरहित जो सन्मात्र, चिन्मात्र, कालमात्र वस्तु है वह संविन्मात्र आत्मासे अभिन्न वस्तु है। आत्मासे काल अभिन्न होनेके कारण आत्मा अविनाशी है, देशके अभिन्न होनेके कारण आत्मा परिपूर्ण है और वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण आत्मा अद्वय है; और स्वयं आत्मा चिन्मात्र है। आत्माके नाशके लिए कोई काल नहीं है, इसके संकोचके लिए कोई देश नहीं है और इसको दूसरा बनानेके लिए कोई वस्तु या द्रव्य नहीं है।

ऐसा जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न, जो अखण्ड तत्त्व है, उसको ब्रह्म बोलते हैं। ब्रह्म ऐसा है ही, इसको साधनसे ऐसा बनाना नहीं है; अभ्याससे इसको ऐसा बनाना नहीं है; उपासनाका तदाकार वृत्ति-रूप फल यह नहीं है, यह धर्मका फल स्वर्ग-रूप भी नहीं है। यह तो जैसा है यथार्थ परमार्थमें, उसको वैसा ही जानना मात्र है। इसलिए केवल अज्ञानकी निवृत्तिके सिवाय इसमें कोई दूसरा कर्तव्य उपस्थित नहीं होता। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' केवल आत्म-दर्शन ही अपेक्षित है।

किसीने कहा—आओ दोहरावें। महात्माने कहा—यदि एक चोटमें नहीं देखा, तो दोहराओ! बोले—अच्छा अब देख लिया। अब भी दोहरावें तो? महात्माने कहा—अभी नहीं देखा तुमने!

क्योंकि तुम अपनेको (अभ्यासका) कर्ता तथा (उसके फलका) भोक्ता समझते हो।

यह जो वेदान्तकी प्रक्रिया है, वह साधनरूप नहीं है, प्रमाण-रूप है। साधन प्रक्रिया धर्म है, उपासना है, योग है, समाधि है, विश्राम है, असंगता है, द्रष्टा-दृश्यका विचार है। वेदान्त-प्रक्रिया तो उस पर्देको फाड़ देनेकी है जो वस्तुका अद्वयताके प्रकाशनमें बाधक हो रहा था। केवल प्रतिबन्धकी निवृत्ति होती है वेदान्तमें, वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती।

ये दुनियादार लोग जो हैं वे काम करते-करते जब थक जाते हैं, तो उनको थकान मिटानेके लिए विश्राम चाहिए। विक्षेपीको समाधि चाहिए, जिनका प्यारा खो गया है, उनको उपासना चाहिए, जिनको अप्सरा चाहिए उन्हें धर्म चाहिए (क्योंकि स्वर्गमें वह सब मिल जायेगा)। वेदान्तमें ज्ञानकी पिपासा चाहिए; क्योंकि इनमें तो जो है उसीको पहचानना मात्र है। इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'।

ब्रह्मको समझनेके लिए दो और दृष्टियाँ। एक तटस्थ लक्षण और दूसरा स्वरूप लक्षण। लोकप्रसिद्ध अनुभवका अनुवाद करते हुए श्रुति ब्रह्मका तटस्थ लक्षण बनाती है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०'। इसीको सूत्रारूढ़ किया—'जन्माद्यस्य यतः'। और स्वरूप लक्षणके रूपमें श्रुतिने कहा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।

ब्रह्मज्ञानके लिए यह जरूरी है कि सम्पूर्ण भेदका निषेध हो; तभी अभेद ब्रह्मकी सिद्धि होगी और तभी अपनेको अभेद ब्रह्मके रूपमें जानेंगे। परन्तु यह (निषेध) तभी हो सकता है जबकि भेद मिथ्या हो; क्योंकि यदि भेद सत्य होगा, तो अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए ब्रह्मकी अद्वितीयताको सिद्ध करनेके लिए प्रपञ्चके मिथ्यात्वका साधन किया जाता है।

मिथ्यात्वके साधनसे मतलब कोई सीधे बैठना नहीं है या रीढ़की हड्डीको सीधा करके किसी चक्रके चक्करमें पड़ना नहीं है। क्या बतायें आपको साधनकी बात। एक कीनाराम सम्प्रदाय है। हमारे गाँवके पास काशीके रामगढ़ गाँवमें कीनारामजीका जन्म हुआ था। हमारे सामनेकी बात नहीं है यह। कोई १५० साल पहलेकी बात है। उनकी बड़ी-बड़ी सिद्धि मशहूर हैं। उनके सम्प्रदायको 'अघोरी सम्प्रदाय' कहते हैं, वे लोग सब कुछ खाते हैं और सब कुछ करते हैं। उनका कहना है कि शरीरमें साँस चलनेसे जो नाभि हिलती है उसको तुम देखो। लो तुम हो गये शरीरसे जुदा। इसका नाम वेदान्त नहीं है।

कोई मूलाधारमें लीन करते हैं, तो कोई स्वाधिष्ठानमें जाग्रत् करते हैं, कोई मणिपूरकको हिलते हुए देखते हैं, तो कोई अनाहतमें वृत्तिके लय-उदयको देखते हैं। कोई कण्ठकूप (विशुद्धचक्र)में डुबकी लगाते हैं, तो कोई आज्ञाचक्रमें शिवका दर्शन करते हैं। कोई सहस्रारमें गुरुसे तल्लीन होते हैं, तो कोई इष्टदेवताका हृदयमें ध्यान करते हैं। कोई ब्रह्मरन्ध्रमें समाधि लगाते हैं, तो कोई भावसे तदाकार होते हैं। यह साधनकी प्रक्रिया दूसरी चीज है और प्रपञ्चके मिथ्यात्वका साधन दूसरी चीज है। वेदान्तमें तो जैसे आँखसे रूप देख लिया जाता है वैसे अपनेको (महावाक्य जन्य प्रमाके द्वारा) ब्रह्म जान लेनेकी प्रक्रिया है। इसमें दोहराना या अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। अपनेको ब्रह्म जान लेने मात्रसे (अर्थात् प्रपञ्चके प्रकाशकको प्रपञ्चका अधिष्ठान अनुभव कर लेने मात्रसे) प्रपञ्च मिथ्या हो जाता है।

दूसरे साधनोंकी चर्चा मैं बीच-बीचमें करता हूँ। वह उन साधनोंके दोष बतानेके लिए नहीं करता, बल्कि आपको ब्रह्म ज्ञानमें प्रवृत्त करनेके लिए करता हूँ। दिनके लिए रातका ज्ञान आवश्यक है। अद्वैतके लिए द्वैत-दर्शनके दोष बताने भी आवश्यक हैं।

दोष-दर्शनपर एक बात याद आगयी। अभी १२ मार्च (१९७०) को ही काशीसे वृन्दावनके लिए आये, तो रास्तेमें एक प्रसिद्ध उद्योगपतिके यहाँ ठहरा। आप लोग जानते हैं उन्हें। हम नाम भी बताये देते हैं उनका—सेठ पद्मपति सिंघानिया। सेठजी और उनकी धर्मपत्नी बैठी थीं। बात निकल पड़ी आजके साधु-संन्यासियोंपर। मेरे मुँहसे निकल गया कि सब 'खरिया पल्टन' है। सेठजी बोले—'स्वामीजी आप ऐसा क्यों बोलते हैं! सब तरहके लोगोंकी आवश्यकता होती है। ये जो दुनियामें गँजेड़ी-भँगेड़ी प्रकृतिके लोग हैं, वे क्या आपके पास सत्संग करने आयेंगे? वे उन्हीं साधुओंके पास जायेंगे जो शराब, गांजा-भाँग पीते हों। वहाँ वे गांजा भी पीयेंगे और बादमें थोड़ी देर भगवान्‌के नामका कीर्तन भी करेंगे। कुछ तो बुद्धिपर असर पड़ेगा ही।' इसके बाद सेठानीजी बोलीं—'स्वामीजी, हम किसी साधु-संन्यासीके पैर नहीं छूते। परन्तु जब हम मोटर पर चलते हैं और सामनेसे गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी वेशमें कोई साधु निकलते हैं तो हम मोटरमें-से उन्हें हाथ जोड़ ही लेते हैं। यह उनके वेशका प्रभाव तो है ही कि वह हमारे अहंकारको झुकानेके लिए एक अवसर प्रदान करते हैं। फिर 'खरिया पल्टन'से क्या नुकसान है!' मैं उन दम्पतीके श्रद्धा-विश्वास और दोष-दर्शन न करनेके गुणसे बड़ा प्रभावित हुआ। मैंने अपनी गलती मान ली कि मुझे 'खरिया-पल्टन' जैसा शब्द प्रयोग नहीं करना चाहिए था! अस्तु।

बात हम यह बताना चाहते हैं कि जबतक धर्मानुष्ठानका निषेध नहीं करेंगे तबतक आत्माके कर्तृत्वका भी ठीक निषेध नहीं होगा। हम अधर्मानुष्ठानके बारेमें नहीं बोलते; क्योंकि हमारा विश्वास है कि हमारे श्रोता यह तो समझते ही हैं कि अधर्म नहीं करना चाहिए। परन्तु एक अवस्था ऐसी भी है कि धर्मको भी छोड़ना पड़ता है। हम आपसे कहाँ कहते हैं कि आप काम-क्रोध-

लोभ आदिको छोड़ो। यह तो आप समझते ही हैं कि ये नरकके द्वार हैं। परन्तु हम तो आपसे यह कहते हैं कि उपासनासे भी ऊँचे उठो, वर्ना भोक्तृत्व बना रहेगा। विक्षेप छोड़ो, हम यह नहीं कहते; क्योंकि सभी लोग विक्षेप चाहते ही नहीं। हम तो कहते हैं—आप शान्ति, समाधिसे ऊपर उठो वर्ना अज्ञान नहीं मिटेगा। हम संगीपना और तादात्म्यका निषेध नहीं करते; क्योंकि आप सब लोगोंको यह बात मालूम है कि आत्मा संगी नहीं है और आत्मा देह नहीं है। हम तो असंग साक्षीसे भी ऊपर उठनेको कहते हैं; क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि यह गुफाका कैदी बनकर ही रह जाय। उस असंग साक्षीको ब्रह्मके रूपमें जानो।

इसके लिए साधन प्रक्रिया नहीं, प्रमाण प्रक्रिया है। साधनमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अज्ञान और परिच्छिन्नत्वके निषेधका सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए धर्म, उपासना, योग और सांख्य आत्माकी ब्रह्मताका अपरोक्ष ज्ञान नहीं करा सकता। इसमें तो औपनिषद महावाक्यजन्य अखण्डार्थ धी ही वास्तवमें प्रमाण है।

पहले जिसमें भेद भास रहा है वह भेदके अत्यन्ताभावका भी अधिष्ठान है। फिर जिसको भेद भास रहा है वही भेदके अत्यन्ताभावका भी प्रकाशक है। इसलिए भेद और भेदके अत्यन्ताभावका प्रकाशक और अधिष्ठान एक ही है। ऐसी स्थितिमें भेद कोई वस्तु ही नहीं है। केवल स्वयंप्रकाश प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अधिष्ठान ब्रह्म ही है।

उक्त ब्रह्मको लखानेके लिए दो युक्तियाँ हैं : एक तटस्थ लक्षण और एक स्वरूप-लक्षण। 'जन्माद्यस्य यतः' में तटस्थ लक्षण है। भेद किससे जन्मा? किसमें स्थिति है भेदकी? और किसमें भेद लय होता है? निरूपण तो करेंगे भेदका और सिद्ध होगा ब्रह्म। तटस्थ लक्षण इसीको कहते हैं कि 'तद्भिन्ने सति तद् बोधकत्वम्'

तटस्थलक्षणम् ।' लक्ष्यसे अलग रहकर जो लक्ष्यको दिखाये उसका नाम तटस्थ लक्षण है। तटस्थ = किनारे पर रहनेवाला।

एक आदमी वृन्दावनमें भटक रहा था। आकुल-व्याकुल। कृष्ण कहाँ हैं? यही रट थी उसको। एक व्यक्ति मिला। उसने बताया कि कृष्ण तो यमुनापर स्नान कर रहे हैं, उन्होंने मुकुट, पीताम्बर उतार रखा है। भक्तने पूछा: 'यमुना तो बहुत लम्बी है, मैं कहाँ जाऊँ कि कृष्ण मिल जायँ?' वह व्यक्ति बोला: 'देखो वह ऊँचा अर्जुनका वृक्ष है, वहीं कृष्ण स्नान कर रहे हैं।'

अब देखो, न तो अर्जुनका वृक्ष है, न कृष्ण हैं, न जमुना है और न जमुनाका तट है। वह तो यमुनाके तटका एक पेड़ है। परन्तु वहाँ पहुँचनेपर तट भी दीख जायेगा, यमुना भी दीख जायेगी और स्नान करते हुए मुकुट-पीताम्बर उतारे हुए कृष्ण भी दीख जायेंगे। इसीको कहते हैं तटस्थ लक्षण।

यह जो दृश्य दिखायी पड रहा है, अनेक रूपवाला, भेदरूप—कहीं गंधवती पृथ्वी तो कहीं रसवान् जल, कहीं रूपवान् तेज तो कहीं स्पर्शवान् वायु और कहीं शब्दवान् आकाश, कहीं-कहीं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गधकी ग्राहक पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, कहीं ये 'पंचनदी', 'पंचसरस्वती' विराजमान हैं, पाँच धारा जा रही हैं भीतर और भीतरवाली धारा पाँच धाराओंमें बाहर निकल रही है—इस भेदात्मक प्रपञ्चके बारेमें ऋषि प्रश्न पूछता है कि—

किंस्विद् वनम् क उ स वृक्ष आस (ऋग्वेद १०.८१.४)

'वह वृक्ष कौन-सा है जिससे विश्वकर्माने इस प्रपञ्चका लक्षण किया है? (माने वह उपादान क्या है जिससे यह प्रपञ्च गढ़ा गया है?) इसके उत्तरमें ऋग्वेद कहता—

ब्रह्म वनम् ब्रह्म स वृक्ष आस (तै० ब्रा०)

ब्रह्म ही वन है। ब्रह्म ही वृक्ष है। ब्रह्म ही विश्वकर्मा है। ब्रह्मने ही इसका लक्षण किया है। इसप्रकार ब्रह्म इस भेदात्मक जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। यह जो कारणता ब्रह्मकी है, वह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है।

स्वरूप लक्षण इसको कहते हैं कि-'तद्‌भिन्ने सति तद् बोधकत्वम्' स्वरूपलक्षणम्।' जो लक्ष्यसे अभिन्न रहकर लक्ष्यका बोध कराये। जैसे किसीने पूछा 'चन्द्रमाका बोध कराओ।' तो बताया कि 'वह सामनेवाले पेड़के ऊपरकी शाखासे दो हाथ ऊपर दूजका चन्द्रमा है।' तो पेड़, शाखा, दो हाथ ऊपर—ये सब चन्द्रमाके तटस्थ लक्षण हैं; क्योंकि ये लक्षण चन्द्रमासे अलग रहकर चन्द्रमाका बोध कराते हैं। परन्तु कोई कहे कि 'वह चाँदीके हँसियाकी तरह आकाशमें चन्द्रमा है, तो चाँदीके हँसियाका चन्द्रमाके स्वरूप (चमक और आकृति) में प्रवेश होनेके कारण यह चन्द्रमाका स्वरूप लक्षण है।

ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' सत्य है, ज्ञान-स्वरूप है और अनन्त है।

अब सूत्रकार कहते हैं कि 'शास्त्रयोनित्वात्।' ब्रह्म शास्त्रकी योनि होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है। 'शास्त्रयोनि' लक्षण जो ब्रह्मका यहाँ किया, उसका भी ब्रह्मके स्वरूपमें प्रवेश नहीं है। वह (शास्त्र) भी ब्रह्मसे अलग रहकर ब्रह्मको समझाते हैं और ब्रह्मज्ञान होने-पर मिथ्या हो जाते हैं। इसलिए शास्त्रयोनि भी ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है।

प्रपञ्च और शास्त्र दोनों ब्रह्मसे अलग रहकर ब्रह्मका बोधन कराते हैं और ब्रह्मज्ञान होनेपर दोनों मिथ्या हो जाते हैं अर्थात ब्रह्मसे अलग नहीं रहते।

•

(३. ४.)

अद्वितीयताके साधक—'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्'

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

मनमें जबतक परिच्छिन्नके प्रति आसक्ति और तादात्म्यका अभिनिवेश रहता है तबतक उसके मनमें ब्रह्मजिज्ञासा नहीं होती। दूसरे शब्दोंमें जबतक परिच्छिन्नमें 'अहंता' (तादात्म्य) ममता (आसक्ति) रहती है तबतक ब्रह्मजिज्ञासाका उदय नहीं होता।

आसक्तिमें अभिनिवेश (ममता) अन्तःकरणकी शुद्धिमें हट जाता है। परन्तु तादात्म्यका अभिनिवेश (अहंता) बिना श्रवण-मनन-निदिध्यासनके नहीं जाता। अहंभावको भावनासे जितना हटायेंगे वह उतना ही दृढ़ होगा।

कल भी मैंने इस विषयमें बताया था। उसको दोहराना मैं ठीक समझता हूँ। धर्मका अधिकारी संकल्पपूर्वक (फलके प्रति आस्थावान् होकर) फलके लिए विधिके अनुसार कर्म करता है। इसलिए धर्म अधर्मको तो छुड़ाता है; परन्तु कर्तृत्वकी निवृत्ति नहीं करता। इसीलिए भगवान्ने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'में धर्मत्यागकी बात कही है, अधर्म-त्यागकी नहीं। धर्मके त्यागसे ही कर्तृत्वकी निवृत्ति हो सकती है, ऐसा एक आचार्यका विचार है।

उपासना आन्तर धर्म है। जैसे कामवासनाके वश स्त्रीकी उपासना होती है और उससे वासना निवृत्त भी होती है, उसी प्रकार भगवद्-उपासनासे सब वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं और सुखका सान्निध्य प्राप्त होता है। परन्तु उपासनामें भोक्तृत्व-निवृत्त करनेका सामर्थ्य नहीं है।

शान्ति—समाधिमें विक्षेपकी निवृत्ति तो होती है; परन्तु परिच्छिन्नता नहीं कटती। समाधि आध्यात्मिक निद्रा है (यहाँ वृत्ति और उसके धर्मोंका विषयीमें, त्वं-पदार्थमें लय होता है)। तन्मयता आधिदेविक निद्रा है (क्योंकि यहाँ वृत्तिका लय विषयमें, तत्पदार्थमें होता है)। सुषुप्ति, आधिभौतिक निद्रा है। (यहाँ वृत्तिका लय-अपने उपादानमें, प्रकृतिमें या अविद्यामें होता है। समाधि और तन्मयता अभ्यास हैं और सुषुप्ति सहज है, प्राकृतिक है, नैसर्गिक है।

समाधि और तन्मयता—दोनोंमें सुषुप्तिकी भाँति ही देश, काल, बुद्धि, प्राण, कर्म सब सोते रहते हैं और जिन-जिन वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियोंके प्रति जो-जो भाव पूर्वमें रहते हैं, वे-वे भाव सब इन अवस्थाओंके उत्तर-कालमें जाग्रत हो जाते हैं। तो क्या समाधिका या तन्मयतासे कोई लाभ नहीं होता? होता है, अनात्म-सम्बन्धोंमें शिथिलता होती है यदि ये वैराग्यपूर्वक धारण की जायँ तो। अन्यथा तो (अर्थात् वैराग्य के अभावमें) शिथिलता भी नहीं होगी।

सांख्यमें आत्माके असङ्ग साक्षी स्वरूपका विचार तो है; परन्तु आत्माकी अनेकता (परिच्छिन्नता)की भ्रान्ति वहाँ भी शेष रह जाती है। यदि आप विश्राम-अवस्थामें ही साक्षी रहते हैं और विक्षेप-अवस्थामें तादात्म्यापन्न हो जाते हैं तब तो सत्त्वान्यता-ख्याति हुई ही नहीं, विवेक हुआ ही नहीं। वह साक्षीपना तो फिर वृत्ति है, स्वरूप नहीं है। वृत्ति और स्वरूपका विवेक करके 'सत्त्व' अर्थात् अन्तःकरणसे 'अन्यतः' अर्थात् भिन्न मैं हूँ—इस बोधका नाम सत्त्वान्यताख्याति है। इसका सीधा मतलब यह है कि अन्तःकरण न मैं हूँ, न मेरा है। साक्षीका अन्तःकरणके विक्षेप और शान्तिसे कोई मतलब नहीं। इसको पुरुषख्याति या विवेक-ख्याति भी कहते हैं।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् (योग १.१६)

निद्रा तमोगुणी है, विस्मृति रजोगुणी है और समाधि सत्त्व-गुणी है। उनसे असङ्ग तथा इनका साक्षी आत्मा है। यही वेदान्तका त्वं-पदार्थ है, योग और सांख्यका सिद्धान्त है और जैनोंकी तपस्याका फल है।

एक सज्जन हैं। उन्हें विस्मृतिकी शिकायत है। वह यहाँ (प्रवचन-हालमें) बैठे हुए हैं। उनको शिकायत है कि उनको निरन्तर व्यवहारमें साक्षी बने रहनेकी स्मृति नहीं रहती। हम उनसे पूछते हैं कि आपको निद्रा बुरी लगती है या विस्मृति ? जाग्रत्-अवस्थामें रहकर आप अपने असंग साक्षी-स्वरूपको भूल जाते हैं, कभी-कभी भूलकी याद भी आ जाती है कि मैं अपने साक्षी-स्वरूपको भूल गया था। स्पष्ट है कि जाग्रत्का आपका यह साक्षी भूलनेवाली वृत्तिसे युक्त है। इसके दूसरी ओर निद्राकी स्थिति है जो आपपर चढ़ बैठती है और आपकी कोई वृत्ति भी नहीं रह पाती—भूलकी भी नहीं। सुषुप्ति तमोगुणी है, विस्मृति रजोगुणी है और समाधि सत्त्वगुणी है। आप यह क्यों शिकायत नहीं करते कि जब सुषुप्ति आती है, तो हमारा असग-साक्षीपना बीच-बीचमें भी याद क्यों नहीं आता ? यदि आप अपनेको सच-मुच असंग और साक्षी जान जाते, तो भूलने और याद रहनेका कोई फर्क नहीं रहता जैसे कि सुषुप्ति आनेसे कुछ फर्क नहीं पड़ता। भले आपको योग, सांख्य या जैनमतके अनुसार यह बोध होता। इसका अर्थ यही है कि अभी असंग-साक्षीकी ख्याति (आपके जीवनमें) नहीं हुई। यह तो त्वं-पदार्थके विवेककी पराकाष्ठा है। यह आपको विषयोंकी आसक्तिसे बचाती है, आपको देहमें अहङ्कार होनेसे बचाती है। यह आपको सुख-दुःखसे असंग रखती है। यह तो बड़ी मुफ़ीद (लाभकारी) चीज है।

इसकी हम लाख-लाख प्रशंसा करते हैं। लेकिन इससे ऊपर भी उठो न!

जैसे धर्ममें कर्तृत्व-निवृत्तिका सामर्थ्य नहीं है, जैसे उपासनामें भोक्तृत्व-निवृत्तिका सामर्थ्य नहीं है, जैसे समाधिमें बीजभावकी निवृत्तिका सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही असंगसाक्षीमें द्वैत-निवृत्तिका सामर्थ्य नहीं है।

वेदान्त इसी अद्वैतका प्रतिपादक है। असंगता, साक्षिता केवल उसकी एक प्रक्रिया है। यह अद्वैत कैसे सिद्ध हो ? तो 'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्'के द्वारा वेदान्त ब्रह्मको अद्वैत सिद्ध करता है। कैसे सिद्ध करता है ? तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण द्वारा।

आपको बताया कि प्रलय, सुषुप्ति और समाधि तीनों बीज-भावसे युक्त हैं। प्रलय आधिदैविक है, सुषुप्ति आधिभौतिक है और समाधि आध्यात्मिक है। बीजभावसे उपहित जो चैतन्य है वही ईश्वर है। जो सुषुप्तिसे उपहित चैतन्य है वही प्रलय और समाधिसे उपहित चैतन्य है। उसीका नाम प्राज्ञ है और उसीका ईश्वर। प्राज्ञ और ईश्वरमें जो चिन्मात्र वस्तु है उसको ब्रह्म कहते हैं। चैतन्य एक है परन्तु उसको ऐश्वर्य (जगत्-कर्तृत्व) की उपाधिसे ईश्वर कहते हैं और सुषुप्तिकी उपाधिसे जीव कहते हैं। प्रकाशकत्व दोनोंमें है, लेकिन प्रकाशकी दृष्टिसे दोनोंमें एक चिन्मात्र है वह ब्रह्म है। उस ब्रह्मकी अद्वितीयताको सिद्धिके लिए प्रपञ्चकी संगति बैठानी पड़ती है।

प्रपञ्च यदि ब्रह्ममें ब्रह्मसे भिन्न हो, तो ब्रह्म अद्वैत नहीं होगा। प्रपञ्च यदि आत्मामें आत्मासे अलग हो, तो आत्मा अद्वैत नहीं होगा। अर्थात् यदि साक्ष्य साक्षीसे अलग हो तो साक्षी अद्वैत नहीं होगा। विवेकमें साक्ष्यसे साक्षी अलग है और प्रपञ्चसे ईश्वर

अलग है, यह ठीक है। लेकिन ईश्वरसे भिन्न प्रपञ्च और साक्षीसे भिन्न दृश्य यदि निकल आया, तो अद्वैतकी सिद्धि नहीं होगी। जो भी देश, काल, द्रव्यात्मक प्रपञ्च है वह सब ईश्वरसे उत्पन्न हुआ है और जितने भी बौद्धिक और मानसिक पदार्थ हैं वे सब भी प्रकाशात्मक परमेश्वरसे (आत्मा) से उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् सारी वस्तुएँ और सारी बुद्धियाँ परमेश्वरसे ही पैदा हुई हैं। इन्हींको समझानेके लिए ये दोनों अलग-अलग सूत्र हैं—'जन्माद्यस्य यतः' (सब जगत् ब्रह्मसे है) और 'शास्त्रयोनित्वात्' (सारी बुद्धियां भी ब्रह्मसे हैं)।

यह बात आपको पचास टीकाएँ पढ़नेसे भी प्राप्त नहीं होगी। यह तो हम आपको सब टीकाओंका और स्वयं अपने चिन्तनका मक्खन (सार) दे रहे हैं। अस्तु।

शास्त्र माने जो जीवनको वासनानुसारी न रहने दे और शासनानुसारी बना दे। शासन तो सभी मानते हैं चाहे माओवाद हो या मार्क्सवाद या चार्वाक। सब लोग दूसरोंको शासनानुसारी ही रखना चाहते हैं, इसीलिए अनेक शासन-संविधान बनाये जाते रहे हैं। जीवनको उच्छृङ्खल नहीं छोड़ा जा सकता। मां-बाप क्या बच्चोंको उच्छृङ्खल आचरण करनेके लिए छोड़ सकते हैं? जहाँ छोड़ देते हैं वहाँ क्या कुछ नहीं हो जाता है। जिन घरोंमें बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंको 'नाइटक्लब' में किसीके भी साथ खेलनेकी स्वतन्त्रता दे देते हैं, उनके घरोंमें फिर जो समस्याएँ उठती हैं वे भी सबको ज्ञात ही हैं। सब लोग सचमुच ही 'फ्री' (स्वतन्त्र) हो जाते हैं। फिर क्या? सिर पीटो बस! इसी प्रकार जीवनके हर क्षेत्रमें एक शासन और एक अनुशासन चाहिए। भले वह शासन कोई एक व्यक्ति बनावे या कई लोग मिलकर बनावें।

'शास्त्रं नाम शासनम्।' शास्त्र माने वासनाका नियन्त्रण

करनेवाला संविधान। अब वह कौन-सा संविधान अच्छा होगा? माओका या लेनिनका या मार्क्सका या बहुत-सारे भारतीय संविधान-विशेषज्ञोंका, यह बात दूसरी है। परन्तु इन सब संविधानोंमें एक बात जो सर्वनिष्ठ है—वह यह है कि सबने वर्तमान परिस्थितियोंका ठीक-ठीक अनुसन्धान करके ये संविधान बनाये। इनमें शाश्वता-जैसी कोई चीज नहीं है। परिस्थितियाँ बदलनेसे संविधान बदलना पड़ जाता है। अपने भारतीय संविधानको ही देखो कि इन बीस बरसोंमें कोई बीससे अधिक संशोधन हो चुके है।

जब हिन्दूकोड बिल बन रहा था, तो एक सज्जन नेहरूजीसे बोले कि सगोत्र विवाह धर्मके विपरीत है। नेहरूजीने कहा कि 'भाई, क्या देश मे केवल ब्राह्मण ही रहते हैं? क्या भारतमें ऐसे लोग नहीं रहते जिनमें सगोत्र विवाह होता है? कश्यप गोत्रियोंमें सगोत्र विवाह होता है।' अन्तमें नेहरूजीने कहा: 'अच्छी बात है, तुम मथुराके चौबोंसे हस्ताक्षर करा लो कि सगोत्र विवाह नहीं करना चाहिए। हम माननेको तैयार हो जायेंगे।'

क्षत्रियोंमें—कश्यपगोत्रियोंमें, वैश्योंमें और सारे शूद्रोंमें सगोत्र विवाह होते हे। जो लोग एक वर्गके बारेमें सोचते हैं वे पूरे देशके बारेमें नहीं सोचते हैं।

'शास्त्रयोनित्वात्।' ईश्वरका संविधान वह होता है जो केवल भारतके लिए नहीं, समग्र प्रकृति-प्राकृतके लिए होता है; सिर्फ आजके लिए नहीं, सब कालोंके लिए होता है; जो शाश्वत होता है; सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वजातियोंके लिए होता है। ऐसा संविधान केवल वही बना सकता है जो सर्वज्ञ हो। अतएव 'शास्त्रयोनित्वात्'से जगत्कारण ब्रह्मकी सर्वज्ञता स्पष्टतः सिद्ध की जाती है।

'जन्माद्यस्य यतः' में जो बात (सर्वज्ञता) अर्थतः सूचित की

गयी थी वही बात 'शास्त्रयोनित्वात्'से स्पष्टरूपमें कही जा रही है, ऐसा भामतीकारका कहना है। 'जन्माद्यस्य यतः'में बताया कि ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। जगत्का जन्म-स्थिति-भंग होता है और जिससे यह उत्पन्न होता है (यत्) उसका जन्म-स्थिति-भंग नहीं होता, वह सबमें व्यापक है (इण् गतौ धातुसे एति इति 'यत्') और सबसे न्यारा है। जगत् इदंता-से आक्रान्त है; परन्तु 'यत्' 'इदम्' नहीं है; क्योंकि 'इदम्' के अत्यन्ताभावके अधिष्ठानसे इदंकी उत्पत्ति होती है। अतः इदंका कारण कभी इदं नहीं हो सकता। वह अनिदम् है।

इस प्रकारका जो जगत्का कारण है वह विवर्ती अभिन्न-निमित्तोपादानकारण है, परिणामी अभिन्ननिमित्तोपादानकारण नहीं है। जैसे रज्जु ही रज्जुके अज्ञानके कारण सर्पवत् भासती है, सर्प ही नहीं जाती उसी प्रकार ब्रह्म ही अज्ञानके कारण जगत्वत् भासता है, जगत् हो नहीं जाता। रज्जुमें सर्पकी प्रतीति रज्जुका विवर्तरूप है, जबकि जलकी बर्फ-रूप प्रतीति जलका परिणाम है।

जो जगत्का और जगज्जन्मादिका अधिष्ठान है उस अधिष्ठान ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति हुई। अनिदम्में इदम् है। इदम् परिणामी है और जो अनिदम् है वह परिणामी नहीं है। अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमें प्रतीत होनेके कारण इदम् मिथ्या है, माने कार्य-कारणभाव मिथ्या है; परन्तु वह अनिदम् ब्रह्म है, अद्वय है और प्रत्यक् चैतन्याभिन्न है।

ब्रह्मके कल्पित सदंशसे जडांशकी उत्पत्ति हुई है और कल्पित चिदंशसे (अर्थात् बीजोपाधिक ब्रह्मसे अथवा मायोपाधिक ब्रह्मसे) जो बुद्धि आदि शासन है, उसकी उत्पत्ति हुई है। वह जनका जनक है और बुद्धि आदिका शास्ता है। इसलिए 'शास्त्रयोनि-

त्वात्' से चेतनताको स्पष्ट करना चाहते हैं। जब ब्रह्मको चेतनता स्पष्ट हो जायेगी, तो जगत्‌की विवर्तता भी स्पष्ट हो जायेगी। और जब सत्ता और चेतनता सिद्ध हो जायेगी, तो निर्विकारिता भी सिद्ध हो जायेगी और जब 'प्रपञ्च उससे भिन्न नहीं है' यह सिद्ध हो जायेगा, तो उसकी (ब्रह्मकी) अद्वयता भी सिद्ध हो जायेगी।

सांख्य, योग, जैनकी भूमिका अलग है और वेदान्तकी भूमिका अलग है। ब्रह्मसूत्र यों तो सभी सिद्धान्तोंकी जन्मभूमि है—शिवाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, इत्यादि; क्योंकि सभी सिद्धान्तोंके आचार्योंने ब्रह्मसूत्र टीकाएँ लिख-लिखकर अपने सिद्धान्तका मण्डन एवं अन्य सिद्धान्तोंका खण्डन किया है, तथापि उपनिषदोंसे आरूढ़ करके केवल भगवान् शङ्कराचार्यने ही भाष्य लिखा है।

एक महात्मा हैं, श्रीरामलाल गिरिजी महाराज। कनखलमें रहते हैं। एक बार कोई वेदान्तसम्मेलन हो रहा था। उनको भी उसमें बुलाया गया और वे भी वहाँ बोले। अब समझो कि वे ठहरे पुराने ढंगके महात्मा, खुल्लमखुल्ला कहनेवाले। हमारी बात और है। हम तो चतुराईसे अद्वैतकी बात कहते हैं कि किसीको बुरा भी न लगे और अपनी बात भी कह जायँ। तो वह बोले: मैं एक प्रश्न करता हूँ। भगवान् शङ्कराचार्यके सिवाय और दूसरे आचार्योंने उपनिषदोंपर भाष्य क्यों नहीं किया जबकि उन्होंने गीतापर भाष्य किया और ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किया?" फिर स्वयं ही प्रश्नका उत्तर देते हुए बोले—'इसलिए कि उन्होंने सूत्र और स्मृतिका अर्थ तो अपने भाष्योंमें बदल दिया; परन्तु जब उपनिषद्‌का अर्थ बदलने लगे तो उनका दिल थर-थर काँपने लगा कि जान-बूझकर यदि श्रुतिका अर्थ बदलोगे तो पाप लगेगा

और घोर नरकमें जाना पड़ेगा। इसलिए सिवाय श्रीशङ्कराचार्यके किसीने उपनिषदोंपर भाष्य नहीं किया।"[1]

अब भाई हमने तो श्रीरामलालजीकी बात सुनायी। हम इसी बातको कहते तो ऐसे नहीं कहते। परन्तु फिर भी किसीको बात बुरी लगती हो तो हम सुनायी हुई बातको वापस ले लेते हैं।

'जन्माद्यस्य यतः' से यह बात निकल आयी कि प्रपञ्च सच्चिदानन्दसे भिन्न नहीं है। सच्चिद्से सृष्टि हुई है, इसलिए उससे अभिन्न है। अतः अद्वैत है। असलमें सृष्टि और सृष्टिका भेद तो तब होता जब सचमुचकी सृष्टि हुई होती। जब सृष्टि कल्पित है तो सृष्टि और स्रष्टाका भेद भी कल्पित है। अतः ब्रह्म अद्वय है।

आत्मा ब्रह्म है, यह बात तो महावाक्य कहते हैं; परन्तु प्रपञ्च जो है वह—

तज्जत्वात् तल्लत्वात् तदन्त्वात्

उसीसे उत्पन्न होनेके कारण, उसीमें लीन होनेके कारण, उसीसे जीवित रहनेके कारण, उसीमें अध्यस्त होनेके कारण, उसीसे प्रकाशित होनेके कारण और अपनी प्रतीयमान अनन्तताके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान वही (ब्रह्म) होनेके कारण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें प्रपञ्च नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। इसी बातको समझानेके लिए 'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्' दो सूत्र प्रवृत्त हुए हैं। ●

१- यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। द्वैतवादी मध्वने ऐतरेय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ईशावास्य, काठक, माण्डूक्य, प्रश्न(=षट्प्रश्न) तलवकार इन उपनिषदोंपर भाष्य-रचना की है। ईशावास्य मुण्डक-प्रश्न-श्वेताश्वतर—इन उपनिषदोंका भाष्य रामानुजने किया था, यह कहा जाता है; पर यह सर्वथा अप्रामाणिक है। [सम्पादक]

(३.५)

शब्दमूल ईश्वर

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

'अथ' अर्थात् अधिकार सम्पादनके अनन्तर। समझनेकी इच्छा हो; परन्तु योग्यता न हो अथवा योग्यता हो; परन्तु इच्छा न हो—दोनों दशाओंमें वेदान्तका अधिकार सम्पन्न नहीं होता। योग्यता और इच्छा मिलकर अधिकार पूरा होता है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान--ये योग्यताके अंग हैं। इच्छाके लिए इच्छामें एकता चाहिए। ऐसा नहीं कि इच्छाके अनेक विषय हों और थोड़ी देर इधरकी इच्छा और थोड़ी देर उधरकी इच्छा। यहाँ तो इच्छाको ब्रह्मके साथ विवाह करके एक साथ बैठ जाना है। ब्रह्मज्ञानकी इच्छाके अतिरिक्त अन्य सब इच्छाएँ छूट जायँ, इसीका नाम वैराग्य है। कई बात तो वैराग्य-की कमीके कारण ही समझमें नहीं आतीं।

आजकल सफेद कपड़ेवालोंका बहुमत है। लाल कपड़ेवालोंको चाहे जब निकाल बाहर कर दें। इसलिए साधुओंने भी अपनेको लचकीला बना लिया है। सब ठीक ही है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज एक गाँवमें गये। गाँव वह आर्यसमाजियोंका था। उन लोगोंका कहना था कि ये गेरुआ कपड़ेवाले धरतीपर बोझ हैं (बिना काम किये हुए ही खाते हैं)। वे लोग गोल बाँधकर आये और बाबासे सीधा प्रश्न किया। बताओ संन्यासी श्रेष्ठ हैं या गृहस्थ ?

बाबा : श्रेष्ठ तो गृहस्थ हैं ही भाई! हमारे माँ-बाप भी गृहस्थ हैं।

इस उत्तरसे गाँवके लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बहुत दिनतक बाबाको गाँव रखा और उनकी खूब आवभगत की। धीरे-धीरे बाबाने उनमें वेदान्तका संस्कार डाला।

गृहस्थोंको जबतक माई-बाप न कहो तबतक हमारी बात सुनेंगे नहीं। जबतक एक ओरसे वृत्तियाँ हटती नहीं हैं और परमेश्वरमें लगती नहीं तबतक ज्ञान कैसे होगा?

ब्रह्म अद्वैत पदार्थ है। सारा व्यवहार होते हुए भी ब्रह्म अद्वैत है। जो ज्ञान नहीं है उसको हम लोग अज्ञान ही कहते हैं, चाहे वह धर्माधर्मका भेद हो, चाहे उपासनाका भेद हो, चाहे वह जीव-ईश्वरका भेद हो और चाहे वह समाधि और विक्षेपका भेद हो। ज्ञानके सिवाय सब अज्ञान है। शुद्ध ज्ञानके साथ जो भी जुड़ा है, वह अज्ञानका कलंक है। यदि धर्मके बिना, उपासनाके बिना, समाधिके बिना, ज्ञान नहीं रह सकता तो वह शुद्ध ज्ञान नहीं है। पूर्ण ज्ञानकी कोई स्थिति नहीं होती, ज्ञान ही पूर्ण रहता है। हँसना-रोना, मरना-जीना, आना-जाना सब ज्ञान है।

तो 'अथ' अर्थात् अधिकार सम्पादनके अनन्तर और 'अतः' अर्थात् दूसरे (साधन-साध्यों) से विरक्त होकर 'ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् ब्रह्मविचार करना चाहिए।

यहाँ ब्रह्मकी बात की जा रही है। यह न सृष्टिकी बात है न द्रष्टाकी। स्रष्टा ईश्वर है तत्-पदार्थ और द्रष्टा त्वं-पदार्थ है। स्रष्टा भक्तिमें होता है और द्रष्टा योगमें। वेदान्तमें जो स्रष्टृ-अवच्छिन्न चैतन्य है और जो द्रष्टृ-अवच्छिन्न चैतन्य है, उसमें स्रष्टा और द्रष्टा दोनों औपाधिक हैं। सृष्टिकी उपाधिसे स्रष्टा है और दृश्यकी उपाधिसे द्रष्टा है। दृश्य और सृष्टि दोनों उपाधि

छोड़कर जो सच्चिदानन्द अद्वय सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदोंसे रहित परमार्थ पदार्थ है उसको लखना है और उसे लखनेके बाद सब कुछ वही हो जाता है। इसका पोठ सीधी करके बैठनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है; वृत्ति तदाकार या निराकार, इससे भी सम्बन्ध नहीं है; आँख खुली या बन्द, इससे भी कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी निरंकुश तृप्ति, ऐसा निरंकुश स्वातन्त्र्य, ज्ञान प्रदान कर देता है!

जैसे ज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं वैसे ही अज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ हैं। असलमें अचेतन भावनाकी ही सात भूमिकाएँ हैं ये—

(१) उद्भिज शरीर (जैसे वृक्ष आदि) को 'मैं' मानना।

(२) स्वेदज शरीर (जैसे खटमल, जूं आदि)को 'मैं' मानना।

(३) अण्डज शरीर (जैसे चिड़िया आदि)को 'मैं' मानना।

(४) पिण्डज शरीर (जैसे पशु, मनुष्य आदि)को 'मैं' मानना।

(५) इन्द्रियोंको 'मैं' मानना।

(६) मनको 'मैं' मानना।

(७) देहातिरिक्त जड़ शक्तिको जगत्का कारण मानना।[1]

इन अचेतन भावनाओंकी निवृत्तिके लिए 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्र प्रारम्भ होता है।

---

१. विकल्प : (i) किसी भी स्थूल शरीरको मैं मानना; (१) से (४) तक। (ii) सूक्ष्म शरीरको मैं मानना; (५) से (६) तक। (iii) देहातिरिक्त जड़ शक्तिको जगत्कारण मानना; (७)। अथवा (i) जड़को चेतन मानना; (१) से (६) तक तथा (ii) चेतनको जड़ मानना; (७)।

अब परमेश्वरका विचार करते समय तीन भावोंका उदय होता है—निमित्त भाव, उपादान भाव और प्रिय भाव।

मिट्टीसे गेहूँ पैदा होता है या किसानसे ? गेहूँ तो न मिट्टीसे पैदा होता है, न किसानसे। वह तो बीजसे पैदा होता है। मनुष्य स्त्रीसे पैदा होता है या पुरुषसे ? न स्त्रीसे, न पुरुषसे, वह तो बीजमें-से पैदा होता है। बीजके बिना कोई सृष्टि देखनेमें नहीं आती। कहो कि स्वप्नमें देखनेमें आती है तो वहाँ भी बीज रहता है; दिनके जो कर्म होते हैं अथवा पूर्व जन्मोंके जो बीजात्मक संस्कार हैं, वे ही स्वप्न-सृष्टिके बीज बनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सृष्टिके लिए एक विशेष प्रकारका बीज चाहिए, (देहका) उपादान चाहिए, निमित्त (चेतन) चाहिए और बीज बोनेमें प्रियता चाहिए।

वह मिट्टी क्या है जिससे सृष्टि होती है ? जैसे मिट्टीके कण-कण होते हैं वैसे ही परमाणु हैं। परमाणु अलग-अलग हैं, यह नैयायिकोंने बताया। प्रत्येक परमाणुमें एक विशेष है, यह वैशेषिकोंने बताया। सब परमाणुओंमें एक शक्ति है, यह सांख्यों-ने बताया।

निमित्त कारण सृष्टिका क्या है ? बीज बोनेवाला जो कर्ता जीव है, उसको न्याय-वैशेषिकने बताया। समष्टिका कर्ता ईश्वर है, यह न्यायने बताया।

निमित्त और उपादानका पुरुष-प्रकृति विभाग सांख्य और योगने किया।

हमें केवल देहके बीजको ही नहीं ढूंढ़ना है, बुद्धिके बीजको भी ढूंढ़ना है। 'जन्माद्यस्य यतः'से ब्रह्मको देहका बीज बताया और 'शास्त्रयोनित्वात्'से ब्रह्मको बुद्धिका बीज बताया। पिण्डदेह, ब्रह्माण्डदेह और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका समष्टिदेह, इनका बीज

क्या है ? ऐन्द्रिक ज्ञान, मानसिक ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान, आनुमानिक ज्ञान और इनमें भी पिण्डगत ज्ञान, ब्रह्माण्डगत ज्ञान और समष्टि-गत ज्ञान—इन सब ज्ञानोंका बीज क्या है ? देह और बुद्धिका बीज क्या है ?

देहका बीज वासना है और बुद्धिका बीज प्राज्ञ है, यह विवेक है। ब्रह्म दोनोंका अधिष्ठान है।

जिस समय सो जाते हैं, वासना और बुद्धिका लय हो जाता है; परन्तु क्या इनका अन्त हो जाता है ? नहीं नींदसे उठकर फिर वही बुद्धि और फिर वही वासना चालू हो जाती हैं। सोनेके पहले यदि किसी की मोटर खो गयी तो सोकर उठनेके बाद 'मोटर खो गयी' यह बुद्धि और 'मोटर मिल जाय' यह वासना पूर्ववत् बनी रहती है। इसका अर्थ है कि सुषुप्तिमें वासना और बुद्धि मिटी नहीं। फिर वह कहाँ रहीं ? ये बीजरूपसे प्रलीन हो गया थीं सुषुप्ति-अवस्थामें। इसी प्रकार यदि ब्रह्माण्ड सो जाय तो क्या वासना और बुद्धिका नाश हो जायेगा ? नहीं। इसी प्रकार समष्टिके सो जानेपर भी वासना और बुद्धिका नाश नहीं होगा। ये जो भिन्न-भिन्न आकृतियाँ हैं, सबका साँचा अलग है। साधारण सामान्यसे जाति मानते हैं; परन्तु एक ही जातिके सदस्योंमें भी एक-एक विशेषता सबके भीतर रहती है। साँचेकी जो यह विशेषता है—आयु, जाति और भाग, इनके बीजका नाश नहीं होता।

इसलिए समष्टि प्रलयावस्थाकी उपाधिसे भी चैतन्य शेष रहता है और व्यष्टि प्रलयावस्थाकी उपाधिसे भी चैतन्य शेष रहता है। वह जो चैतन्य है वह तो जैसे धरती हो। सब बीजोंमें उपादान पञ्चभूत हैं; परन्तु प्रत्येक उपाधिका जो अपना वैशिष्ट्य है वह कर्म संस्कारगत है।

बुद्धि है, किसीकी सोई है तो किसीकी जाग रही है—जैसे जड़ सृष्टिमें उत्पत्ति और लय अवस्थाएँ दो होती हैं, जैसे व्यष्टि जीवनमें जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाएँ दो होती हैं। एक जगह जो बुद्धि जाग्रत् रहती है और एक जगह जो बुद्धि सोती है, इस बुद्धिका उपादान ज्ञाता है—व्यष्टि बुद्धिका भी उपादान ज्ञाता है और समष्टि बुद्धिका भी उपादान ज्ञाता है। उसीको प्राज्ञ और ईश्वर बोलते हैं।

विवेक करते समय दो प्रणाली अपनायी जाती हैं: वासना और वासनायुक्त बुद्धि तथा उसके लयका स्थान। बीज न सत् है, न चित् है, न आनन्द है। अज्ञानके कारण अपने अस्तित्वमें, अपने बोधमें और अपनी प्रियतामें जो अहंगत परिच्छिन्नता है, उसके आश्रयसे ही व्यष्टि बुद्धि, व्यष्टि वासना और व्यष्टि आकृति टिकती है। यह परिच्छिन्न अहं अज्ञानका प्रथम कार्य है। यही विपर्यय है और यही आवरण है। इसीसे मुक्त होनेके लिए वेदान्तका विचार किया जाता है।

सुषुप्तिमें जो शुद्ध चैतन्य है और जगत्‌की प्रलयावस्थामें जो शुद्ध चैतन्य है, वे दो नहीं एक हैं। जिसमें बुद्धिका बीज है उसीमें आकृतियोंका भी बीज है, क्योंकि सुषुप्तिमें दोनों (बुद्धि और आकृति) एक हो जाती है और साक्षी बिलकुल अलग रहता है।

अब ये जो हमारे विविध ज्ञान हैं और शासन हैं; जिसकी मनमें स्थिति होती है वह वासनाके अनुसार चलता है, उसका जीवन वासनानुसारी जीवन होता है; और जिसकी बुद्धिमें स्थिति होती है वह शासनके अनुसार चलता है, उसका जीवन शासनानुसारी जीवन होता है।

एक अवस्था सृष्टिकी ऐसी होती है जहाँ शब्द और आकृति दोनों एकमें मिलकर लीन बुद्धिमें विद्यमान रहती हैं और उससे

चैतन्य मिला हुआ रहता है। तो वह जो सर्वज्ञ ईश्वर है उसीसे जैसे रूपका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार नामका भी होता है और 'इस रूपका नाम यह है' इस सम्बन्ध-बुद्धिका भी आविर्भाव होता है।

नामरूपे व्याकरवाणी

यह जो श्रुति कहती है कि मैं नाम-रूप दोनोंको प्रकट करता हूँ, वहाँ रूपका अर्थ है आकृतिवाला प्रपञ्च और नामका अर्थ है शब्दात्मक प्रपञ्च अर्थात् शब्दात्मक बुद्धि। बिना बुद्धिके नाम और रूपका भेद नहीं होता।

नामरूपका विभाजन करनेवाली जो बुद्धि है वह भी प्रलयावस्थामें सो रही थी या नहीं ? कार्यकी जो शक्ति है वह उपादानमें विद्यमान रहती है। जैसे दीपकमें प्रकाशनका सामर्थ्य है तो अग्नि विद्यमान है। परन्तु अग्निमें कारणता है अर्थात् वह प्रकाशनका साधन है, अतः वह चेतन नहीं है, जड़ है। और हमारी जो चैतन्यशक्ति है वह (ज्ञानका) कारण नहीं है, द्रष्टा है, ज्ञाता है, और ज्ञाता ही नहीं स्वयं ज्ञान है।

इसलिए जैसे ज्ञातामें सर्वप्रकाशन-शक्ति विद्यमान है, इसी प्रकार जब वह (ज्ञान) शब्दारूढ़ होकर प्रकट होता है, तो शास्त्रके रूपमें सर्वप्रकाशन-सामर्थ्यको लेकर प्रकट होता है।

ये छुटभैय्ये लोग जो शब्दकी चर्चा करते हैं, वाक्यकी चर्चा करते हैं, उसका कारण यही है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकी चर्चा और उसके विचारसे बचना चाहते हैं। वे कहते हैं कि हमारी बुद्धि बची रहेगी तो पैसा कमानेके काम आयेगी, भोगके काम आयेगी। इसलिए उनका कहना है कि 'आओ, थोड़ी देरके लिए बुद्धिको शान्त कर लें, फिर जब सोकर नौजवान होकर उठेगी (सोनेसे बुद्धिकी जवानी बढ़ती है) तो फिर भोगेंगे।

जैसे ईश्वर समस्त प्रपञ्चका उपादान है—नामका, रूपका, कर्मका, वैसे बुद्धिका भी वही उपादान है। इसलिए बुद्धिमें जो प्रत्येक वस्तुका नाम है और नामका जो अर्थके साथ सम्बन्ध है—उनका भी उपादान वही ईश्वर है।

'चिन्मामणि' पत्रिकाके लिए मैं ऋग्वेदके एक मन्त्रका अर्थ लिखवा रहा था। उस मन्त्रमें था कि ईश्वरने सप्त-सिन्धुओंकी रचना की। वेदके एक टीकाकारने लिखा था कि सप्तसिन्धु अर्थात् भारतदेशकी गंगा, यमुना आदि सात नदियोंकी ईश्वरने रचना की। बात कुछ जमी नहीं। क्योंकि इस मन्त्रमें क्या वेद केवल सनातनधर्मावलम्बी भारतदेशके हिन्दुओंका ही प्रतिपादन कर रहा है या समस्त विश्वमें जो सप्तसिन्धु हैं उनको प्रकाशित कर रहा है? जब सन्तोष न हुआ तो दूसरी टीका देखी। उसमें-से अर्थ निकला कि सृष्टिके वातावरणमें जो नमक उत्पन्न करनेवाला रस है, जो दूध उत्पन्न करनेवाला रस है, जो शक्कर उत्पन्न करनेवाला रस है, जो दही उत्पन्न करनेवाला रस है, जो खटास उत्पन्न करनेवाला रस है, जो मधु (शहद) उत्पन्न करनेवाला रस है—उन सात प्रकारके रसोंका वाचक यहाँ सप्तसिन्धु-पद है और उनकी सृष्टि ईश्वरने की।

अब देखो, जो बुद्धि ईश्वरको हिन्दुस्तानकी एक जाति या संस्कृतिसे महत्त्व प्राप्त सात नदियोंका कारण बताती है वह ईश्वरके अधिक निकट है या वह बुद्धि जो विश्वव्यापी सात रसोंका स्रष्टा ईश्वरको बताती है? निश्चय ही रसोंका स्रष्टा ईश्वरको बतानेवाली बुद्धि ईश्वरके अधिक निकट है।

दुनियामें हिताहितका विचार करनेवाली बुद्धि है और 'यह करना, यह नहीं करना' इस कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विधान भी बुद्धिमें ही है। यह हुआ शासन। परन्तु 'यह सत्य है और यह असत्य

है', यह शासन नहीं शंसन (स्वरूप-कथन) है। यह शंसन भी बुद्धिमे ही है।

शास्त्रके दो रूप होते हैं—प्रथम शासन—यह करो तो हित, यह न करो तो हित और यह करो तो अहित और यह न करो तो अहित और द्वितीय शंसन—यह वस्तु सत्य है, यह वस्तु असत् है और यह वस्तु मिथ्या है।

यह दोनों प्रकारका शास्त्र कहाँ रहता है ? बुद्धिमें। व्यष्टि बुद्धिमें या समष्टिमें ? बिना बीजके तो यह पैदा हुआ नहीं, इसका बीज तो था। जैसे गेहूँ—जौ आदिका बीज होता है वैसे प्रत्येक विशेष बुद्धिका भी बीज होता है। वह बीज कहाँ था ? ईश्वर ही सब शास्त्र-बुद्धियोंका बीज है। 'शास्त्रयोनित्वात्'।

एकने कहा—स्वामीजी, हम विचारके इस पचड़ेमें नहीं पड़ते। हम तो माला लेकर सीताराम, सीताराम या राधेश्याम, राधेश्याम कहते रहते हैं; बड़ा आनन्द आता है। हम कहते हैं—बहुत बढ़िया है भाई, तुम इसमें निष्ठावान हो जाओ। परन्तु यह मत मानो कि यही अवधि है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे कि सत्यको अस्वीकार मत करो और राधेश्याम या सीताराममें तन्मय हो जाओ।

दूसरे सज्जन कहते हैं—स्वामीजी, विचार भी तो एक विक्षेप ही है। हम तो जरा किनाराकश (तटस्थ) हुए जाते हैं। हम तो आँखें बन्द कर लेते हैं और देखो हो गये सबसे तटस्थ, कूटस्थ। हम कहते हैं—बहुत बढ़िया है भाई; तुम इसमें निष्ठावान हो जाओ। परन्तु यह मत मानो कि यही अवधि है।

हम धर्म, भक्ति, समाधि सबको स्वीकार करते हैं, इनसे बहुत बड़ा लाभ है; और जहाँतक लाभका प्रश्न है; जादू-टोटकासे भी लाभ है। परन्तु वेदान्त कुछ और ही चीज है। जहाँतक

'हम', 'हमारा' और 'स्थिति' बनी हुई हैं वहाँतक सत्यसे एक इञ्च नीचे हो—माने वहाँतक मैंको परिच्छिन्नता और उसका द्वैत सम्बन्ध बना हुआ है।

आओ, इस द्वैतका मूल खोजें! अर्थात् ब्रह्मको खोजें। ब्रह्म माने वह अद्वय वस्तु जिसमें समस्त जगत्‌का बीज और शास्त्रका बीज विद्यमान रहता है—शास्त्र-बीज अर्थात् विधि-निषेधमय शासन और सत्यासत्यका शंसन करनेवाली बुद्धिका बीज। वह बुद्धि जो नाम और रूपका सम्बन्ध बताकर, हित और अहितका सम्बन्ध बताकर धर्माधर्म बताती है और जो सत्यासत्यका भेद करके 'सत्य ही एकमात्र वस्तु है असत्य होता ही नहीं', यह बात समझा देती है। ये दोनों बुद्धियाँ ब्रह्मसे ही निकलती हैं।

जगत् और शास्त्रके बीजसे उपहित चैतन्य ईश्वर है।

जब 'जन्माद्यस्य यतः'के 'अस्य' पदपर तथा 'शास्त्रयोनित्वात्'-के 'शास्त्र'पदपर विचार करते हैं (अर्थात् इदंतया वर्तमान और बुद्धिवृत्तिके रूपमें दृश्यमानके स्वरूपपर विचार करते हैं) तो मालूम पड़ता है कि यह बुद्धि क्या है, बस, सर्वज्ञकी बेटी ही है! ऐसी-ऐसी बात बताती है यह कि आश्चर्य होता है।

समझो कि अबसे कोई ११५० वर्ष पहले (और हम लोगोंके हिसाबसे कोई २५०० वर्ष पहले) कुमारिल भट्ट हुए हैं। उन्होंने ऋग्वेदके पहिले मन्त्र 'अग्निमीळे०' की व्याख्या लिखी है। 'रत्नधातमम्' की व्याख्यामें वे लिखते हैं कि 'अग्निसे हीरा बनता है या अग्निके भीतर हीरे भरे हुए हैं' यह बात यदि वेद न बताता तो पहले तो लोग अग्निपर प्रयोग करते कि अग्निमें-से हीरा कैसे निकलता है; परन्तु इस प्रयोग करनेकी प्रेरणा कैसे आती, यदि वेद इस बातको न बताता? तो 'शास्त्रयोनित्वात्'—शास्त्र ब्रह्मसे निकलता है और इसलिए वेद-ज्ञान अपौरुषेय है।

अतः उस अनादि अपौरुषेय वेदमें इस बातका आना कि अग्निसे हीरा निकलता है कोई आश्चर्य नहीं। इस प्रकार वेद अज्ञातका ज्ञापन करता है। जो बात सामान्य मनुष्योंको नहीं मालूम वह बात वेद बताता है।

जब यह वेद प्रकट हुआ तो किस बुद्धिमें हुआ? ईश्वरकी जो समष्टि बुद्धि है उसमें वेद लीन था। जहाँ यह ब्रह्माण्ड लीन था उस समष्टि बुद्धिमें-से ईश्वरने (कल्पके आदिमें) ब्रह्माण्डको निकाला तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको निकाला और उसी समय ईश्वरने अपने अन्दरसे वेदको भी निकाला।

'शब्दोपादानभावात्।' ईश्वर केवल आकृतियोंका ही उपादान नहीं है, वह शब्दका उपादान भी है। अर्थ प्रकट करनेवाली जो ध्वनियाँ हैं (अर्थद्योतनात् ध्वनयः) वे शब्द कहलाते हैं। टेप-रिकार्डर तो सिर्फ ऊँची-नीची ध्वनियोंको जो कण्ठ, तालू, नासिका आदिके प्रभावसे उत्पन्न होती हैं रिकार्ड करता है, उनका अर्थ थोड़े ही रिकार्ड करता है और फिर उन ध्वनियोंको ज्यों-का-त्यों दोहरा देता है। तो ये जो ध्वनियाँ सृष्टिकालमें लीन थीं, वे सब-की-सब अर्थ-द्योतक ध्वनियाँ थीं। जैसे सृष्टिके समय ईश्वरने लीन आकृतियोंके बीजको अंकुरित किया उसी प्रकार उसने लीन ध्वनियोंके बीजको भी अंकुरित किया—अर्थात् ध्वनिकी अर्थद्योतन आनुपूर्वीको ईश्वरने सृष्टिकालमें प्रकट किया।

वह प्रकट करनेवाला जो सर्वज्ञ ईश्वर है और यह जो जाग्रत्-स्वप्नको प्रकट करनेवाला और सुषुप्तिको जाननेवाला जीवात्मा है; वे चैतन्यतः दोनों एक हैं। सोते समय जैसे शब्द और आकृति और शब्द-अर्थ सम्बन्धी ज्ञान तथा उनकी आनुपूर्वी—सब बीजा-वस्थाको प्राप्त होकर सुषुप्तिके साक्षीभास्य बनते हैं और जाग्रत् होनेपर वे सब पुनः ज्यों-के-त्यों उदय हो जाते हैं, उसी प्रकार

प्रलयावस्थामें सब आकृतियाँ और ध्वनियाँ और उनकी आनुपूर्वी बीजरूपमें लीन होकर ईश्वर-भाष्य रहती हैं और सृष्टिके समय ज्यों-की-त्यों पुनः अंकुरित हो जाती हैं। ये दोनों अवस्थाएँ बिलकुल एक हैं, भले ही उनमें एक बड़ी अवस्था और एक छोटी अवस्था हो या एक बड़ेकी अवस्था और एक छोटेकी अवस्था हो। अतः इन अवस्थाओंमें भेद होनेपर भी जो अवस्थाकी प्रकृति है वह बिलकुल एक है। इसलिए इनमें जो सर्वज्ञ चैतन्य है वह भी एक है। वही आत्म-चैतन्य है और वही ईश्वर-चैतन्य है।

इस प्रकार 'शास्त्रयोनित्वात्'का अर्थ है कि सबके मूलमें ब्रह्म है। ब्रह्म वह चीज है जिसने केवल दुनियाँकी सब चीजें ही पैदा नहीं की; बल्कि जिसने जातियाँ भी पैदा की, शब्द प्रकट किये, उनके धर्माधर्म-ज्ञान प्रकट किये और उनमें सत्य और मिथ्याका ज्ञान प्रकट किया।

सत्य और मिथ्या तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी बोधक जो ध्वनियाँ-विशेष हैं उनकी आनुपूर्वीका नाम वेद है। यह चित्त और प्राणकी विशेष दशामें देखनेमें आता है। जैसे यदि हम अपने चित्तको वैखरीसे मध्यमामें, मध्यमासे पश्यन्तीमें और पश्यन्तीमें वेद-मन्त्रोंका परामें ले जाकर बैठा दें, तो परावाक्से तादात्म्यापन्न होते ही साक्षात्कार होता है—वेद-मन्त्र दीखते हैं, सुनायी पड़ते हैं—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे......

(ऋग्वेद २.२३.१)

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् त्विजम् होतारं रत्नधातम्।

(ऋग्वेद १.१.१)

वेद-मन्त्रोंमें केवल भारतवर्षका वर्णन नहीं है, समग्र सृष्टिका वर्णन है और भूत भविष्य-वर्तमान सब सृष्टियोंका वर्णन है;

इसमें पंथाई ईश्वरोंका वर्णन नहीं है, समग्र ईश्वरका वर्णन है। वहाँ वेद बोलता है कि प्रत्येक नाम परमेश्वर है, प्रत्येक रूप परमेश्वर है, प्रत्येक आकृति परमेश्वर है, प्रत्येक बुद्धि परमेश्वर है, क्योंकि ये सब अधिष्ठान सत्तासे ही सत्तावान हैं; अधिष्ठान सबका एक है और अध्यस्त कुछ होता ही नहीं। ऐसे अखण्ड परब्रह्म परमात्माका वर्णन वेदमें प्राप्त होता है। ऐसी अनादि, अविच्छिन्न सम्प्रदायसे प्राप्त अस्मर्यमाणकर्तृक जो नियतानुपूर्वीका ज्ञान है उसका नाम वेद है। उस ज्ञानके अनन्तर कालका भेद हुआ, पूर्व नहीं; उस ज्ञानके अनन्तर कर्तृत्व और कर्ता उत्पन्न हुआ, पूर्व नहीं। इसलिए ज्ञान किसी कर्ताका बनाया हुआ नहीं है, वह कर्ताका प्रकाशक है। ज्ञान कालमें बना नहीं, वह कालका प्रकाशक है। ज्ञानमें भूत-भविष्यका भेद नहीं; क्योंकि वह भूत-भविष्यका प्रकाशक है। ज्ञानका नाश कभी नहीं होता; क्योंकि वह सम्प्रदायाविच्छेदेन प्राप्त है, सम्प्रदाय उसमें पैदा होते हैं और मर जाते हैं। ऐसी जो ज्ञानराशि है उसका नाम वेद है। उस ज्ञानराशिका मूल ब्रह्म है।

इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म जो जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है, वह चेतन है और चेतन होनेसे जड़-सृष्टि ब्रह्मका विवर्त है। इसलिए जड़-सृष्टि मिथ्या है और केवल चेतनतत्त्व सत्य है।

इस प्रकार 'शास्त्रयोनित्वात्'से ब्रह्मका अखण्ड चेतनत्व और 'जन्माद्यस्य यतः'से ब्रह्मका अखण्ड सत्त्व और 'तत्तु समन्वयात्'के द्वारा दोनोंकी बिलकुल एकता प्रतिपादित की गयी है। उस ब्रह्ममें यह सृष्टि-प्रपञ्च—जीवरूपसे भी, ईश्वररूपसे भी और सृष्टिरूपसे भी—ब्रह्मका विवर्त है।

●

(३. ६)

वेदमूल ईश्वर !

जो अद्वैत-वेदान्ती होते हैं वे जगत्के व्यवहारमें कार्य-कारण-भावका बड़ा जोरदार निरूपण करते हैं। उनका कहना है कि बिना बीजके वृक्ष नहीं हो सकता। वृक्ष बीजावस्थामें रहता है और बीजसे ही अंकुरित होता है। वे अभावसे भावकी और असत्से सत्की उत्पत्तिका अनुमोदन नहीं करते। नैयायिकोंके इस मतका खण्डन कि अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है तथा पर-माणुमें कार्य नहीं था—इतने जोरदार ढंगसे भगवान् श्रीशङ्करा-चार्यने अपने बृहदारण्यक-भाष्यके प्रारम्भमें ही कहा है कि पढ़कर आश्चर्य होता है। वह कार्य-कारणभाव मायाका है या वास्तविक है, यह बात दूसरी है। श्रीगौड़पादाचार्यने इस बातको माण्डूक्य-कारिकाके तृतीय प्रकरणमें बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

'कार्य-कारणभाव चाहे वास्तविक हो या मायाका हो, श्रुति तो उसका एक-सा ही वर्णन करेगी।' यह प्रसङ्ग क्यों उठाता हूँ इस बातपर ध्यान दीजिये।

यदि सुषुप्तिमें बीज न रहे तो पूर्वदिनकी स्मृति उत्तरदिनमें नहीं हो सकती। अमुक मेरी माँ है, अमुक मेरा बाप है, अमुक मेरा सम्बन्धी या मित्र है, अमुकको देना है, अमुकसे लेना है इत्यादि ये सब सोकर उठनेके बाद यथापूर्व याद रहते हैं, इससे पता चलता है कि सुषुप्तिमें भी इनका बीज रहता है। इसी प्रकार यदि प्रलयमें जगत्की वस्तुओंका बीज न रहे तो फिर उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अखण्ड सत्तामें अखण्ड चेतनामें, अखण्ड आनन्दमें बिना बीजभावके हुए यह विविधात्मक सृष्टि नहीं हो सकती। किसानके घरमें यदि तरह-तरहके बीज न हों तो तरह-

तरहकी फसल नहीं हो सकती और यदि मिट्टीमें तरह-तरहके बीज न डाले जायँ तब भी तरह-तरहके अङ्कुर नहीं हो सकते। न माटीमें अनेक प्रकारके पौधे उत्पन्न करनेकी शक्ति है और न तो किसानमें वह शक्ति है। वह तो बीजकी विलक्षणतासे ही विविध फसलें होती हैं। इसलिए प्रलयकालमें सम्पूर्ण अशेष-विशेष बीजावस्थामें (कारणमें) लीन हो जाता है और सृष्टिकालमें वही पुनः प्रकट हो जाता है।

लोग कहते हैं अद्वैतियोंसे कि 'तुम्हारा अभेद अच्छा है कि कार्य भी है, कारण भी है और बीजभाव भी है और फिर भी अद्वैत है।' असलमें जो लोग शास्त्रीय रीतिसे अद्वैत-प्रक्रियाका स्वाध्याय नहीं करते; उनकी समझमें यह बात नहीं आती। जो लोग केवल समाधिमें, निवृत्तिमें या स्वरूपस्थितिमें अद्वैत मानते हैं वे तो सचमुच व्यवहारसे विमुख होनेके मार्गमें हैं। वह तो दुनियाके लिए बड़ा अहितकारी है; उससे तो अर्थका, धर्मका, कामका, संस्कृतिका, इतिहासका सबका लोप हो जायेगा। वह स्थित्यात्मक अद्वैत बोध तो लोपात्मक हो जायेगा। ऐसा माननेवाले लोगोंने तो मानो अद्वैतको किसी गुफामें कैद कर दिया। परन्तु यह जो औपनिषद अद्वैत है वह गुफामें कैद नहीं है, वह तो महाभारतमें भी कृष्णाद्वैत है, अर्जुनाद्वैत है, भीष्माद्वैत है। श्रीकृष्ण अपनेको ब्रह्म भी देख रहे हैं, सारथी भी; अर्जुन अपनेको ब्रह्म भी देख रहे हैं और योद्धा भी; भीष्म अपनेको ब्रह्म भी देख रहे हैं और संग्राम भी कर रहे हैं।

जो प्रवृत्ति-निवृत्तिमें समत्व होता है वह शास्त्रीय प्रक्रियासे अद्वैत-बोधमें होता है और अशास्त्रीय प्रक्रियामें जैसे कोई भागकर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और अपनी मनोवृत्तियोंसे भागकर गुफा में बैठकर कोई अनुभव करे कि अब मैं अद्वैत हूँ, अब

मैं अकेला हूँ, मैं ही मैं हूँ। योगका अद्वैत कमरा बन्द करके अकेलेपनका अद्वैत है, भले उस योगी-बेचारेको यह न मालूम हो कि उस कमरेमें उसके सिवाय कितनी मक्खी, कितने मच्छर, कितने कीट-पतंगादि हैं। वह तो अकेलेपनका अभिमान हो कर रहा है बस!

परन्तु यह जो हमारा शांकर-प्रक्रियारूढ़ औपनिषद वेदान्त है उसमें व्यावहारिक बीजांकुरभाव सत्य होनेपर भी परमार्थ दृष्टिसे वह अकिंचित्कर है। इसलिए न उसमें कार्यमें बन्धन है, न कारणमें बन्धन है। गुफामें रहो तो ठीक और मैदानमें रहो तो ठीक। व्यवहारका इतना स्वातन्त्र्य द्वैतके अद्वैत हुए बिना और द्वैतमें अद्वैत हुए बिना सम्भव नहीं है। बाधित द्वैत और पारमार्थिक अद्वैत। द्वैत भी भासमान है और अद्वैत भी भासमान हैं। अद्वैत स्वरूप-रूपसे भासमान है और अबाधित है। द्वैत अन्यरूपसे भासमान है और बाधित है; वह देश-कालमें परिवर्तनशील होता हुआ स्वरूपका विवर्त है और इसलिए मिथ्या है। जादूके खेलमें साँपसे खेलनेमें डर कैसा? द्वैत तो दाँत टूटा हुआ साँप है। जो लोग अद्वैतको व्यवहार-विरोधी मानते हैं वह ठीक नहीं जानते हैं।

बीज और अङ्कुरकी थोड़ी बात और सुनाते हैं।

प्रलयमें भी समग्र सृष्टिका बीज रहता है; उपादानरूपसे अज्ञान रहता है। कोई कहते हैं कि ब्रह्म उपादान है और कोई कहते हैं कि माया (अज्ञान) उपादान है। अद्वैत-वेदान्तमें इसका बड़ा भारी विचार है; परन्तु ये मात्र प्रक्रियाभेद हैं; लक्ष्य दोनोंका एक है। माया निमित्त है और ब्रह्मरूप उपादानमें वह अनेकताको दिखाती है, यह एक पक्ष है। और दूसरा पक्ष वह है कि ब्रह्म निमित्त है और मायारूप उपादानमें जो बीजभूत अनेकता है, उसको वह प्रकट करता है।

यदि बीजकी सत्ताको न मानें तो सोनेके बाद जाग्रत् नहीं हो सकता, मुक्ति होनेके बाद फिर जन्म होगा, अनावृत्तिका वर्णन लुप्त हो जायेगा; क्योंकि जब बिना बीजके ही जन्म होता है तो निर्बीज मुक्तिसे भी जन्म सम्भव है। जीवन्मुक्ति नामकी चीज ही गायब हो जायेगी, मुक्ति सिद्ध नहीं होगी और सृष्टि-प्रलयकी प्रक्रिया भङ्ग हो जायेगी। इसलिए प्रलय और सुषुप्तिदशामें बीजको स्वीकार करते हैं।

परमार्थमें बीज है या नहीं ? इसको भी काट देते हैं। देखो, बीज भी पञ्चभूत हैं और खेत भी पञ्चभूत हैं। दोनोंमें फरक क्या है ? खेतकी सत्ता निर्बीज है, माने मृत्तिका निर्बीज है और संस्कार-युक्त जो मृत्तिका—पिण्ड है वह सबीज है। अब देखो, गोली मारो ! जहाँ सत्-दृष्टि है वहाँ बीजाङ्कुरभाव नहीं है। जहाँ चित्-दृष्टि है वहाँ भी बीजाङ्कुरभाव नहीं है। परन्तु यदि बीज ही न हो तो ज्ञान प्राप्त करके भी क्या करोगे ? वेदान्तज्ञानका प्रयोजन ही व्यर्थ हो जायेगा।

ज्ञानदाह्यबीजाभावे च अनिर्मोक्ष-प्रसंगः।

यदि ज्ञानसे जलानेके लिए कोई बीज ही न हो तो ज्ञान काम ही क्या करेगा ? मोक्ष ही सिद्ध नहीं होगा।

अब यदि पञ्चभूतमें संस्कारयुक्त कोई बीज है और आप उसे नष्ट करना चाहते हैं तो आप आगसे उसे जला दीजिये। चनाको भून दो तो उसको बोनेपर भी उसमें-से अंकुर नहीं निकलेगा। अच्छा ठीक है, यदि जड़ बीज और अंकुरका स्थल होवे तो वहाँ आगसे बीज जलाया जा सकता है। परन्तु जहाँ चेतनमें ही बीजा-ङ्कुर-प्रसंग हो तो ? चेतन स्वरूपके अज्ञानसे ही जो बीजाङ्कुर है उसमें अज्ञानको जलानेके लिए ज्ञानकी जरूरत पड़ेगी। असलमें, शुद्ध स्वरूपमें कार्य-कारणभाव बुद्धिकी एक ग्रन्थि है अर्थात् भ्रान्ति है और नासमझीसे आयी हुई है।

एक महात्मा कहते हैं कि नासमझीको जान लो तो नासमझी मिट जाती है। अर्थात् नासमझी (अज्ञान) को समझना ही ज्ञान है। शास्त्रीय दृष्टिसे इसमें थोड़ा परिष्कार अपेक्षित है। नासमझीके विषय अर्थात् ब्रह्मको और नासमझीके आश्रय अर्थात् स्वयं अपने आपको—इन दोनोंके ऐक्यको समझना ज्ञान है। असलमें नासमझीने इन आश्रय और विषयको अलग-अलग कर दिया है। इसलिए यदि आश्रय विषय-सहित नासमझीको जान लो तो नासमझी मिट जायेगी। इसका अर्थ है कि अधिष्ठान और प्रकाशकके ऐक्य-ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त होता है, न कि अज्ञानके ज्ञानसे।

वेदने प्रश्न किया कि विराट्में ये घोड़े पैदा हो रहे हैं, ये भेंड़-बकरियाँ पैदा हो रही हैं, ये कहाँसे पैदा हो रही हैं ? और उत्तर दिया कि उसी परमेश्वरसे ये सब पैदा हो रहे हैं—

तस्माद् अश्वा अजायन्त····तस्माज् जाता अजा वयः।

(ऋग्वेद १०.९०.१०)

तो बोले कि बस, ये वेद भी उसी परमेश्वरसे पैदा होते हैं। वेदके भी बीज होते हैं—

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत॥

(ऋग्वेद १०.९०.९)

उसीसे ऋग्वेद प्रकट हुआ, उसी से सामवेद प्रकट हुआ, उसीसे यजुर्वेद प्रकट हुआ। यह वेद भी विराट्में प्रकट हुआ। जैसे बीजसे घोड़े-बकरी पैदा होते हैं वैसे ही बीजसे वेद भी प्रकट हुए।

कार्य-कारणके अन्तर्गत ही वेद है। यह सृष्टि अनादि है—इसमें नाम-रूप अनादि हैं, भेद अनादि हैं। वेद अनादि हैं; परन्तु यह अनादित्व कबतक ? वेदकी यह महिमा है कि प्रयोजनको

निवृत्तिके बाद स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। जैसे प्यास लगी तो पानी पीया। जब प्यास निवृत्त हो गयी तो गिलासमें बचे हुए पानीका मूल्य क्या? उसे फेंक दोगे न! प्यासके लिए जलकी कितनी आवश्यकता है; परन्तु प्यास बुझनेपर शेष जलको फेंक देते हैं। उसी प्रकार अज्ञान मिटानेके लिए ज्ञानरूप वेदकी बहुत जरूरत है; परन्तु अज्ञान-निवृत्त होनेपर वह वेद भी निष्प्रयोजन हो जाता है।

वेद ऐसा ज्ञान देता है कि उसके बाद कोई ज्ञान शेष नहीं रहता—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति। (मुण्डक १.१.३)

उपनिषद्‌की यह प्रतिज्ञा है कि वह ऐसा ज्ञान देता है कि जिसको जान लेनेपर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। इन्द्रियोंके द्वारा बुद्धिमें जो ज्ञान भरा जाता है वह उपनिषद्-ज्ञान नहीं है। इसी बातको श्रीकृष्ण गीतामें इस प्रकार कहते हैं—

यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यज् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते। (७.२)

'जिसको जान लेनेपर कोई अन्य ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।'

यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। (१३.१२)

'जिसको जानकर अमृतका भोग करता है।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं एवं यास्यसि पाण्डव। (४.३५)

'हे अर्जुन, जिसको जानकर फिर पुनः मोहको प्राप्त नहीं होता।'

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति नचिरेणाधिगच्छति। (४.३९)

'ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही परं शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' ये सब वृन्दावनके ग्वारियाकी वाणी है महाराज! श्रुतिका सार!

जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि जहाँ ज्ञानका ज्ञाता ज्ञानके पीछे नहीं रहता और ज्ञेय ज्ञानके सामने नहीं रहता,

अर्थात् जब ज्ञानकी त्रिपुटी समाप्त हो जाती है और ज्ञान ही अखण्ड ब्रह्मके रूपका अनुभव हो जाता है तो वहाँ वेदकी निवृत्ति हो जाती है। वेद अनादि रहकर भी प्रयोजन-पर्यन्त रहते हैं और बाधित हो जाते हैं—'षडस्माकं अनादयः' (संक्षेपशारीरक)। जगत् जीव, ईश्वर और इनका भेद अनादि होनेपर भी सब अनन्त नहीं होते, सान्त होते हैं।

स्वर्गीय बाबू सम्पूर्णानन्दजी (उत्तर प्रदेशके भूतपूर्व मुख्य मन्त्री) कहते थे कि जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। वैज्ञानिक लोगोंको पहले परमाणु विखण्डनकी प्रक्रियाका अज्ञान था! कबसे था? अनादि कालसे। परन्तु जब १९४५ में परमाणु बम्ब बना तो उसका अज्ञान निवृत्त हो गया। आप मान लो रूसी भाषा नहीं जानते। कबतक उसका अज्ञान रहेगा आपको? जबतक आप भाषा सीख नहीं लेते। मतलब यह कि अज्ञान अनादि होनेपर भी ज्ञान द्वारा सान्त है; अनन्त नहीं है।

वेद अर्थात् विशेष-विशेष ज्ञानोंका बीज और उनकी निवृत्ति परमेश्वरसे ही निकलता है। और वेद ही यह बताता है कि चैतन्यमें ही इन सब विशेष-विशेष ज्ञानोंका अध्यारोप होता है और उसीमें उनका अपवाद होता है। तथा अपवाद हो जानेपर शुद्ध-चैतन्य ही शेष रहता है। फिर अध्यारोप दशामें भी सब कुछ चैतन्याभिन्न ही है।

फूलोंको अलग-अलग पहचानना, उनकी माला बनाना, एक बात है। फूलोंकी जातियाँ पहिचानना एक बात है। फूलोंमें पञ्चभूत पहचानना, यह दूसरी बात है। और सत्ता आत्म-स्वरूप ज्ञानसे अभिन्न होती है, यह चौथी बात है।

यदि सत्ता आत्मसत्तासे पृथक् हो जाय तो सत्ताकी पृथक्ता-का जो प्रकाशक है और अधिष्ठान है वह सत्ताकी पृथक्ताके अभावका भी प्रकाशक और अधिष्ठान होगा। तब ? पृथक्ता अपने अभावके अधिकरणमें प्रकाशित होनेके कारण मिथ्या हो जायेगी। इसलिए यदि कोई सत्ता हमारो आत्मासे पृथक् होगी तो वह अतथ्य होगी, मिथ्या होगी, वितथ होगी। ज्ञान स्वरूपसे पृथक् सत्ताकी कल्पना हो अमंगल है चाहे वह देशकी सत्ता हो, कालकी या इनके कारणकी अथवा उस कारणावच्छिन्न चेतन्य (ईश्वर) की। हमारी श्रुति भगवती कहती हैं—

प्रतिबोधविदितं मतम्। (केन २.४)

'वह प्रत्येक बोधमें अनुगत है।' घटबोध, मठबोध, पटबोध, स्त्रीबोध, पुरुषबोध, शरीरबोध– विषयके भेदसे अनेक आकार बोधके आते हैं; परन्तु ये आकार तो प्रक्षिप्त हैं और बोध स्वयं निराकार है। आकार और आकारका अभाव दोनों एक अधिष्ठान में भास रहे हैं। अतः जिस एक प्रकाशमें ये भास रहे हैं उसमें आकार और आकारका अभाव दोनों मिथ्या हैं।

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्।

अपने अभावके अधिकरणमें भासना मिथ्यात्वका लक्षण है।'

बोज रहता है सुषुप्तिकालमें और प्रलय कालमें और अंकुर रहता है जाग्रत और सृष्टिकालमें। ये बीज और अंकुर भी बदलते रहते हैं। बोज अंकुर हो जाता है और अंकुर बोज हो जाता है। गेहूँसे तना निकलता है और तनेसे गेहूँ। अतः बोजाङ्कुररूप यह सृष्टि अनिर्वचनीय है।

अनिर्वचनीयसे पूर्व ज्ञान है। अर्थात् अनिर्वचनीयको ज्ञान ही देश, काल द्रव्य और इनके अभावको प्रकाशित करता है। ज्ञान अपना आपा है।

ज्ञान देश, काल, द्रव्य और अनिर्वचनीय कार्यकारणसे पहले है। किसी भी व्यक्तिके बननेसे पहले ज्ञान है, उसके मरनेके बाद ज्ञान है। अन्तःकरणके पहले ज्ञान है और बादमें ज्ञान है। विषयोंसे पहले ज्ञान है, बादमें ज्ञान है। स्मृतिसे भी पहले ज्ञान है, बादमें ज्ञान है। ज्ञानका स्वरूप है—कालापरिच्छिन्न, अस्मर्यमाणकर्तृक, सम्प्रदायाविच्छेदेनप्राप्त, अनादि, अपौरुपेय। वह भोक्ता, स्मृति, पौरुष, सम्प्रदाय और अनुभवसे पूर्व है। यह वेद अर्थात् ज्ञानका स्वरूप है।

यदि वेद शब्दका अर्थ ठीक-ठीक समझें तो हमें आत्मज्ञान हो जायेगा। और वेदको सफलता ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानमें हो जाती है। यह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान कहाँसे उदय होता है? वेदसे। अकल्पित ज्ञान है वेद और कल्पित ज्ञान भी है वेद। कल्पित ज्ञानके द्वारा अकल्पित ज्ञानको प्राप्त कराना यह वेदका उद्देश्य है।

वेद कल्पित अनादि हैं और आत्मा अकल्पित अनादि है। वेद अस्मर्यमाणकर्तृक हैं (अनुभूत ज्ञानको याद कर-करके नहीं बनाये गये) और आत्मरूप ज्ञान अकर्तृक है (आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, उसका ज्ञान औपाधिक या बनाया हुआ नहीं है)। वेद अपौरुषेय हैं (अर्थात् वृत्ति-विशेष नहीं हैं) और आत्मा उस अपौरुषेयताका भी प्रकाशक है)। वेद सम्प्रदायाविच्छेदेन प्राप्त हैं और आत्मा प्रत्येक बोधमें अनुगत है। वेद ज्ञानस्वरूप आत्माका उपलक्षण है।

वेदकी आनुपूर्वी क्या है?

बोधे बोधेऽनुविद्धा श्रुतिशिरसि सदा संविदेका प्रसिद्धा।

जितना अलग-अलग ज्ञान होता है व्यवहारमें, उसमें विषय अलग-अलग होता है; परन्तु ज्ञान अलग-अलग नहीं होता। विषयों-

को उपाधिसे, अन्तःकरणको उपाधिसे, इन्द्रियोंको उपाधिसे अखण्ड ज्ञान अनेक रूप हो रहा है; परन्तु संविद् बिलकुल एक है।

बोधा भिन्ना उपाधेर्निरुपधिकतया भिद्यते सा कथंचित् ।

उपाधिके कारण बोध अनेकरूप भासते हैं। निरुपाधिक होनेके कारण यह जो संविद् है, उसमें भेद भला कैसे हो सकता है ?

वेद सुषुप्ति और प्रलयावस्थामें बीजके रूपमें रहता है। सुषुप्ति-अवस्थामें वेदका स्मरण तक नहीं रहता। उस समय वेद कहाँ रहता है ? जाग्रत्में जिन वेदमन्त्रोंका स्मरण करते हैं उनकी योनि कहाँ है ? अर्थात् उनका बीज कहाँ है ? सुषुप्तिमें। तो वेदकी आनुपूर्वी भी सुषुप्तिमें बीजरूपसे रहती है। आनुपूर्वी अर्थात् क्रम। पहले कौन-सा मन्त्र, पीछे कौन-सा मन्त्र; मन्त्रोंमें भी पहले कौन-सा शब्द, पीछे कौन-सा शब्द; शब्दोंमें भी पहले कौन-सा अक्षर, पीछे कौन-सा अक्षर—इस प्रकार मन्त्रोंको, शब्दों-की, अक्षरोंकी, ध्वनियोंकी, अर्थोंकी, सबकी आनुपूर्वी है और ये सब मिलकर वेदकी आनुपूर्वी पूरी होती है। 'शं नो मित्र०' वेद-मन्त्र पहले बोलते हैं और 'स्वस्तिन इन्द्रो०' मन्त्र पीछे बोला जाता है। 'शंनो मित्र०' मन्त्रमें पहले 'शं' है पीछे 'नो' और 'मित्र' इत्यादि हैं। मित्रमें भी पहले 'मि' है फिर 'त्र' है। यह आनुपूर्वी कहलाता है। तो प्रलयावस्था और सुषुप्ति-अवस्थामें वेद और वेदकी आनुपूर्वी बीजरूपमें परमेश्वरमे निवास करते हैं। जैसे सुषुप्तिकालका ज्ञान कि 'मैंने कुछ नहीं जाना' सुषुप्तिमें रहता है उसी प्रकार प्रलयका साक्षी-ज्ञान प्रलयमें रहता है। उसी साक्षीके सान्निध्यसे बीज-भावका प्रलय और उदय होता है।

●

(३.७)

क्या ईश्वर वेदकी रचना करता है?-१.

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात् तत्तु-समन्वयात्।

हम चल रहे हैं; परन्तु कहाँसे कहाँको, इसका पता नहीं। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'के अनुसार चलना, चलना नहीं होता। इसके लिए जीवनमें एक 'अथ' चाहिए। जहाँसे 'अथ' होता है वहांसे जीवनका प्रारम्भ होता है।

'अथ' अर्थात् जीवनके लक्ष्यके लिए हम अपने जीवनको एक खास रास्तेपर डाल रहे हैं। यह विवेकका मार्ग है, वैराग्यका मार्ग है, मनकी शान्तिका मार्ग है, मर्यादित इन्द्रिय-व्यापारका मार्ग है, कर्मविक्षेपको छोड़नेका मार्ग है, संशयको छोड़नेका मार्ग है। जहाँ फँसे हुए हैं वहांसे मुक्त होनेका मार्ग है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'।

परिच्छिन्नके ज्ञानमें अरुचि और अतृप्ति हो और एकमात्र अनन्तके ज्ञानकी इच्छा तथा विवेक हो तो अपने आप ही जीवनमें वैराग्य, शान्ति, उपरामता हो जाती है।

बहुत-सी कक्षाओंमें वेदान्तके ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं। परन्तु पोथीका वेदान्त दूसरी चीज है और अनुभवके मार्गमें वेदान्त पढ़ना दूसरी चीज है। हम परमेश्वरका, परमार्थसत्यका अनुभव करनेके लिए वेदान्त-शास्त्रका स्वाध्याय करते-कराते हैं।

जिस वस्तुको हम ब्रह्म अर्थात् अनन्त कहते हैं उसको क्या जगत् या अपनी आत्माको छोड़कर समझ सकते हो? कहो कि ब्रह्म जो होय सो होय, हमें उससे क्या मतलब? तो यह विचारका मार्ग नहीं है। इसका अर्थ है कि तुम अज्ञान पसन्द करते हो। जब प्रपञ्चका स्रोत अज्ञात रह जायेगा तो अनन्त ब्रह्मका अनुभव ही कहाँ हुआ? इसी प्रकार यदि आत्मा, जीव, ईश्वर—इनका स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ तो अनन्त ब्रह्मका अनुभव कहाँ हुआ? ब्रह्म तो वह चीज है जिसमें कोई चीज अज्ञात बचती ही नहीं है: 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'।

हम राधास्वामी दयालुके पास गये और अपनी ब्रह्मजिज्ञासा उनके पास प्रकट की। वे बोले: 'ब्रह्म तो बहुत छोटी चीज है। हम तो तुम्हें और ऊपर ले जा सकते हैं। पहले आज्ञाचक्र, फिर त्रिकुटी (यह ब्रह्मका स्थान है), फिर भ्रमरगुफा इत्यादि (यह परब्रह्मके स्थान हैं); इसके बाद शून्य फिर महाशून्य फिर गुरुधाम और कुल्लेमालिक।' मैंने कहा—'आप अपने बेटेका नाम ब्रह्म रख लो तो हमें क्या आपत्ति हो सकती है।'

वेदान्तमें कोई रक्तबिन्दुका नाम ब्रह्म नहीं है। न किसी व्यक्तिका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म तो वह अनन्त चेतनतत्त्व है जिसके ज्ञान होनेपर सब कुछ विज्ञात हो जाता है। उपनिषद्की यह

प्रतिज्ञा है और ब्रह्मज्ञानकी यह कसौटी है। यदि सब कुछ ब्रह्म न होता तो ब्रह्मज्ञानसे सर्वके ज्ञानकी प्रतिज्ञा पूरी न होती। बल्कि वस्तुतः ब्रह्ममें सर्व नहीं है। जबतक सर्वका सम्बन्ध—व्यक्तिशः तथा समग्रतः ब्रह्मसे नहीं होगा, तबतक उपनिषद्की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी। श्रुति कहती है—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(छान्दोग्य० ६.१.४)

केवल मृत्तिका ही है, मृत्तिकाके विकार (घट, सकोरा इत्यादि) तो केवल नाम मात्र ही हैं। इसी प्रकार केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत्की वस्तुएँ, जीव, ईश्वर, सब उसीके नाम मात्र हैं, उसीके विवर्त हैं। ब्रह्मके बारेमें वेदान्तमें यह बात कही गयी है कि सत्य उसको कहते हैं जो अकेला सच है और दूसरी जितनी चीजें हैं वे केवल कहने भरके लिए हैं, नाम मात्र हैं। अधिष्ठानके ज्ञानसे सब अध्यस्तोंका ज्ञान हो जाता है।

ब्रह्मके ज्ञानसे यह-यह, तुम-तुम, तुम-मैं, मैं-मैं, का सब भेद नष्ट हो जाता है। 'अहमो बहुवचनं नास्ति'। क्यों? क्योंकि यह, यह-यह, ये (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) अनुभव होता है, तुम, तुम-तुम, तुम सब लोग अनुभव होता है; परन्तु मैं, मैं-मैं, अनुभव नहीं होता। (अहंका द्विवचन या बहुवचन अनुभव नहीं होता। अहंकी एक इकाई ही अनुभव होती है)। इसलिए अहंका बहुवचन अहंका विवर्त होता है। 'वयम्'में 'अहम्' कहाँ गया? इसलिए 'वयम्' 'अहम्'का विवर्त है।

एक दूसरा उदाहरण विवर्तका (व्याकरणमें) है कि धातु है दृश् और उसके रूप चलते हैं पश्यति, पश्यतः, पश्यन्ति। तो ज्ञानार्थक जो दृश् धातु है उसका विवर्त है 'पश्यन्ति'। 'पश्यति' न दृश् धातुका परिणाम है, न विकार, न आरम्भ और न स्वरूप

दृङ्मात्र जो आत्म वस्तु है उसमें पश्यति त्रिपुटीकी औपाधिक क्रिया है।

जितनी चीजें और बुद्धियाँ दुनियामें दीखती हैं, वे ब्रह्मसे जुदा नहीं है। यदि जुदा होंगी तो ब्रह्मके ज्ञानसे उन सबका ज्ञान नहीं हो सकता। 'वाचारम्भणम्' कहकर यही बताया कि ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है और प्रतिज्ञा की कि एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है।

हम योगदर्शनकारसे पूछते हैं कि तुम्हारे मतमें कोई ऐसी वस्तु है क्या कि जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाय? ठीक है, समाधिमें दूसरी वस्तुका भान नहीं होता, परन्तु भान न होनेसे ही अस्तित्व नहीं मिटता और न वह वस्तु द्रष्टासे अभिन्न हो जाती है।

सांख्यसे पूछा तो बताया कि हमारा पुरुष तो प्रकृति और प्राकृत पदार्थसे न्यारा है। असलमें सांख्यमतमें ब्रह्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं।

आप वेदान्तमतको भले स्वीकार न करें; परन्तु कम-से-कम जो वेदान्त नहीं है उसको वेदान्त न मानें। वेदान्त बताता है कि द्वैत-प्रपञ्चमें प्रवृत्ति और निवृत्ति समान हैं। व्यापार करो या समाधि लगाओ, कुछ भी करो, सब ब्रह्म हैं और कुछ भी न करो तब भी ब्रह्म है। ब्रह्म-ज्ञानमें पराधीनतासे मुक्ति है, निरंकुश स्वातन्त्र्य है।

'जन्माद्यस्य यतः'से यह बात बतायी जाती है कि यह जो दुनिया है उसका आधार (स्थिति) और अनन्य उपादान (उत्पत्ति और लय) सब ब्रह्म है। तो क्या परिणामसे उत्पत्ति, सम्बन्धसे धारण और कार्य-कारण भावसे लय होता है? नहीं।

यह तो तब सम्भव होता जब ब्रह्म जड़ होता। 'यत्' पदका अर्थ है 'चेतन' और शास्त्रयोनित्वात्' इस चेतनत्वकी पुष्टि करता है। ब्रह्म चेतन सिद्ध होते ही मामला पलट जाता है। चेतनमें न परिणामसे, न सम्बन्धसे और न कार्य-कारण भावसे ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सम्भव है। चेतनमें तो सब विवर्त रूपसे ही (मिथ्या प्रतीतिके रूपमें) सम्भव है।

यदि चेतन्यसे सृष्टि हुई तो चैतन्य आधा-अधूरा सृष्टिमें परिणत हुआ या पूरा-का-पूरा सृष्टिके रूपमें परिणत हो गया ? यदि पूरा परिणामको प्राप्त हो गया तब तो चैतन्य ही नष्ट हो गया और यदि आधा पैदा हुआ तो इस परिणामका ज्ञाता न्यारा रहा। यदि कहो कि बदल-बदलकर कभी चैतन्य और कभी सृष्टि हो जाती है, तो यह बदलना किसको मालूम पड़ा ? वह तो न्यारा ही रहा ! इसलिए जब चैतन्यको सृष्टिका उपादान बताया जाता है तो चाहे श्रुति वर्णन करे और चाहे महात्मा, उसका अर्थ होता है कि चेतनमें द्वैतकी प्रतीति होती है, चेतनमें सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय वास्तवमें नहीं होते। माने, विवर्तमात्र उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-युक्त होता है। चैतन्यके विरुद्ध भासनेका नाम विवर्त है। जड़में उत्पत्ति होती है, चैतन्यमें प्रतीति होती है; जड़में प्रलय होता है, चैतन्यमे बाध होता है। जड़में आधार-आधेय भाव होता है। असलमें उत्पत्ति आदि शब्द लोक-शब्दोंके अनुवाद हैं। चैतन्यमें उत्पत्ति माने प्रतीति, स्थिति माने अध्यस्त-भाव और लय माने बाध होता है। ये चेतनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः'से जिस ब्रह्मका लक्षण किया, वह चैतन्य ब्रह्म।

चैतन्य वस्तु जो होगी, जिसमें जन्म और प्रलय प्रतीत होते हैं, वह कालसे पहले होनेके कारण कालसे परिच्छिन्न नहीं है

और आधार होनेके कारण देशसे परिच्छिन्न भी नहीं है तथा उपादान होनेके कारण वस्तुसे भी परिच्छिन्न नहीं है। ऐसी अपरिच्छिन्न वस्तु चैतन्य होनेसे उसमें कार्य-कारण भावकी प्रतीति आधार-आधेय भावकी प्रतीति, उपादान-उपादेय भावकी प्रतीति सब चेतनके विवर्त हैं। ऐसा चेतन हमसे एक या जुदा ? बिलकुल एक; क्योंकि यदि चेतन आत्मासे न्यारा होगा तो, या तो वह दृश्यतः ज्ञात होगा और इसलिए वह सापेक्ष, जड़ और पराधीन हो जायेगा (तब वह चेतन ही नहीं रहेगा) और यदि वह ज्ञात नहीं होगा, तो वह परोक्ष और कल्पित होगा। इसलिए चेतन जब होगा, आत्मासे अभिन्न होगा।

चेतनकी अद्वितीयता समझानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति है। न तुमसे जुदा ईश्वर है, न जीव है और न जगत् है और न इनका भेद है। वेदान्त कहता है—'अहं ब्रह्मास्मि।' इस अनुभवका उल्लेख वृत्तिमें होना चाहिए। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बातपर विश्वास करनेका नाम ब्रह्म नहीं है। विश्वास उपासनामें आवश्यक होता है, साक्षात्कारमें विश्वास नहीं किया जाता। वहाँ तो वस्तुका अपरोक्ष होता है। सोऽहम्, शिवोऽहम् दोहराना उपासनाके अन्तर्गत है। वेदान्तके ज्ञानके लिए एक प्रक्रिया होती है।

योगी कहते हैं कि वृत्तिको दोहरानेकी अपेक्षा तो सो जाना ठीक है। समाधि आध्यात्मिक सुषुप्ति होती है। प्रश्न यह नहीं है कि साधन कौन-सा श्रेष्ठ है। प्रश्न यह है कि आपका व्यावर्त्य क्या है, आपका निवर्त्य क्या है ? निवर्त्यके अनुसार साधन होता है। काम-निवृत्तिके लिए ब्रह्मचर्य-व्रत साधन है। क्रोध-निवृत्तिके लिए अहिंसा-व्रत साधन है। लोभके लिए अस्तेय और अपरिग्रह साधन हैं। मोहके लिए अलग रहना और ईश्वरसे मोह करना

साधन है! संसार-वासनासे निवृत्तिके लिए 'अहं ब्रह्मास्मि'की आवृत्ति साधन है।

भरो सराय रहीम लखि आप पथिक फिर जाय।

यह (अहं ब्रह्मास्मिकी आवृत्ति) विक्षेप होनेपर भी साधक-विक्षेप है। यह विवाहित वृत्ति है, वेश्यावृत्ति नहीं है।

समाधिमें विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है, परन्तु अज्ञान-निवारणका सामर्थ्य समाधिमें नहीं है क्योंकि अज्ञान ज्ञानसे निवृत्त होता है। अज्ञानका प्रतिभट है ज्ञान, शान्ति नहीं।

वेदान्त-ब्रह्म सत्य है और ज्ञान है। सत्य जड़ हो सकता है और ज्ञान असत्य हो सकता है; अतः इन सम्भावनाओंको दूर करनेके लिए ब्रह्मको 'सत्यम्' और 'ज्ञानम्' दोनों कहा है। सत्य और ज्ञानकी एकता परिच्छन्न भी तो हो सकती है। इसलिए इस परिच्छिन्नताका निषेध करनेके लिए श्रुतिने ब्रह्मको 'अनन्तम्' भी कहा है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

ब्रह्म तो सत्य, ज्ञान और अनन्त है, ठीक। परन्तु हम क्या हैं? वेदान्तने कहा—'तत्त्वमसि।' अर्थात् वह तुम्हीं हो। 'मैं' पदसे उपलक्षित चेतन अद्वितीय ब्रह्म है और जीव, माया, ईश्वर, कोई उससे न्यारा नहीं है।

इसी बातको समझानेके लिए—अधिष्ठान ईश्वरकी सर्वज्ञता और ज्ञान-रूपताको समझानेके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र प्रयत्न करता है। सर्वापेक्ष सर्वज्ञ होनेकी अपेक्षा जो ज्ञप्ति-रूप है, वह सर्वज्ञ है। सर्वज्ञता उसका उपलक्षण है। पहले उपलक्षणको सिद्ध करते हैं, फिर उपलक्षितको सिद्ध करते हैं।

जैसे गंगाजीको बताना है तो कहते हैं—देखो वह रही गंगा, जहाँ ऊँची-नीची भूमि है, वृक्ष हैं। वहाँ जाओगे तो शीतल-मन्द-

सुगन्ध वायुका स्पर्श होगा। अब न तो ऊँचा-नीचा तट गंगा है, न वृक्ष गंगा है और न शीतल वायु-गंगा है। परन्तु सब गंगाको दिखानेमें सहायक हैं। वहाँ जायेंगे तो ऊँची-नीची भूमिके पीछे, वृक्षोंके पीछे गंगाका दर्शन होगा और शीतल वायुका भी स्पर्श होगा! इसी प्रकार सर्वज्ञता ब्रह्मका उपलक्षण है। सर्वज्ञता और अल्पज्ञता दोनों तट हैं। ईश्वरकी सर्वज्ञता कैसी है? इसपर विचार करो।

शास्त्रयोनित्वात्। वेद (शास्त्र)की योनि होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है। इसमें हमारे नैयायिक और पूर्वमीमांसकोंमें मतभेद है। नैयायिकोंका कहना है कि वेद ईश्वरकी रचना है और पूर्वमीमांसकोंका कहना है कि वेद ईश्वरकी रचना नहीं है, वेद अपौरुषेय और नित्य हैं। इस विवादका मूल तत्त्व आपको सुनाता हूँ।

वेदान्तको दुनियासे वैराग्य कराना इष्ट है। जबतक तुम्हारा अन्तःकरण रागरंजित रहेगा तबतक उसमें अभोग्य वस्तुको जाननेकी इच्छा नहीं होगी। तबतक उसीको पानेकी कोशिश होगी जिससे भोग मिले। अभोग्यकी जिज्ञासा अन्तःकरणमें टिक नहीं सकती।

ये जो साधुओंको गाली देनेवाले लोग होते हैं वे अपने इस आचरणसे यह नहीं प्रकट करते कि साधु कितने बुरे होते हैं। वे यह प्रकट करते हैं कि उनके हृदयमें संसारके प्रति कितना राग है। जब कोई वैराग्यकी, त्यागकी या इनसे सम्बन्धित समर्थक वस्तुओंकी निन्दा करता है तो वह संसारके प्रति अपना राग ही प्रदर्शित करता है कि वह न खुद छोड़ना चाहता है और न किसी-का छोड़ना उसे पसन्द है। खास करके जब कोई गृहस्थ चेला बनाने लगता है, तब वह साधुओंका निन्दक हो जाता है। यह बात हम कोई पचास वर्षसे देखते हैं।

संसारमें दो प्रकारके अन्तःकरण होते हैं—रागोपाधिक और वैराग्योपाधिक।

वैराग्यरागोपाधिभ्याम्नातोभयलक्षणम्। (भागवत)

धर्मके दो रूप क्यों हैं, एक प्रवृत्तिरूप और एक निवृत्तिरूप? क्योंकि किसीका अन्तःकरण राग-प्रधान होता है और किसीका वैराग्य-प्रधान। वैराग्य-प्रधान साधक उस अनन्त वस्तुको जानने-की इच्छा करता है जो उसे योग नहीं दे सकता; और राग-प्रधान साधक बार-बार भोग्य वस्तुओंके भोगकी ही इच्छा करता है।

कर्ममें प्रवृत्ति, भोगमें लिप्सा और अर्थ-संग्रहकी इच्छा—इनके त्यागसे जब हम भयभीत होते हैं तो त्यागकी निन्दा करने लगते है। साधु जब मण्डलेश्वर हो जाते हैं या उसके इच्छुक होते हैं तो त्याग-वैराग्यकी निन्दा करने लगते हैं। परन्तु यह निन्दा तो उनकी अपनी भोग-संग्रहकी इच्छाका विज्ञापन है। साधक मानो कहते हैं कि देखोजी, हम तो इसको छोड़नेको तैयार नहीं हैं। ईश्वरको यदि हमसे मिलना हो तो यहीं आकार मिल जाय!

वेदान्त कहता है कि सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयकी कल्पना करोगे तो संसार नश्वर है, यह बोध होगा और परिणामतः वैराग्य होगा। सन्यासकी ओर प्रवृत्ति होगी।

यहाँ पूर्वमीमांसक कहेंगे कि जनेऊ, चोटी, अग्निहोत्र छोड़ना (माने संन्यासी होना) तो भ्रष्ट होना है।

तब क्या करें? वैराग्य तो संसारमें होता है। संसार तो नाशवान् है ही।

पूर्वमीमांसक—नहीं, संसार नाशवान् नहीं है। यह अनादि और नित्य है। ईश्वरने इसे नहीं बनाया। इसलिए इसमें कर्म और भोगकी शृङ्खला भी अनादि और नित्य है।

इस प्रकार दो पन्थ हमारे सामने आते हैं—रागमूलक पूर्व-

मीमांसकोंका पन्थ और वैराग्यमूलक उत्तरमीमांसा (वेदान्त)-का पन्थ। इनमें तत्त्व क्या है ? अनिर्वचनीयताका सिद्धान्त आपको कहाँ ले जाकर पहुँचाता है ? यह सिद्धान्त बड़ा विलक्षण है।

ईश्वर सृष्टि बनाता है, यह कहना भी ठीक है। यह जो बिजलीका बल्ब है उसको तुम जलाते हो या नहीं ? जलाते हैं, स्विच खोलकर जलाते हैं। क्या तुम बिजली भी पैदा करते हो ? नहीं, वह तो लाइनमें पहलेसे रहती है, परन्तु हाँ पावर-हाउसमें बिजली भी बनती है।

नहीं, आप पावर हाउसमें भी बिजली नहीं बनाते हैं। विश्व-सृष्टिमें जो बिजली पहलेसे ही प्राप्त है उसको आप पकड़ते भर हैं। इसलिए आप बिजली बनानेवाले नहीं हैं, आप तो सिर्फ उसका उपयोग करनेवाले हैं।

इसी प्रकार यह जो सृष्टिमें आकृतियोंकी धारा, वासनाकी धारा, ज्ञानकी धारा बह रही है वह अनादि और नित्य है। परन्तु इस धाराको खोलना और बन्द करना (प्राकट्य और प्रलोप), यह ईश्वरका काम है। ज्ञानकी धाराको बन्द कर देना या चालू कर देना और ज्ञानकी नित्यता रहना—ये दोनों बातें एक साथ चलती हैं।

अब देखो, अक्षर नित्य है, शब्द नित्य है और उनकी आनुपूर्वी नित्य होनेसे वाक्य नित्य है। अतः वेद नित्य है। इसलिए वेदको ईश्वरने नहीं बनाया। वेदका प्राकट्य और लोप ईश्वर द्वारा होता है। इसको आप समझिये।

ये जो वर्ण हैं इनके बारेमें दो मत है—(१) वर्ण नित्य है (२) वर्ण अनित्य हैं। इन मतोंका भारी शास्त्रार्थ हम आपको नहीं सुनाते हैं, परन्तु एक बात है कि जिस वर्ण (अक्षर) का

उच्चारण हम यहाँ करते हैं, वह सारे विश्वमें फैल जाता है। अक्षर विभु है; और वर्णका उच्चारण हमेशासे होता आया है और हमेशा होता रहेगा, माने यह नित्य है।

'अ, यह वर्ण नित्य भी है और विभु भी। परन्तु वर्णोंसे बना हुआ जो पद है वह नित्य है यह कौन मानेगा? 'घ' और 'ट' वर्ण नित्य हैं और विभ हैं परन्तु इनसे बना हुआ पद 'घट' भी हो सकता है और 'टघ' भी तब 'टघ' पद नित्य नहीं होगा। और इसी प्रकार पदोंसे बने वाक्योंमें भी नित्यता नहीं होगी! हाँ; यदि अक्षरोंकी और पदोंकी आनुपूर्वी नित्य हो और विभु हो तब पदों और वाक्योंकी नित्यता सम्भव है। परन्तु आनुपूर्वी न तो अक्षरका धर्म है और न पदोंका, न वाक्यका; वह तो बोलनेवालेका धर्म है कि वह किस क्रमसे बोले। तब वेद नित्य कैसे होंगे?

वेदकी नित्यतामें न तो पदको नित्य माना जाता है, न वाक्यको और न उनकी आनुपूर्वीको। तब वेदको नित्यता क्या है? मीमांसाकोंने कहा कि सृष्टि ही नित्य है (सृष्टि किसी ईश्वरादिने बनायी नहीं) इसलिए इसमें वेद भी नित्य हैं—अक्षर; पद, वाक्य, आनुपूर्वी सब नित्य हैं।

वेदान्ती कहते हैं कि ऐसा नहीं है। जैसे जीवनमें सोना-जागना होते हैं, वैसे ही सृष्टिका भी सोना-जागना होता है। श्रुति कहती है कि सृष्टि पैदा होती है और मरती है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।' तब वेद नित्य कैसे होगा? असलमें जब ईश्वर सृष्टिकी रचना करता है तो जैसा-जैसा पूर्वकल्पमें होता है उसके लीन बीजसे वैसी-वैसी ही सृष्टि करता है; जैसे पापमय अन्तः-

करणवाले जीवको पाप शरीर देता है और पुण्यमय अन्तःकरण-वाले जीवको पुण्य शरीर देता है। इसी प्रकार जो पूर्व कल्पमें वेदका बीज होता है उसीमें-से ईश्वर वेदको प्रकट करता है। होता यह है कि जैसे कोई स्त्री नृत्य सीखती है तो अपनी चेष्टामें अपने गुरुकी चेष्टाओंका अनुकरण करती है। वैसे ही गुरुजी जैसे वेदका उच्चारण करते हैं शिष्य-वर्ग भी उसी प्रकार वेदका उच्चारण करना सीख जाता है— उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, जटा, घन, उत्क्रम, व्युत्क्रम कई प्रकारकी शैलियाँ हैं। (पूर्वमीमांसक भी ऐसा ही कहते हैं कि वेदके क्रममें उलटा-पलटा करनेका अधिकार किसीको नहीं है।) ईश्वर भी जब वेदको प्रकट करता है तो जैसे सारी सृष्टिको बीजके अनुसार प्रकट करता है, वैसे ही शास्त्रको भी पूर्वसृष्टिके बीजके अनुसार ही प्रकट करता है।

(इस प्रकार 'यथा पूर्वमकल्पयत्' परम्परा ही वेदकी नित्यता है।)

शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्म शास्त्रकी योनि है। शास्त्र माने क्या? वेद। और वेद माने क्या? क्या ऋक्, यजुः, साम और अथर्वके संहिता भाग केवल? नहीं। दश-विद्याओंसे उपबृंहित चार वेद हैं—

पुराणन्यायमीमांसा - धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञवल्क्य-स्मृति १.३)

चारों वेद (संहिता भाग, ब्राह्मण भाग, आरण्यक और उपनिषद्) तथा पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष—इस प्रकार शास्त्रकी ये चौदह गिनती होती है।

शास्त्रको प्रकट करनेवाला सर्वज्ञ होना चाहिए। अतः ब्रह्म सर्वशास्त्रयोनि होनेसे सर्वज्ञ है। यदि कोई जीव (मनुष्य) शास्त्रकी उद्भावना करे तो उसमें उसका भ्रम (अज्ञान) होगा और प्रमाद, करणापाटव तथा विप्रलिप्सा भी हो सकते हैं। परन्तु जब ईश्वर वेदका अविर्भाव करता है तो न उसमें अज्ञानकी गुंजायश है और न किसी प्रकारके प्रमाद, करणापाटव या विप्रलिप्साकी।

वेदोंमें और उसके अंगोंमें संसारके सभी विषयोंका वर्णन प्रायः देखनेमें आता है। तो जो उन वेदोंको बनानेवाला है या प्रकट करनेवाला है, जिससे उनको जानकर प्रकट किया, वह तो शास्त्रोंकी अपेक्षा अधिक जानकार होगा ही। जैसे पाणिनिने व्याकरण बनाया। वह जानता तो न्याय-मीमांसा इत्यादि भी था, परन्तु बनाया उसने व्याकरण ही। इसी प्रकार जिस ब्रह्मसे सृष्टि हुई (जन्माद्यस्य यतः) उसी ब्रह्मसे शास्त्र भी निकला (शास्त्रयोनित्वात्)। और जब वेद ही विपुल ज्ञानकी राशि है तब वेदका रचयिता तो सर्वापेक्षा अधिक जानकार ही होगा। इसलिए ब्रह्म या ईश्वर सर्वज्ञ है।

वह शास्त्र स्रष्टा ईश्वर बौद्धोंके शून्यको भी जानता है और अर्हन्के निर्मल आत्म-स्वरूपको भी। वह चार्वाकके अर्थ और कामको भी जानता है और पूर्वमीमांसकोंके धर्मको भी। वह सर्वशक्ति है अर्थात् उसमें सर्व-भुवन-सामर्थ्य है और वह सर्वज्ञ है अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है। ऐसा ईश्वर कहाँ है? वेदान्त कहता है कि वह इतना निकट है कि तुम्हारे और उसके बीचमें केवल एक मानसिक लकीर है। वेदान्त उसी लकीरको मिटा देनेकी विद्या है।

•

[३. ८]

क्या ईश्वर वेद्की रचना करता है?-२

जिन लोगोंके मनमें वेद और वेदके निर्माताके प्रति कोई आस्था या जिज्ञासा नहीं है उनके लिए यह चर्चा बहुत महत्त्व नहीं रखती। अपना-अपना पन्थ अपना-अपना ग्रन्थ। जो नया पन्थ चलाते हैं वे ग्रन्थ भी नया ही बनाते हैं। उनका प्राचीनसे काम नहीं चलता। कुछ-न-कुछ मिलाना पड़ता है।

वेदके प्राकट्यके सम्बन्धमें यह विचार है कि क्या वेद किसी मनुष्यने या किन्हीं मनुष्योंने बनाया ?

'चार्वाकने तो गाली देकर यह बात कही कि धोखेबाज लोगोंने वेद बनाया—

त्रयो वेदस्य कर्तारः भण्डधूर्तनिशाचराः

वे वेद किसी भण्डने या धूर्तने या निशाचरने बनाये। और लोगोंको गुमराह करनेके लिए बनाया। असलमें चार्वाकके समयमें वेद तो था ही। परन्तु वेद कहता था—आत्मा है, पुनर्जन्म है, परलोक है, कर्ता है, साक्षी है, ईश्वर है; ब्रह्म है। ये बातें चार्वाकके विरुद्ध पड़ती थीं। अतः उसका गाली देना स्वाभाविक ही था।

अब दूसरे ('बौद्ध और जैन') आये। उन्होंने कहा कि वेद मनुष्योंने ही बनाये। परन्तु वे धूर्त नहीं थे, अच्छे मनुष्य थे। फिर भी जैसे किसी भी मनुष्यके अन्तःकरणमें भूल हो सकती है वैसे ही वेद बनानेवाले मनुष्योंकी बुद्धिमें भ्रम था; उनसे वस्तुके साक्षात्कारमें प्रमाद भी होता था, उनका अन्तःकरण वस्तुको ठीक-ठीक ग्रहण भी नहीं कर पाता था और उनमें-से कोई-कोई मनुष्य ठगी भी करते थे। इस प्रकार जैन और बौद्धोंने वेदके कर्ता मनुष्य या मनुष्योंमें ये चार दोष माने—भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव। इस प्रकार उनका कहना था कि वेदको प्रमाण मानना ठीक नहीं है, बल्कि उनके जो वीतराग शुद्धान्तःकरण महापुरुष हैं उनके वचनको मानना चाहिए और उनकी अनुभूतिको प्रमाण मानना चाहिए, वेदको प्रमाण नहीं मानना चाहिए। इस कक्षामें आत्मवादी जैन और निरात्मवादी बौद्ध आते हैं।

'न्याय-वैशेषिक'ने कहा कि वेदकी रचना मनुष्योंने नहीं, ईश्वरने की। सृष्टिके मूलमें चार भूतोंके परमाणु रहते हैं। और आकाश बिना परमाणुका रहता है और ईश्वर परमाणुओंको जोड़कर सृष्टि बनाता है। इस प्रकार ईश्वर सृष्टिका निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं। उपादान कारण परमाणु हैं। इसलिए ईश्वर जब-जब सृष्टि बनाता है तब-तब ईश्वर वेद बनाता है। वेद क्या है? सृष्टिका ईश्वरकृत संविधान। इसमें भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्साके लिए अवकाश नहीं है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है। वह एक नजरसे भूत-भविष्यत्-वर्तमानको देखता है, उसका एक संकल्प है जिससे वह सृष्टिका निर्माण करता है। उसी संकल्पसे वह वेदका भी निर्माता है)

ईश्वरकी चर्चा न्यायमें ज्यादा है, वैशेषिकमें कम है। न्यायाचार्य उदयनाचार्यने ईश्वरकी सिद्धिके लिए एक महान् ग्रन्थ ही

लिखा है—'न्याय-कुसुमाञ्जलि'। उदयनाचार्य जगन्नाथपुरी गये। मन्दिरका फाटक बन्द था। उन्होंने क्रोधमें भगवान्‌को सम्बोधित करके कहा—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तते।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

'तू ऐश्वर्यमदमें मत्त मेरी अवज्ञा करता हुआ यहाँ बैठा है। बौद्धोंकी उपस्थितिमें तेरी स्थिति मेरे ही अधीन होगी।' कहते हैं इतना कहते ही फाटक खुल गया और उन्हें परमेश्वरका दर्शन हुआ।

सब न्यायाचार्योंका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञ है क्योंकि बिना बुद्धिके कोई व्यवस्थित कार्य होता ही नहीं है। संसारमें व्यवस्था है, अतः इसके पीछे किसी सर्वज्ञकी बुद्धि होनी चाहिए। उसी सर्वज्ञ ईश्वरने जिसने यह सुन्दर और व्यवस्थित संसार बनाया उसीने वेद भी बनाया।

'निराकार ईश्वरवादियों'के सामने बड़ी समस्या आयी कि निराकार ईश्वरने आखिर शास्त्र बनाया कैसे? कुरानकी आयतें आसमानमें लिखी दिखायी पड़ती हैं या किसी कागजपर लिखी आती हैं, इमलीके खोहड़में-से लिखी आती हैं और मोहम्मद साहब उसे बाँच लेते हैं। इसका अर्थ है कि कुरानसे पूर्व भाषा-ज्ञान और लिपि-ज्ञान होना चाहिए।

यदि वेद भी ईश्वरने ऐसे ही बनाये तब तो भाषा और लिपि वेदसे पूर्व सिद्ध ही हो जायेंगे। शास्त्रका निर्माण आसमानमें नहीं हुआ, वह तो उस हृदयमें हुआ जहाँ अर्थज्ञान और लिपिज्ञान था। आर्यसमाजियोंने बहुत ठीक माना कि वेद आसमानमें नहीं ऋषियोंके हृदयमें प्रकट हुआ, जैसे विश्वामित्रके हृदयमें गायत्री

प्रकट हुई। ईश्वरने प्रेरणा करके विश्वामित्रके हृदयमें गायत्रीमन्त्र उदय कर दिया!

'साकार ईश्वरवादियोंने कहा कि नारायणको वेद याद रहता है। सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीको वेद बता देते हैं, ब्रह्माजी ऋषियोंको बताते हैं और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परासे वेद चलता रहता है।

'भगवान् श्री शंकराचार्यजी' कहते हैं कि ये जो ऋग्वेदादि शास्त्र हैं, वे अनेक विद्यास्थानसे उपबृंहित हैं। अर्थात् सब ऋषि वेदको मानकर इसकी व्याख्या करते हैं, इसको बढ़ाते हैं। कोई ऐसा ऋषि नहीं है जो वेदको न मानकर अपनी बात कहता हो। गौतम मानते हैं, कणाद मानते हैं, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि, व्यास, वसिष्ठ, विश्वामित्र सब मानते हैं, सैकड़ों ऋषि जो दर्शन-पुराणोंके रचयिता हैं वे अपने व्याख्यानों द्वारा वेदका उपबृंहण करते हैं (संवधन करते हैं)। ऐसे जो ज्ञाननिधान वेद हैं, 'प्रदीपवत्' 'सर्वार्थावद्योतिनः' (अर्थात् जिससे दीपकके समान सब अर्थोंका द्योतन होता है), उनका रचयिता कोई ठग नहीं हो सकता, कोई अल्पज्ञ वीतराग जीव भी नहीं हो सकता। असली सर्वज्ञ ईश्वरके सिवाय वेदका कोई और कर्ता भी नहीं हो सकता।

वेदका निर्माता ईश्वर है और ईश्वर नित्य है, इसलिए उसकी रचना वेद भी नित्य है। ईश्वरके अनेक संकल्प नहीं होते, वे तो जीवनमें होते हैं। एक संकल्पमें उसने सृष्टि बनायी है। ईश्वरकी सर्वविषया एक ही इच्छा होती है और उस इच्छाके द्वारा वह समूची सृष्टिको बना देता है। जीना भी, मरना भी, सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय भी, परमाणुओंको जोड़ना भी, बिखेरना भी सब एक ही संकल्पमें ऐसा कर देता है कि सृष्टि अपने-आप चलती रहती है और वह मौज करता रहता है।

हमारे 'पतञ्जलि' (योग-दर्शनकार) और कपिल (सांख्य-दर्शनकार) भी ईश्वरकी चर्चा करते हैं। पतञ्जलिने स्पष्टरूपसे ईश्वरकी चर्चा की है और सांख्यने अस्पष्ट रूपसे की है। पतञ्जलि पुरुष-विशेषके रूपमें ईश्वरको मानते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

अन्य जीव क्लेश और कर्माशयसे युक्त रहते हैं, परन्तु ईश्वर क्लेश और कर्माशयसे मुक्त है। जबतक तत्त्वख्याति नहीं होती तबतक ये दोनों (पुरुषसामान्य और पुरुषविशेष) बने रहते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं जो ईश्वरमें नहीं होते। दूसरे कर्मविपाक अर्थात् कर्मसे उत्पन्न जो फलरूप सुख और दुःख हैं वे भी ईश्वरमें नहीं होते। इन सुख-दुःखोंका आशय अर्थात् वासना भी ईश्वरमें नहीं होती। इस प्रकार ये तीन बातें ईश्वरमें नहीं होतीं—(१) पंचक्लेश (२) कर्मविपाक-रूप सुख-दुःख (३) कर्मविपाकका आशय अर्थात् वासना।

अब ईश्वरमें क्या होता है, यह बताते हैं—

प्रथम : **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्** (योग० १.२५)

उसमें निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है। अर्थात् सर्वज्ञताकी पराकाष्ठा है ईश्वर।

द्वितीय : **पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (योग० १.२६)

'आदि कालसे लेकर अबतकके ब्रह्मादिक जीवोंका भी वह गुरु है और काल से वह परिच्छिन्न नहीं है।'

इस प्रकार क्लेश, कर्मविपाक और वासनासे मुक्त, सर्वज्ञताका पराकाष्ठारूप तथा कालसे अबाधित पुरुषविशेषका नाम (योग-दर्शनमे) ईश्वर है। ऐसे ईश्वरकी जब शरण जायेंगे, उसका ध्यान करेंगे तो समाधि लग जायेगी।

समाधिसिद्धिः ईश्वरप्रणिधानात् । (योग० २.२५)

अब योगदर्शनके मतमें वेद क्या है ? इनके मतमें वेद बुद्धिमें रहता है। जब जीवात्मा विवेकख्याति करनेसे बुद्धिसे न्यारा हो जाता है तो दो स्थिति होती हैं—

१. बुद्धिसामान्यसे अलग होकर द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय।

२. बुद्धिविशेषसे पृथक् होकर बुद्धिगत सब पदार्थोंको देख ले।

जब उसकी बुद्धि सर्वज्ञके साथ तादात्म्यापन्न होती है और द्रष्टा उसको देखता है तो सर्वज्ञकी बुद्धिमें जो विराजमान वेद है उस वेदका दर्शन उस पुरुषको होता है। योगकी रीतिसे वैखरी वाणीका उद्भव जिह्वामें होता है, मध्यमाका कण्ठमें, पश्यन्तीका हृदयमें और पराका मूलाधारमें। जब योगीमें परावाणीकी योग्यता आजाती है तब विशिष्ट पुरुषोंको जैसे वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मन्त्रद्रष्टाओंको वेदके मन्त्रोंका दर्शन होता है।

'सांख्यमत'में भी वेद नित्य है। जैसे प्रकृति और प्रकृतिके विशेष नित्य हैं, वैसे ही प्रकृति और प्रकृतिके प्रथम विकार बुद्धिमें सम्पूर्ण वेद सूक्ष्मरूपमें उपस्थित हैं। द्रष्टा उनका दर्शन करता है। असलमें योग साधन है और सांख्य साध्य है। द्रष्टाका विवेक-वर्णन है सांख्यमें और उस विवेकका साधन जो योग है उसका वर्णन है योगदर्शनमें। इसलिए सांख्यमतमें भी द्रष्टा वेदमन्त्रोंका दर्शन तादात्म्य प्राप्त उसी प्रकार करता है जैसे योगमें, अर्थात् सर्वज्ञ-बुद्धिके साथ करके।

'तान्त्रिक'—लोग भी ऐसा ही मानते हैं जैसे योगमें। तान्त्रिकोंमें भी कई प्रकार हैं—वैष्णवतन्त्र, शैवतन्त्र, शक्तितन्त्र इत्यादि। बौद्ध और जैनोंमें भी तन्त्र-मन्त्र-टोटका बहुत हैं। ये लोग ईश्वर और वेदको तो नहीं मानते परन्तु जिन्नको मानते हैं, भूतको

मानते हैं, पुनर्जन्मको मानते हैं, स्वर्ग-नरकको मानते हैं। ये मार्क्सवादियोंकी तरह सफाचट नहीं हैं। जैनोंमें लक्ष्मीका नाम पद्मादेवी है। उसकी उपासनासे पैसा मिलता है। हम यह उपासना कई लोगोंको बता चुके हैं। इनमें सब है, बस पाँच बातें नहीं हैं—ईश्वर, वेद, यज्ञ, ब्राह्मण और स्नान। ये बातें मैं खण्डनके लिए नहीं जानकारीके लिए बताता हूँ। यदि आपको भटकनेका डर न हो तो सबकी जानकारी प्राप्त कीजिये और यदि डर लगता हो तो अपने गुरु, इष्ट और मन्त्रमें मगन रहिये। तरह-तरहकी बातें अपने दिमागमें भरकर बोझ मत बढ़ाइये।

ये हमारे बौद्ध, जैन और तान्त्रिक सब योगकी कक्षामें ही आते हैं—कोई सालम्ब, कोई निरालम्ब, कोई तत्-प्रधान तो कोई त्वं-प्रधान और कोई पदार्थनिषेधप्रधान अर्थात् शून्य-प्रधान।

'पूर्वमीमांसा'के अभिप्रायसे वेद-वाक्यके रूपमें नित्य हैं। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। वे कहते हैं कि वाक्य भी नित्य है, पद भी नित्य है और वर्ण भी नित्य है।

जो लोग कहते हैं कि अनुभवसे विशेष ज्ञानकी उत्पत्ति होती है वे लोग कभी ज्ञान, ज्ञेयके बारमें गम्भीरतासे विचार नहीं करते। जैसे कोई मनुष्य पहले रूमालकी जाँच-पड़ताल कर लेता है तब रूमालको समझता है और तब रूमालके बारेमें बोलता है। बोलनेसे पहले समझ होनी चाहिए और समझसे पहले अनुभव होना चाहिए। तो ऐसे जो दुनियामें अनुभव करके बातें लिखीं जाती हैं वे तो प्रत्यक्षका अनुवाद मात्र होती हैं। अर्थात् जो चीजें आँख, नाक, कान, त्वचा और जीभसे जैसी अनुभव की गयीं उसीको फिर दोहरा करके समझते हैं और समझ करके बोलते हैं। परन्तु वेद एक ऐसी बात बोलता है जो न तो इन प्रत्यक्षादि इन्द्रियोंसे और न इनके आधारपर होनेवाले अनुमानोंसे जाना

जाती हैं और जो इनसे बनी हुई समझसे भी अलग हैं। ऐसी अतीन्द्रिय बातें दुनिया देखकर संस्कारके रूपमें इकट्ठी नहीं की गयी हैं। अतः वेदज्ञान कोई संस्कार-ज्ञान, अनुभव-ज्ञान या समझ-ज्ञान नहीं है।

मीमांसकोंका तो यहाँतक कहना है कि कोई पुरुष भी वेदका बनानेवाला नहीं है। वह तो कहते हैं कि सृष्टिका भी बनानेवाला नहीं है। सृष्टि भी अनादिकालसे ज्यों-की-त्यों चल रही है और इसमें वेद भी गुरु-शिष्यपरम्परासे ज्यों-के-त्यों चल रहे हैं। वेद भी अनादि अनन्त हैं और सृष्टि भी अनादि अनन्त हैं।

वेदसे धर्मका और धर्मके फलका बोध होता है, ऐसा पूर्व मीमांसक मानते हैं। यह बात किस अक्लसे मालूम पड़ेगी कि आगमें घी डालना धर्म है और उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है? यह न आँखसे देखा जायेगा, न नाकसे सूँघा जायेगा, न कानसे सुना जायेगा, न त्वचासे छूआ जायेगा और न जीभसे चखा जायेगा, और न स्वर्गका अनुभव ही वर्तमान शरीरसे होगा। इसलिए ऐसी बात बतानेवाला वेद इन्द्रियोंसे अनुभव करके नहीं लिखा गया। यह तो एक नवीन चूरा है जो तुम्हारे अन्तः-करणमें पहले से नहीं था और वेदने डाल दिया। यदि इस वेद-ज्ञानके अनुसार आचरण करोगे तो बड़ी-बड़ी बातें आयेंगी— तुम्हारे हृदयमें श्रद्धाकी सम्पत्ति आयेगी, देहसे अलग आत्मामें विश्वास होगा। इसी जन्मके भोग भोगनेमें नहीं लगा रहना चाहिए, परलोकके लिए भी थोड़ा संयम करना चाहिए—यह बुद्धि उत्पन्न होगी, (नहीं तो दान अर्थात् अपने घरसे पैसा निकालकर दूसरेको दे देना धर्म है यह बात भी कैसे समझमें आयेगी?), शरीर ही सब कुछ नहीं है, यह ऐन्द्रियक जगत् ही सब कुछ नहीं है—यह बुद्धि उत्पन्न होगी, इत्यादि-इत्यादि।

तो पूर्वमीमांसा शास्त्रका कहना है कि अनादि गुरु-शिष्य-परम्परासे वेद चल रहा है, वेद नित्य है और किसी जीवकी तो बात ही क्या ईश्वरने भी वेदको नहीं बनाया। सृष्टि अनादि-अनन्त है। जब सृष्टिका प्रलय नहीं होता तो वेदका भी अन्त नहीं होता। अतः वेद अनादि-अनन्त हैं।

'वेदान्त' सृष्टिका प्रलय मानता है। उनका कहना है कि जब एक मनुष्यके जीवनमें जन्म और मृत्यु देखनेमें आती है तो ब्रह्माण्डके जीवनमें भी उत्पत्ति, प्रलय स्वाभाविक हैं। ग्रह टूट जाते हैं, ब्रह्माण्ड फूट जाते हैं। जो चीज बनी है वह एकदिन टूटेगी भी। जो पैदा होती है वह अनित्य होती है। जो सावयव वस्तु होती है वह टूटती भी है, इसलिए वह अनित्य होती है—

यज्जन्यं तदनित्यम्। यत्सावयवं तदनित्यम्।

जो चीज रोज-रोज ह्रासको प्राप्त हो रही है उसका एकदिन नाश भी अवश्य होगा। इसलिए सृष्टिकी उत्पत्ति भी होती है और प्रलय भी होता है। वेदान्त मानता है कि वह काम ईश्वर करता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ईश्वर जो सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है तो उसके लिए कोई आधार होता है या अपने मनसे ही करता है?

इसके उत्तरमें हिन्दू (वेदान्ती) और मुस्लिम-ईसाईकी विचार-शैलीका भेद देखो।

मुसलमान, ईसाई कहते हैं कि ईश्वर अपनी मौजसे सृष्टि करता है। ईश्वर कहता है 'कुन' या ईश्वरके मनमें होती है इच्छा और अनबनी सृष्टि बन जाती है। उसमें कोई अन्धा क्यों पैदा होता है, बुद्धिमान् क्यों पैदा होता है, इसका उत्तर है उनके पास कि ईश्वरकी मौज है। इसमें ईश्वरकी स्वतन्त्रता तो प्रकट हुई परन्तु मौजसे कोई युक्तिपूर्ण नहीं हुआ है।

हिन्दू लोग समाधान करते हैं कि सृष्टि हमेशासे चल रही है और पूर्व-पूर्व जन्मके जीवोंके कर्म और कर्मसंस्कार होते हैं, उनके अनुसार ही ईश्वर सृष्टि करता है। किसीको अंधा और किसीको भी मूर्ख बनानेमें ईश्वर नादिरशाही नहीं बरतता।

तब ईश्वर वेद कैसे बनाता है? जैसे जीवोंके कर्मसंस्कार प्रलयावस्थामें सोते रहते हैं वैसे ही वेद-संस्कार भी सोते रहते हैं। जब सृष्टिकाल होता है तो जैसे ईश्वर सारी सृष्टिको निकालकर बाहर रखता है वैसे ही वेदको भी बाहर निकालता है। प्रलय-अवस्थामें ईश्वरके बडे पेटमें (प्रधानमें) कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, उनके ज्ञान-विज्ञान और वेद सब समेटकर रख लिये जाते हैं और सृष्टिके साथ रखे हुए ही बाहर निकालकर प्रकट कर दिये जाते हैं।

इस प्रकार वेदान्तियोंका मत है कि ईश्वर प्रलयके समय लीन वेदको ही प्रकट करता है। और पूर्वमीमांसकोंका मत है कि सम्पूर्ण प्रलय नामकी कोई अवस्था सृष्टिकी नहीं है, इसलिए वेद लीन नहीं होते और उनको प्रकट करनेके लिए ईश्वरकी भी जरूरत नहीं पड़ती। वे तो यहाँतक कहते हैं कि अगर ईश्वरकी भी सिद्धि होगी तो वह वेदसे होगी; वेदकी सिद्धि ईश्वरसे नहीं होती।

मीमांसकोंका कहना है कि वेद बनानेमें कोई पुरुष स्वतन्त्र नहीं है, गुरु-शिष्य-परम्परासे वेद प्राप्त रहते हैं। शिष्य परतन्त्र है और गुरु सापेक्ष स्वतन्त्र, परन्तु गुरु भी किसीका शिष्य रहा है, अतः वह भी परतन्त्र ही है। वेदान्त भी यही मानता है कि ईश्वरने वेदको बनाया नहीं। वह लीन वेदको ही प्रकट कर देता है।

असुर वेदको चुरा ले जाता है और हयग्रीव भगवान् वेदको पुनः प्रकट करते हैं। यह कथा पुराणोंमें आती है (भागवत ११.४

अग्नि० २.१६-१७) हयग्रीव अर्थात् हिनहिनानेवाला जब सामान्य शब्द जो सृष्टिमें हो रहे हैं वेदके पृथक् शब्दोंको ढक लेते हैं और आसुरी जड़ता-प्रधान शब्दोंमें चैतन्य वेदके शब्द मिल जाते हैं तब चैतन्य-प्रधान भगवान् हयग्रीवके रूपमें प्रकट होते हैं और छिपी हुई वेदकी शब्दराशि और अर्थराशिको प्रकट करते हैं। तो हयग्रीव भगवान्ने कौन-सा वेद प्रकट किया ? वही पुराना जो छिप गया था या नवीन ? वही पुराना। इसलिए ईश्वर नया वेद बनाता नहीं। बीजरूपसे प्राप्त वेदको ही पुनः अंकुरित करता है ईश्वर।

कुमारिल भट्ट कहते हैं—

यत्नतः प्रतिष्येध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।

चाहे जीव हो या ईश्वर कोई पुरुष वेदको बनाने या बदलनेमें स्वतन्त्र नहीं हैं। भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा आदि दोष जो जैन और बौद्धोंने जीवके अन्तःकरणमें बताये हैं और कर्ताके दोषसे वेद भी दूषित हो जाते हैं ऐसा जो बताते हैं, वह बात बिलकुल गलत है। कभी किसी जीवने या ईश्वरने या ऋषिने नया वेद नहीं बनाया। तो अनादि-सिद्ध परम्पराको कायम रखनेमें निमित्तमात्र हैं।

इसलिए 'शास्त्रयोनित्वात्' का अर्थ है कि जैसा वेद प्रलीन हुआ था वैसा ही ईश्वरने प्रकट कर दिया। ईश्वरका स्वातन्त्र्य भी इस सम्बन्धमें नहीं है कि चाहे जैसा वेद बना दे। वह तो जैसे जीवोंको उनके कर्मानुसार ही शरीर देता है और उनको अपनी इच्छासे काना-कुबड़ा बनानेमें स्वतन्त्र नहीं है, वैसे ही वह प्रलीन वेदको ही जैसा वह पहले था प्रकट करता है। इसी अर्थमें ईश्वर शास्त्रयोनि कहा गया है।

•

(३.९)

वेद् परमेश्वरके निःश्वास हैं

योगके बारेमें लोगोंका ऐसा ख्याल होता है कि समाधिको ही योग कहते हैं। परन्तु ऐसी बात है नहीं। योग अंगी है और उसके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अतः समाधि योगका एक अंग है। वह महत्त्वपूर्ण अंग है, यह सही होते हुए भी अंग अंगी नहीं होता।

योगकी परिभाषा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (योग सू० १.२) चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। निरोध और समाधिमें फर्क है। निरोध (योग होनेके कारण) अंगी है और समाधि अंग। ऐसा भी कह सकते हैं कि समाधिके फलका नाम निरोध है।

जिस समय निरोध सिद्ध होता है उस समय द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें अवस्थिति होती है—'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्' (योग सू० १.३)। जब निरोध नहीं होता तब द्रष्टाका वृत्तिसारूप्य (वृत्तिके साथ तादात्म्य) रहता है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (योग

सू० १.४)। तब वह अपनेको कुछ भी मान सकता है—समाधिवान्, ध्यानवान्,, धारणावान् या मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, कुछ भी। क्योंकि केवल निरुद्धावस्थामें ही द्रष्टाकी स्वरूपावस्थिति होती है, शेष अवस्थाओंमें तो वह तादात्म्यापन्न ही रहता है। इसलिए द्रष्टाकी दोनों स्थितियाँ—स्वरूपावस्थिति और वृत्तिसारूप्यावस्थिति, कालके पेटमें हैं।

योगका फल न समाधि है न निरोध और न द्रष्टकी स्वरूपावस्थिति। तब? योगका फल है—सत्त्वान्यता ख्याति, अर्थात् हमेशाके लिए उसे यह बोध हो जाना कि मैं वृत्तिसे न्यारा हूँ। वृत्तिके निरुद्ध होनेपर जैसे मैं वृत्तिसे न्यारा हूँ, वैसे ही वृत्तियोंके रहनेपर भी और उनके साथ सारूप्य रहनेपर भी मैं वृत्तिसे न्यारा हूँ। इसीको पुरुषान्यताख्याति भी कहते हैं। द्रष्टा तो हरकालमें द्रष्टा ही है और वह दृश्यसे न्यारा है, यह बोध हो योगका फल है। योगका फल केवल समाधि या निरोध नहीं है।

वेदान्तमें इसी द्रष्टाको ब्रह्म जाना जाता है। योगमें द्रष्टा निरुद्ध वृत्तिका साक्षी है और वृत्तिकालमें वृत्ति और तादात्म्यका साक्षी है, परन्तु द्रष्टा रहता परिच्छिन्न ही है। प्रति शरीरका द्रष्टा भिन्न है योगमें। वेदान्तमें द्रष्टा अद्वितीय ब्रह्म है और उसके सिवाय न निरोधकी सत्ता है और न वृत्ति और तादात्म्यकी। द्रष्टाको प्रतीत होते हुए देश-काल-वस्तु और उनके समस्त भेद सब द्रष्टाके ही विवर्त हैं, अतः सत्ताशून्य हैं। यह वेदान्त है।

प्रत्येक दर्शन एक कक्षा तक पहुँचाता है। सीढ़ी चढ़ना अच्छा होता है। 'तत्तु समन्वयात्।'

न्यायदर्शनकी कक्षामें भक्ति प्रधान होती है और पूर्वमीमांसामें कर्मको प्रधानता होती है। कर्मकी कक्षामें कर्मका कर्ता आत्मा कर्मसे न्यारा है और न्यायकी कक्षामें जगत्का कर्ता ईश्वर जगत्से

न्यारा है। त्वं-पदार्थको देहसे पृथक् बताता है मीमांसाशास्त्र और तत्-पदार्थको जगत्से पृथक् बताता है न्यायशास्त्र। योगमें भी ईश्वर है परन्तु वह समाधिको सिद्धिमें यन्त्रमात्र है। योगमें त्वं-पदार्थ असंग द्रष्टाके रूपमें (निरोधदशामें) ज्ञात होता है। सांख्यदर्शन उसी द्रष्टाको विवेकके द्वारा असंग साक्षी बताता है। और वेदान्तदर्शन उसी असंग साक्षीका तत्-पदवाच्यार्थ ईश्वरके साथ ऐक्य बताता है।

इस ऐक्यकी युक्ति यह है कि—

भेदः स साक्षिक इति सर्वजनप्रत्यक्षम्।

भेद जितना भी होता है उसका कोई जाननेवाला होता है। बिना साक्षीके भेदकी सिद्धि नहीं होती। जीव जीवका भेद, जीव-ईश्वरका भेद, जीव-जगत्का भेद, ईश्वर-जगत्का भेद, जगत्-जगत्का भेद, भेद-भेदका भेद और भेद-भेदाभावका भेद—सम्पूर्ण भेद और भेदके अत्यन्ताभावका जो साक्षी है उसमें भेदकी कल्पना करना ही मूर्खता है। इसलिए भेदके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो साक्षी है, वह ब्रह्म है। वह देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित है, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे शून्य है, और इसलिए ब्रह्म है। उस ब्रह्ममें भेद, भेद-सामान्य और भेदाभाव प्रतीत होते हुए भी मिथ्या हैं।

हम जो व्यवहार करते हैं भेदका, उसका एक और नतीजा निकलता है उसपर ध्यान दो। जैसे रस्सी-रस्सी। उसको ठीक न समझनेके कारण एक उसे साँप समझता है और दूसरा माला। लेकिन 'यह साँप है' ऐसा प्रत्यय हृदयमें होनेपर भी तथ्य 'यह साँप है' ऐसा शब्दोच्चारण करनेपर भी क्या रस्सी साँप हो गयी? नहीं। इसी प्रकार 'यह माला है' ऐसा प्रत्यय हृदयमें होनेपर भी और 'यह माला है' ऐसा शब्दोच्चारण होनेपर भी

क्या रस्सी माला हो गयी ? नहीं। तब प्रश्न यह है कि भ्रान्त पुरुष जहाँ सर्प अथवा माला शब्द कहता है वहाँ उसके उन सर्प या माला शब्दोंका अर्थ क्या है ? रस्सी ही उन शब्दोंका अर्थ है। इसलिए अज्ञानी लोग जिन भिन्न-भिन्न नामसे, रूपसे, प्रत्ययोंसे जिन भिन्न-भिन्न वस्तुओंके साथ व्यवहार करते हैं वह वस्तुतः ब्रह्म ही है। अज्ञान कालमें भी जिसको संसारी लोग जगत् कहते हैं, जीव कहते हैं, ईश्वर कहते हैं, वे सब ब्रह्मके ही अलग-अलग नाम-रूप-प्रत्यय होते हैं; वस्तुत भेद कहीं नहीं है, एक अखण्डअद्वय ब्रह्म ही है। उसी अद्वय ब्रह्मको समझानेके लिए ब्रह्मसूत्रकी प्रवृत्ति है।

यह ज्ञान व्यवहारमें स्वातन्त्र्य देता है; केवल समाधिमें ही ब्रह्म है, इस भ्रान्त धारणाको मिटाता है। केवल निरोधमें द्रष्टा द्रष्टा है और वृत्तिके तादात्म्य हो जानेपर यह कुछ और हो जाता है, इस भ्रान्तिको भी मिटाता है। ब्रह्मज्ञान व्यवहारमें निरंकुश स्वातन्त्र्य प्रदान करता है ! संन्यास और निवृत्ति भी उस ज्ञानका साधन ही है, फल नहीं है। जिसके अन्तःकरणमें स्वभावतः निवृत्ति है वह यदि तत्त्वज्ञानके अनन्तर संन्यासी हो जाय तो उसके लिए कोई बाधा नहीं है। लेकिन ब्रह्मज्ञान होनेपर या उसके लिए संन्यासी हो जाना आवश्यक नहीं है। ब्रह्मज्ञानके लिए तो सिर्फ शुद्धान्तःकरणकी आवश्यकता होती है। जिस अन्तःकरणमें बोध होना है वहाँ संन्यास चाहिए, न कि गेरुआ कपड़ाके ग्रहण या शिखासूत्रके छेदनका नाम संन्यास है।

एक आदमी घड़ा शब्द बोलता है और उसके मनमें घटाकार वृत्ति होती है, घट प्रत्यय होता है। परन्तु घट तो मृत्तिका ही रहता है, भले घट प्रत्यय और घट शब्दमें भेद होता है। अज्ञानीके अन्तःकरणमें भेद-भ्रान्ति होनेपर भी घट मृत्तिकासे भिन्न नहीं होता।

इसी प्रकार अज्ञान-कालमें यह जीव, जगत् ईश्वरसे भिन्न प्रतीत होनेपर भी, घटप्रत्यय, जीवप्रत्यय, ईश्वरप्रत्यय भिन्न प्रतीत होनेपर भी और इनके शब्द अलग-अलग उच्चरित होनेपर भी ब्रह्मके अतिरिक्त न कोई वस्तु है, न कोई धातु है, न और कुछ है। इस अद्वय ब्रह्मका बोध हो वेदान्तका लक्ष्य है।

इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि आंख खुली हो या बन्द, जंगलमें रहें या नगरमें। वह तो जैसी आदत हो। परन्तु सारे नाम-रूपप्रत्यय ब्रह्मके ही हैं इसको समझिये। इसोसे अपरोक्षानुभूतिमें भगवान् श्रीशकराचार्यजी कहते हैं कि—

क्षणमात्रं न तिष्ठन्ति वृत्ति ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः॥

(१३४; निमेषार्धं न—पाठा०)

'ब्रह्ममयी वृत्तिके विना क्षण मात्र भी न रहे जिस प्रकार कि ब्रह्मादिक देवता, सनकादिक ऋषि और शुकादिक महापुरुष रहते हैं।' ब्रह्मा प्रवृत्ति-क्रीड़ाके उदाहरण हैं, सनकादिक बाल-क्रीड़ाके और शुकादिक समाधि-क्रीड़ाके उदाहरण हैं। माने सब ब्रह्मज्ञानसे द्वैत-भ्रान्तिको भूनकर चना-चबैनाकी तरह खाते रहते हैं और अपने सहज स्वभावके अनुकूल प्रवृत्ति या निवृत्तिमें व्यवहार करते रहते हैं।

मृत्तिकाका बना घड़ा शब्द और प्रत्ययसे भिन्न प्रतीत होने पर भी वस्तुतः मृत्तिका हो है; उसी प्रकार इस प्रपञ्चका भी उत्पत्ति-पालन-संहार ब्रह्ममें होनेपर भी वस्तुतः यह ब्रह्मातिरिक्त नहीं है 'जन्माद्यस्य यतः'।

परिच्छिन्नपर दृष्टि रखोगे तो फँसोगे। पूर्णपर दृष्टि रखोगे तो मुक्त रहोगे। यह मुक्त होना और फँसना अध्यासकी दृष्टिसे ही है, ब्रह्ममें नहीं है। क्योंकि—

अविद्यापि अविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते ।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन विद्यते ।।

जबतक अज्ञान है तभीतक अज्ञान है, ऐसी कल्पना होती है। ब्रह्म दृष्टिसे तो अज्ञान है ऐसी कल्पना भी नहीं होती।

ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं नासीदस्ति भविष्यति ।

ब्रह्मदृष्टिसे न अविद्या थी, न है और न होगी। जब अविद्यामें बैठकर हम कार्य-कारणका विचार करते हैं तो जैसे घटशब्दका मृत्तिकामें ही पर्यवसान है, जैसे माला, सर्प आदिका रज्जुमें ही पर्यवसान है, वैसे ही अहं, त्वं, इदं, तत्, यूयं, वयं इत्यादि सब शब्दोंका और सब प्रत्ययोंका भी अद्वय ब्रह्ममें पर्यवसान है। सबका उसीमें परम तात्पर्य है।

रूप-सृष्टि और नाम-सृष्टि दोनोंको ब्रह्मसे अभिन्न बतानेके लिए दो सूत्र आये—'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्'।

'जन्माद्यस्य यतः' ने कहा कि ब्रह्मसे ही सृष्टिके जन्म-स्थिति भंग होते हैं। हमारे अद्वैतवादी (अभिन्न निमित्तोपादानवादी) प्रलय शब्दका प्रयोग करते हैं और जो ईश्वरवादी हैं वे 'भंग' शब्दका प्रयोग करते हैं। यह दुनियाका घड़ा डंडा मारकर फोड़नेवाला ईश्वर है, प्रलयका निमित्तकारण ईश्वर है। वेदान्ती कहते हैं कि जैसे घड़ा फूटकर मिट्टीमें लीन होता है वैसे प्रलय-स्थान ईश्वर है। घड़ेको फोड़कर अलग हो जाना और घड़ेका फूटकर ईश्वरमें लीन हो जाना—दोनोंमें यह फरक है।

तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अपनेमें-से ही सृष्टि निकालते हैं, ऐसा वेदान्ती क्यों बोलते हैं? क्योंकि ईश्वरने परमाणुसे सृष्टि नहीं बनायी, अपनेसे बनायी; ईश्वरने प्रकृतिसे या शक्तिसे सृष्टि नहीं बनायी अपनेसे ही बनायी; ईश्वरने चित्तसे या विज्ञानसे सृष्टि

नहीं बनायी, अपने आपसे ही बनायी। यह सृष्टि हमेशासे नहीं है अर्थात् सृष्टि अनादि नहीं है क्योंकि यह ईश्वरने बनायी है और अपने आपसे बनायी है। ब्रह्म सृष्टि बन नहीं गया है क्योंकि वह चेतन है। चेतन यदि कुछ बन जायेगा तो वह जड़, दृश्य हो जायेगा—इसलिए ब्रह्म सृष्टि बन नहीं गया, बना-सा दीख रहा है। इसलिए बनी हुई सी सृष्टिके जितने शब्द और जितने प्रत्यय हैं, वे सब ब्रह्ममात्र ही हैं।

अच्छा, ठीक है। परन्तु शास्त्र ईश्वरसे बना या नहीं ? लगता है जैसे शास्त्र तो जीव ही बनाते हैं। वह भी एक जीव नहीं, अनेक जीव बनाते हैं, क्योंकि एक जीवमें इतना ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए भिन्न-भिन्न वीतराग शुद्धान्तःकरण महापुरुष थोड़ा-थोड़ा करके वेदको बनाते हैं और फिर जब मानों कुम्भका मेला लगता है तो इकट्ठे होकर अपनी-अपनी राय बताकर पोथी तैयार करवा देते हैं। यह धारणा गलत है।

चार्वाकने वेदोंको धूर्तोंकी रचना बताया और पाश्चात्योंने गड़रियोंके गीत बताया। कुछने कहा कि वेदमें 'माइथालोजी' है, सत्य नहीं। (माइथालोजी 'मिथ्या'से ही मिलता-जुलता है।) फिर लोगोंने कहा कि नहीं, वेद महात्माओंने बनाये, इसलिए उसमें भी कमी होनी चाहिए। श्रद्धालुओंने कहा कि इसमें कमी नहीं है। दूसरोंने कहा कि हमारे वीतराग शुद्धान्तःकरण महापुरुषोंकी वाणी वेद है। भाई मेरे, आप 'यह बुद्ध-वाणी है', 'यह महावीर-वाणी है,' 'यह भैरव-वाणी है' इनमें तो विश्वास करते हो, परन्तु अन्तःकरणाभावसे अवच्छिन्न कारण चेतनकी सत्तामें जिसमें सर्वका बीज भरा रहता है, विश्वास नहीं है और उससे प्रकट हुए वेदोंमें विश्वास नहीं है, यह क्या बात है ? इसमें अहंकार, पूर्वाग्रह और अज्ञान ही एकमात्र कारण है।

अंग्रेजी ढंगकी चैतन्यकी परिभाषा यह है कि जो सेन्द्रिय तत्त्व होता है वह चेतन होता है। जिसमें इन्द्रियाँ विकसित नहीं हुईं, वह जड़ पदार्थ है। परन्तु वेदान्तकी यह परिभाषा नहीं है चैतन्यकी। यहाँ तो जो जानता है सो चेतन और जो जाना जाता है सो जड़ है। अंग्रेजी परिभाषाको छोड़नेपर वेदान्त समझमें आयेगा। ज्ञानमात्र ही चेतनका लक्षण है और ज्ञेयता जड़का लक्षण है।

ब्रह्म जाना जाता है या नहीं? यदि अन्यरूपसे (इदंरूपसे) जाना जायेगा तो वह जड़ और परिच्छिन्न होगा। यदि परोक्षरूपसे (तत्-रूपसे) जाना जायेगा तो वह कल्पित होगा। इसलिए ब्रह्म न तो मन-इन्द्रियोंके विषयके रूपमें जाना जायेगा और न मन-इन्द्रियोंके अविषयके रूपमें जाना जायेगा। ब्रह्म यदि जाना ही नहीं जाता तो वह अज्ञेय और अज्ञात होगा; वह असत् होगा। तब? ब्रह्म अहंरूपसे जाना जाता है। क्योंकि जब वह अपने स्वरूपके रूपमें जाना जायेगा तभी वह चेतन होगा। ज्ञातासे अभिन्न हुए बिना ब्रह्म चेतन नहीं हो सकता। ज्ञातामें ही ज्ञान है और ज्ञानमें ज्ञाता एक विवर्त है। इसलिए ज्ञाताका जो स्वरूपभूत ज्ञान है वही ब्रह्म होगा।

ब्रह्म अद्वितीय भी तबतक नहीं हो सकता जबतक वह मैंसे जुदाके रूपमें जाना जायेगा। दो हो गये तो अद्वैत कहाँ रहा?

जो मन-इन्द्रियोंके अन्तरमें रहकर मन-इन्द्रियोंको प्रकाशित करनेवाला अपना आत्मा है वही तो चेतन है। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु चेतन नहीं हो सकती। वही अद्वय है, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु अद्वय नहीं हो सकती।

अद्वय चेतन आत्मामें सृष्टि क्या है, बस विवर्तरूपसे भास है। माने सृष्टि आत्मासे-भिन्नरूपसे विरुद्धरूपसे भास रही है। सृष्टि

अपने अधिष्ठानके विपरीत, अपने साक्षीके विपरीत, अपने असली स्वरूपके विपरीत वर्तन कर रही है, इसलिए सृष्टि आत्माका विवर्त है।

विरुद्धं वर्तनं विवर्तः। विपरीतं वर्तते इति विवर्तः।

अब आप सृष्टिमें बैठकर विचार करो कि आप वेदके कारण कब बनते हैं? आप जितना-जितना अपने आपको आन्तररूपमें अनुभव करते जाओगे, उतना-उतना ही आप वेदके कर्तृत्वको समझते जायेंगे। जबतक आप देहके साथ एक बने हुए हैं तबतक तो आप एक बच्चाके भी कर्ता नहीं हैं, भले आप अपनेको बाप मानो। यदि आप बच्चेके कर्ता होते तो जब चाहते तब बच्चा बना लेते। परन्तु चाहनेपर भी बच्चा नहीं होता और न चाहने पर भी होता है। आप अपनी हड्डी-मांसके भी कर्ता नहीं हैं।

कर्तृत्व कहाँ आता है? जब आप विज्ञानसे एक होते हैं। इन्द्रियोंसे एक होनेपर भी कर्ता नहीं होता। सब इन्द्रियोंका एक कर्ता होता है, अलग-अलग इन्द्रियाँ कहाँ कर्ता होती हैं? अलग-अलग मनोवृत्तियाँ कहाँ कर्ता होती हैं? वे समन्वित होकर कर्ता होती हैं। जबतक विज्ञानात्मासे आप एक नहीं होंगे तबतक दैहिक क्रिया-कलापके भी कर्ता आप नहीं हो सकते।

अत्यन्त जड़तामें धर्माधर्म, कर्ता, भोक्ता नहीं होता। अत्यन्त ज्ञान और अत्यन्त आनन्दमें भी कर्ता-भोक्ता, धर्माधर्म नहीं होते और अत्यन्त अभेदमें भी नहीं होते। तब वेदका कर्तृत्व ईश्वरमें कहाँ है?

जबतक आप अपनेको अन्तःकरणके रूपमें अनुभव करेंगे कि अन्तःकरण मैं और अन्तःकरण 'मेरा', तबतक आपका सारा ज्ञान वासना और संस्कारसे अनुप्राणित होगा। इसलिए तबतक शुद्ध

ज्ञान होगा ही नहीं। यदि अन्तःकरणको शुद्ध भी कर लिया जाय और वासनाओंको मिटा भी दिया जाय तो भी तो आपका अन्तः-करण नन्हा-सा है, उस अनन्तका, पूर्णका ज्ञान कहाँसे होगा ? इसलिए जो अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन्य है, प्रमाता, जीव, वह चाहे अन्तःकरण शुद्ध हो या अशुद्ध सर्वज्ञ, सर्वशक्ति नहीं हो सकता। तब आप अन्तःकरण समष्ट्यावच्छिन्न चेतन्य (ईश्वर)के साथ तादात्म्य प्राप्त करें और देखें कि सब अन्तःकरणोंमें जो वासना रहित निर्मल ज्ञान है वह सब आपका ही ज्ञान है।

अल्पज्ञता रहती है अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन्य, प्रमातामें। उसमें तीन चीजें रहेंगी—

१. वह कर्मोंका कर्ता रहेगा—कर्म-करणको अपना माननेके कारण।

२ वह ज्ञाता रहेगा—ज्ञान-करणको अपना माननेके कारण।

३. वह भोक्ता रहेगा—मनोवृत्तियोंको अपना माननेके कारण।

परन्तु चूँकि अन्तःकरण छोटा-सा है इसलिए वह चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध उसमें पूर्णके ज्ञानकी अयोग्यता है। इसलिए जब अपनी कल्पनामें-से उस अन्तःकरणको निकाल देते हैं तब समष्टि-अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन्यके रूपमें आप अपनेको पाते हैं। वहाँ भेद-ज्ञान होता है—कोटि-कोटि कल्पोंका, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका, कोटि-कोटि व्यक्तियोंके ज्ञानका समग्र बीज उसी समष्टि-अन्तः-करणावच्छिन्न चेतन्यमें ही बीजरूपसे रहता है।

अन्तःकरणभावावच्छिन्न चेतन्य जीव (प्रमाता) है, अंतः-करणाभावावच्छिन्न चेतन्य ईश्वर हे ओर अन्तःकरणसे अनवच्छिन्न चेतन्य ब्रह्म हे। परन्तु चेतन्य तीनों एक है। थोड़ी देरके लिए भाव, अभाव, अवच्छेदको बट्टे खाते डाल दो और यह देख लो कि

ये तीनों चैतन्य तीन नहीं हैं एक हैं और इस एक चैतन्यको अखण्डतामें भाव, अभाव और अवच्छेद तीनों बाधित हैं। इसलिए अखण्ड ब्रह्ममें न जीवत्व है, न ईश्वरत्व और न प्रपञ्चत्व। और हमारे समग्र व्यवहारका विषय—चाहे हम स्त्री, पुरुष, मनुष्य, पशु, पक्षी, मिट्टी, पानी कुछ भी कहें—सब वही है। अज्ञानकालमें केवल अज्ञातताके कारण इनको दूसरा जानते-मानते-समझते हैं। परन्तु अज्ञानकी निवृत्ति होते ही जान जाते हैं कि ब्रह्मातिरिक्त आत्मातिरिक्त, स्वरूपातिरिक्त कुछ नहीं हैं, सब एक अखण्ड अद्वय ब्रह्म है।

अच्छा तो, 'शास्त्रयोनित्वात्'। ईश्वरने वेदकी रचना की होगी तो बड़ा परिश्रम हुआ होगा। श्रुति कहती है कि कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। (बृहदारण्यक० २.४.१०)

'यह जो महान् सिद्ध वस्तु है भूत, परमेश्वर, (प्रमाणसे सिद्ध होते हैं देश-काल-द्रव्य; अतः प्रमाणसे पहले होनेके कारण चैतन्यका नाम भूत है और देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण वह महान् है), उसमें-से श्वासकी तरह बिना किसी प्रयास और परिश्रमके ऋग्वेदादि प्रकट हुए।' इससे भी ईश्वरकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है।

श्वास जीवित प्राणीका लक्षण है। वेदका विज्ञान जिन्दा है इसके माने हैं कि ईश्वर है। ईश्वर श्वासी है, वेद उसका श्वास है। यदि श्वासका ही तिरस्कार कर देंगे तो ईश्वर क्या मिलेगा?

हम ईश्वरको मानते हैं या नहीं मानते हैं, जानते हैं या नहीं जानते हैं, इसकी पहचान क्या है? उसकी पहचान है कि हम उसके श्वास-रूप वेदको मानते हैं या नहीं। यह वेदके विज्ञानके

रूपमें ईश्वरकी सांस चल रही है। जिस दिन लोग वेदको मानना छोड़ देंगे उसी दिन ईश्वरवाद भी चला जायेगा। बस, अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग हो जायेगा। परन्तु निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर अविनाशी है इसलिए उसका श्वासरूप वेद भी अविनाशी है।

वेदसे ईश्वरकी सिद्धि होती है और ईश्वर समकाल-वेद रहता है। वेद ईश्वरका प्रयत्नसाध्य निःश्वास नहीं है, स्वाभाविक निःश्वास है। ज्ञानका प्रपञ्चमें प्रथम आविर्भाव ईश्वरसे होता है और उस ज्ञानका नाम ही वेद है। परन्तु पूर्वसृष्टिमें तिरोभूत वेदका ही आविर्भाव होता है।

वाचस्पति मिश्र (भामतीकार) ने मंगलाचरणमें एक श्लोक लिखा है—

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

यह ईश्वर जो सांस ले रहा है उसका नाम वेद है। जब सोते-सोते कभी-कभी आवाज घरघराने लगती है तो आँख खुल जाती है कि यह आवाज कहाँसे आयी। इसी प्रकार जब ईश्वरकी आँख खुली तो देखा कि ये पाँच भूत खड़े हैं। तब ईश्वर मुस्करा गया कि देखो यह क्या हमारी आँखोंका खेल है। जब मुस्कान आयी तो चराचर सृष्टि बन गयी। पञ्चभूत दीखने लगे। फिर देखा कि अरे यह तो मेरी ही सृष्टि है। तब आँखें बन्द कर लीं। तो वहाँ न चराचर है और न पञ्चभूत। उसकी मुस्कानमें चराचर, उसकी नजरमें पञ्चभूत हैं, श्वासमें वेद हैं। ऐसा है यह परमेश्वर।

यहाँ 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्रके शांकर भाष्यका प्रथम वर्णक प्रवचन समाप्त होता है।

●

[३. १०]

शास्त्र ब्रह्मकी योनि है

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

वेदान्त दर्शनके ये चार सूत्र मानो ब्रह्मज्ञानके ही चार सूत्र हैं। 'अथातः' कहनेका अर्थ है कि अधिकारी बनकर तब जिज्ञासा करनी चाहिए। जड़ वस्तुकी जिज्ञासाके लिए अधिकारी होनेकी जरूरत नहीं है। उसके लिए तो बस, यन्त्र चाहिए और तद्विषयक बुद्धिकी ट्रेनिंग चाहिए। परन्तु यह जो ब्रह्मज्ञानकी इच्छा है यह अल्पज्ञानकी इच्छा निवृत्ति होनेपर ही होती है।

इस अधिकारके लिए पहले विवेक चाहिए। विवेक यह कि कर्मका फल अनित्य होता है, साधनका फल अनित्य होता है

और सिद्ध वस्तु तो नित्य होती है। विवेक यह करना है कि बिना बनायी वस्तु क्या है और बनी-बनायी वस्तु क्या है। इसके लिए बनी वस्तुओंसे वैराग्य भी अपेक्षित है। वैराग्यसे मनमें शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान अपने आप आयेंगे। इस षट्सम्पत्तिका पर्यवसान मुमुक्षा अर्थात् मुक्तिकी इच्छामें होगा। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा, यह अधिकार सम्पत्ति हुई।

'अथातः' कहनेका मतलब यही है कि अद्वय तत्त्वका ज्ञान बाजारमें लुटानेके लिए नहीं है। यह भी जरूरी नहीं है कि इसके समर्थक बढ़ें। एक ब्रह्मज्ञानी दुनियामें बना रहे तो औपनिषद-परम्परा चलती रहती है। फिर यदि दो-चार ब्रह्मज्ञानी बने रहें तब तो बहुत बड़ी चीज है। वेशसे या मण्डलेश्वर होनेसे ज्ञानी नहीं होते। भगवान्ने कहा—'मनुष्याणां सहस्रेषु०' (गीता ७.३) अर्थात् (मनुष्याणाम् पदमें बहुवचन होनेसे कम-से-कम) ३०००में-से कोई एक साधनकी इच्छा करता है। ३०० साधकोंमें-से कोई एक सिद्ध होता है और ३००० सिद्धोंमें-से कोई एक परमात्माको स्वरूपसे जानता है। गली-गलीमें ब्रह्मज्ञानी हो जायँ, इसकी जरूरत नहीं है।

अब जब ब्रह्मकी जिज्ञासा हुई तो ब्रह्मको समझनेका तरीका क्या है? आत्मज्ञान दूसरी चीज है और ब्रह्मज्ञान दूसरी चीज है तथा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान अलग चीज है। अपने साक्षी स्वरूपमें बैठना आत्मज्ञान है। सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चके अधिष्ठानको जानना ब्रह्मज्ञान है और तत्त्वमस्यादि महावाक्य द्वारा जगत् और अन्तःकरणके अधिष्ठान और प्रकाशकको एक जान करके जगत् और अन्तःकरणको मिथ्या जान लेना, यह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान है।

जो अन्तःकरणको प्रकाशित कर रहा है वही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न रहकर दृश्य-प्रपञ्चको प्रकाशित कर रहा है। जो जगत्‌का प्रकाशक अधिष्ठान है वही अन्तःकरणका प्रकाशक अधिष्ठान है। उसमें जगत् और अन्तःकरणका अत्यन्ताभाव है। अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमें प्रकाशित होनेके कारण जगत् और अन्तःकरण दोनों ही मिथ्या प्रतीतिमात्र हैं। इसी बातको समझानेके लिए जगत्‌का कार्य-कारणभाव है। उसका अध्यारोप और अपवाद करना पड़ता है। वेदान्त-ज्ञानके लिए यही मुख्य प्रक्रिया है।

'जन्माद्यस्य यतः'से कार्य-कारणविवेक प्रारम्भ होता है। यह कोई अनुमान नहीं है। इसीलिए श्रीवल्लभाचार्यने 'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्'को एक ही सूत्र माना है, दो नहीं माना। वे कहते हैं कि 'ब्रह्म जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका कारण है' यह बात शास्त्रसे ही सिद्ध होती है। इसलिए य दोनों एक सूत्र हैं।

यह मान्यता बहुत पुरानी है। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने इस सूत्रको दो तरहसे व्याख्या की है। पञ्चपादिकाकारने यह कहा कि एक सूत्रकी भी परम्परा है और दो सूत्रोंकी भी परम्परा है, इसलिए शंकर भगवान्‌ने पाणिनिके सूत्रोंमे योग-विभागकी तरह ब्रह्मसूत्रोंमें भी योग-विभाग करके एकके द्वारा शास्त्रकारणत्व और जगत्कारणत्व बताया और सूत्रको अलग करके शास्त्रके द्वारा ब्रह्मके प्रमाणकत्वकी व्याख्या की है। इसका अर्थ है कि भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके सामने भी एक सूत्रकी परम्परा थी और पञ्चपादिकाकार तथा विवरणकारने इसे बिलकुल साफ कर दिया।

शास्त्र ब्रह्मज्ञानकी योनि है। अर्थात् ब्रह्मके सम्बन्धमें शास्त्र ही प्रमाण है। आइये, इस बातको समझें।

कार्य-जगत् जितना है वह सब प्रत्यक्ष है। 'अक्षं अक्षं प्रतिगृह्यते

इति प्रत्यक्षम्'। अर्थात् एक-एक इन्द्रियसे जिसका अलग-अलग ग्रहण हो सो प्रत्यक्ष है। (प्रति = एक-एक + अक्ष = ज्ञानेन्द्रिय = प्रत्यक्ष।) तो कार्य जितना है प्रत्यक्ष है, आता है, जाता है, पैदा होता है, मिटता है, बदल रहा है। बाप देखा, बेटा देखा, बेटाका बेटा देखा। कोई-कोई तो पाँच-पाँच पीढ़ी अपनी सन्तानको देख लेते हैं।

कार्यकारणका सम्बन्ध लोकमें देखनेमें आता है। मिट्टीसे घड़ा बना, घड़ेमें मिट्टी है। अर्थात् मिट्‌टी कारण है और घड़ा कार्य है। परन्तु जहाँ कोई वस्तु अदृश्यसे उत्पन्न होती है वहाँ कार्य-कारण भाव प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आता। तब अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है। अनुमान = अनु + मान = मानं प्रत्यक्षम् अनु; अनु = पश्चात् = प्रत्यक्षके पीछे जो चले सो अनुमान।

अनुमान ऐसे ही नहीं होता कि अमुकके मनमें क्या है या कि ईश्वरके बारेमें अनुमान करें। नैयायिकोंने ईश्वरके बारेमें बहुत-सा अनुमान किया है, यह हम जानते हैं। परन्तु अनुमान वहाँ होता है जहाँ धुंएँ और अग्निका सम्बन्ध पहले हम देख चुके हों और यह देख चुके हों कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है।

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः।
यत्र यत्र अग्निर्न तत्र तत्र धूमो न।

यह अनुमान भी सीखना पड़ता है, अपनी दिमागी कसरत-मात्रसे नहीं आता। शास्त्रमें इसे व्याप्तिग्रह, लिंग-परामर्श कहते हैं। रसोई-घरमें जब धुआँ और अग्निका सम्बन्ध प्रत्यक्ष देख लेते हैं तब जंगलमें धुआँको देखकर अग्निका अनुमान किया जा सकता है। व्याप्तिग्रहके बिना अनुमान नहीं होता।

अब यह जो दुनिया दीख रही है उसके बापको भला किसीने

देखा है ? जिसका जन्म बादमें हुआ और जिसकी मौत पहले हो जायेगी वह भला अपनेसे पहले रहनेवाले और बादमें रहनेवालेको कैसे जानेगा ? वेदके मन्त्र भी बादमें प्रकट हुए, उनसे पहले ईश्वर है। ऋषि, मुनि, इन्द्रिय सब बादमें पैदा हुए उनसे पहले ईश्वर था। वे भला ईश्वरका और उसके साथ जगत्के कार्य-कारण भावका कैसे अनुमान करेंगे ?

अनुमान भी तीन तरहका होता है—

१. कार्यको देखकर कारण अनुमान (जैसे बच्चेको देखकर बापका अनुमान करना)।
२. कारणको देखकर कार्यका अनुमान (यह अमुकके बाप हैं; तो बापको देखकर बेटाका अनुमान करना)।
३. सामान्यतो दृष्ट कार्य-कारण-सम्बन्धके बिना भी अनुमान जैसे, देशान्तर प्राप्तिको देखकर गतिका अनुमान करना)।

प्रतीयमान सृष्टिका कारण क्या है ? सामान्यरूपसे अनुमान होता है कि प्रत्येक कार्यका कारण होता है; इसलिए सृष्टिका भी कारण होना चाहिए। परन्तु वह कारण क्या है ? जब इस विशेषकी जिज्ञासा होगी तो नैयायिक कहेगा कि परमाणु है, सांख्यवादी कहेगा कि प्रकृति है, बौद्ध कहेगा कि चित्त है, वेदान्ती कहेगा कि माया है। परन्तु माया तो मायावीके आश्रित होती है, इसलिए यह जगत् मायाका खेल है । ऐसा होनेपर भी मायावी अर्थात् जादूगरका ही अनुमान होता है।

असलमें कार्य-कारणके रूपमें जो ब्रह्मका अनुमान है वह अध्यारोप और अपवादकी दृष्टिसे ही है।

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यद् उपादानकारणम्। अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्मकारणमुच्यते॥ (बृहदारण्यक वार्तिककार सुरेश्वराचार्य)

यह जो इन्द्रजालरूप द्वैत दिखाई पड़ता है इसका उपादान कारण क्या है ? अज्ञान है। जब जादूगर खेलमें पशु, पक्षी, मनुष्य दिखाता है तो क्या वे सब वहाँ हैं ? नहीं। परन्तु दिखाता सब है। क्यों दिखाता है ? क्योंकि तुम जादूगरको नहीं देख पाते हो, जादूको देख रहे हो यह माया नहीं दिख रही है, मायाके विलास दिख रहे हैं। अपना अज्ञान ही इसमें हेतु है। जब हम असली चीजको नहीं समझते तब किसी नकली चीजपर विश्वास हो जाता है। असली चीजको न समझना अज्ञान है। जगत्‌का जो असली स्वरूप है ब्रह्म, प्रत्यक् चेतन्याभिन्न ब्रह्म, वह तो मालूम नहीं पड़ता है। उसको न जानना अज्ञान है। यही अज्ञान दुनियाका उपादान है।

यह जो दुनिया मालूम पड़ती है कि ऐसी है, ऐसी है, किसीसे पैदा हुई है, सो बिलकुल अज्ञानसे पैदा हुई है। उस अज्ञानसे उपहित जो ब्रह्म है उसको हम अज्ञानका अधिष्ठान होनेके कारण अध्यस्तका धर्म ब्रह्ममें अध्यारोपित करके, ब्रह्मको जगत्‌का कारण कहते हैं, असलमें ब्रह्म कारण नहीं है। चेतनमें यदि कार्य-कारण भाव हो तो अनर्थ हो जायेगा क्योंकि उसे परिणामी होना पड़ेगा चेतन स्वयं बदलता नहीं है वह बदलनेका साक्षी होता है।

असलमें हम ब्रह्मके स्वरूपको नहीं जानते हैं। इसीलिए उसमें कार्य-कारण भावका अध्यारोप करते हैं उसका निषेध कैसे होता है ? जब हम अपने आपको ब्रह्म जानते हैं तब। रस्सीको जान गये तो उसमें न साँप, न माला। जो साँप कह रहा था वह भी रस्सीको ही कह रहा था और जो माला कह रहा था वह भी रस्सीको कह रहा था। है तो रस्सी ही। इसी प्रकार स्त्री, पुरुष, परमाणु, प्रकृति, माया, सब ब्रह्मको ही कह रहे हैं। चीज तो एक ही है, उसको न पहचाननेके कारण जिसको जैसा मालूम पड़ रहा है,

बोल रहा है। जब ब्रह्मज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होती है तो सब भेदोंका अपवाद हो जाता है।

तो आओ, ब्रह्मको जानें। किस प्रमाणसे जानें ? इस संदर्भमें थोड़ी प्रमाण-चर्चा करलें।

चार्वाक : केवल एक प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष।

बौद्ध : दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान।

जैन : तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और वीतराग महापुरुषोंका अनुभव।

वैशेषिक : तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द।

न्याय : चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रभाकारभट्ट : पांच प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और शब्द।

कुमारिलभट्ट : छः प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, और शब्द।

ऐतिहासिक : सात प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द और ऐतिह्य।

पौराणिक : आठ प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द, ऐतिह्य और संभव।

नाट्यशास्त्री : नव प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द, ऐतिह्य, संभव, चेष्टा।

वेदान्ती : छः प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और शब्द।

आपको एक शास्त्रार्थ सुनाता हूँ।

चार्वाक—हम तुम्हारे शास्त्रप्रमाणका खंडन करते हैं।

वेदान्ती—हम जो परस्पर बातचीत करेंगे, उसको तुम प्रमाण मानोगे या नहीं ?

चा०—नहीं। हम तो केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानते हैं।

वेदा०—तब तुमसे बातचीत ही करना व्यर्थ है। माफ करो।

चा०—अच्छा, हम मानते हैं।

वेदा०—तब तुमने शब्दको प्रमाण मान लिया। अपने सिद्धान्तसे च्युत होगये तुम। और फिर यह भी तो कहते हो कि हमारे आचार्य वृहस्पति हैं, तो क्या तुमने वृहस्पतिको देखा था ?

चा०—नहीं।

वेदा०—वृहस्पतिकी बातको प्रमाण मानते हो, इसलिए तुम शब्द-प्रमाणको मानते हो। अच्छा, जो बात मैं बोल रहा हूँ वह मेरे मनमें है, यह तुम्हें कैसे मालूम पड़ेगा ?

चा०—अनुमानसे।

वेदा०—तब तुमने अनुमानको भी मान लिया। अच्छा, यदि हम किसी बातको समझानेके लिए दृष्टान्त देंगे तो तुम उस बातको मानोगे या नहीं ? मानोगे तो उपमान-प्रमाण भी मान लिया। यह शास्त्रार्थ इसलिए सुनाया कि विचार करते समय सब बात कायदेमें चलती है, अंड-बंड नहीं।

यह बात हम 'जन्माद्यस्य यतः'के भाष्य-प्रवचनमें कह चुके हैं कि ब्रह्मसे सृष्टि होती है, यह अनुमान नहीं है। इसमें तैत्तिरीय उपनिषद्की ब्रह्मानन्द वल्लीके मन्त्र एकसे मन्त्र पाँच तकका विचार है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०'से जिस जगत्कारण तत्-पद वाच्यार्थ ईश्वरका वर्णन किया उसका त्वं-पद वाच्यार्थ आत्मा-में 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि०' मन्त्रके द्वारा उपसंहार किया गया। क्योंकि आनन्द तो अपना स्वरूप आत्मा है। अपनी आत्मासे अभिन्न हुए बिना कोई वस्तु आनन्द नहीं हो सकती। इसका अर्थ

है कि ईश्वर और आत्मा दोनों एक हैं और जगत् अपनी उत्पत्ति-स्थितिके साथ बाधित है। यह दोनोंकी एकता ही ब्रह्म है।

इस ब्रह्मकी प्राप्तिमें साधन क्या ? प्रमाण क्या ?

पहिले विवेक होना चाहिए। पहिले यह सोचलो कि ये धन, मकान, सम्बन्धी मैं नहीं हूँ। बादमें यह मालूम पड़ जायेगा कि ये मेरे नहीं हैं। जबतक उनके मनके अनुसार चले तबतक वे तुम्हारे हैं वर्ना पति पत्नीका तलाक क्यों होता ? माँ-बाप पुत्र-पुत्रीको और पुत्र-पुत्री माँ-बापको क्यों छोड़ते ? इनमें मेरापना तभीतक है जबतक इनमें सुखबुद्धि और अनुकूलता-बुद्धि रहती है। बिना क्रीड़ा-मृग हुए कोई किसीका नहीं होता। तो विवेक यह है कि मैंपना शरीरतक सीमित है। जो शरीरसे बाहर है वह मैं नहीं हूँ।

अब शरीरमें भी देखो कि कितना मैं है और कितना मेरा है। बाल मेरा है तो सफेद होनेपर झड़ क्यों जाता है ? हाथ मैं हूँ तो हाथ कटने पर मैं क्यों जीवित रहता हूँ ? हाथमें जो ताकत है यदि वह मेरी है तो लकवा लगनेपर क्यों काम नहीं करती ? शक्ति-प्रयोगकी इच्छा यदि मेरी है तो वह भी सुषुप्तिमें या शॉक लगनेपर क्यों स्तम्भित हो जाती है ? इच्छा हमेशा नहीं रहती, मैं हमेशा रहता हूँ। यदि कर्तापन मैं हूँ तो वह भी हमेशा नहीं रहता। भोक्तापन भी हमेशा नहीं रहता। आनन्दके भोक्ता भी हम हमेशा नहीं रहते। दुःख जबरदस्ती आता है और आनन्द खो जाता है। यही पंचकोष-विवेक है। यह जाग्रत् होना चाहिए। जो मैं नहीं है उसको मैं माननेमें अरुचि होनी चाहिए। यही वैराग्य है। शम-दमादि इसीके बच्चे हैं।

इसके बाद जब मुमुक्षा होगी तो ब्रह्मजिज्ञासा होगी। यहाँ ब्रह्मकी प्रेप्सा नहीं है, जिज्ञासा है। देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न

ब्रह्मकी जिज्ञासा। इसमें पानेकी इच्छा नहीं है, पहिचाननेकी इच्छा है जो सर्वत्र, सर्वरूप, सर्वदा है उसको पहिचाननेकी इच्छा। यह जो तुम्हारा विविक्त आत्मा है उसका ब्रह्मत्व पहिचाननेकी इच्छा।

यह विविक्त द्रष्टा अनेक मालूम पड़ते हैं। यह जगत् आत्मासे भिन्न ठोस मालूम पड़ता है। इस जगत्के कारणके बारेमें कौतूहल है और इसके नियन्तासे अपना व्यक्तित्व नितान्त पृथक् और पराधीन मालूम पड़ता है। फिर आत्मा ब्रह्म कैसे? इसके समाधानके लिए 'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्' दो सूत्र आये हैं। इनका परम तात्पर्य आत्माके ब्रह्मत्वमें तथा जगत्को ज्ञानका विवर्त बतानेमें है।

धर्म कहता है—करो; उपासना कहती है—भावना करो; योग कहता है—शान्त बैठ जाओ। मगर वेदान्त कहता है—पहिचान लो।

क्योंकि जीवनमें कुछ किये बिना होता नहीं, विश्वास बिना चलता नहीं और विश्राम बिना शक्ति नहीं मिलती, इसीलिए लोग सोचते हैं कि ब्रह्मज्ञानमें भी कुछ करना है, कुछ मानना है और कुछ समाधि लगानी है। कर्म-भक्ति-योगके प्रति अपेक्षा बुद्धि पक्की हो गयी है और ज्ञानकी महिमा आँखसे ओझल हो गयी है। इसलिए ऐसा वे लोग कहते हैं। परन्तु यदि कोई वस्तु खोयी न हो और खोनेका सिर्फ भ्रम हो तो क्या कर्मसे या भावनासे या समाधिसे वह मिल जायेगी? गोदमें लड़का, शहरमें ढिंढोरा।

यह जो आत्मा ब्रह्म है इसको पहिचाननेके लिए न कर्मकी जरूरत है, न भावनाकी और न समाधिकी। इसको तो केवल शास्त्रकी आँखोंसे पहिचान भरलो कि हम ही ब्रह्म हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्'का दूसरा वर्णक यही बात बताता है।

'शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्य तत्शास्त्रयोनि (ब्रह्म)। तस्य भावः शास्त्रयोनित्वम्। तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्।' शास्त्र योनि अर्थात् प्रमाण है जिसका उसका नाम है—शास्त्रयोनि। उसका भाव हुआ शास्त्रयोनित्व। ऐसा शास्त्रयोनि होनेसे, यह 'शास्त्रयोनि-त्वात्'का अर्थ हुआ।

पहले 'शास्त्रस्य योनिः कारणं शास्त्रयोनि' ऐसा अर्थं करके ब्रह्मकी सर्वज्ञता सिद्ध की। अब 'योनि'का अर्थ कारण न करके प्रमाण करते हैं और शास्त्रको ब्रह्ममें प्रमाण बताते हैं। शास्त्र कोई मिट्टीकी तरह घटरूप ब्रह्मका कारण तो हो नहीं सकता। वह तो प्रकाशकत्वेन ही प्रमाणकत्वेन ही ब्रह्मका कारण बन सकता है।

शास्त्र कौन-सा प्रमाण है? असलमें सारा शास्त्र ही प्रमाण है। जो लोग शास्त्रमें घटाते-बढ़ाते हैं वे ठीक नहीं करते। इससे बुद्धि भी दुर्बल होती है। इतिहास तो लम्बा है, अनादिसे अनन्त तक; उसमें कब, कहाँ, किसको, किस बातकी जरूरत पड़ जायेगी कोई नहीं कह सकता। शास्त्रकी सारी बातें एक ही प्रकारके लोगोंके लिए हैं, ऐसा क्यों मानते हो? हम लोग तो शास्त्रमें प्रक्षेपको भी मान लेते हैं क्योंकि जब किसीकी बुद्धिमें कभी कोई बात आती है तो उसके ज्ञानका बीज भी कहीं-न-कहीं अवश्य रहा होगा। इसलिए सृष्टिमें उसकी बातकी संगति भी कहीं-न-कहीं लग हो जायेगी। अगर प्रक्षेपको काटने लग जाँय तो प्रतिपक्ष हमारी बातको प्रक्षेप बताने लग जायेगा।

सम्पूर्ण शास्त्र आत्मा और ब्रह्मकी एकताके वर्णनमें ही कोई न-कोई कड़ी हैं। यह व्याख्या हम समग्र शास्त्रकी—ज्योतिषके होडाचक्रसे लेकर ऋग्वेदपर्यन्त—कर सकते हैं।

इस द्वितीय वर्णकपर वैयासिक न्यायमालाके निम्न दो श्लोक हैं—

अस्त्यन्यमेयताप्यस्य किं वा वेदैकमेयता।
घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद् ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥१७॥
रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्यमान्तरयोग्यता ।
तम् त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ॥१८॥

अधिकरणके इस वर्णकमें विषय यह है कि ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना है तो किस प्रमाणसे ? उसमें संशय यह है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि नव प्रमाणोंमें-से किसी एकसे या अनेकसे या सबसे ब्रह्म जाना जाता है या केवल वेदान्त-वाक्यसे ही ब्रह्मको जान सकते हैं। अथवा ब्रह्म किसी प्रमाणसे जाना ही नहीं जा सकता ?

जो चीज प्रमाणसे जानी जाती है उसमें तीन विभाग होते हैं—

१. प्रमाण अर्थात् ज्ञानके करण जैसे नाक, कानादिक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि। (प्रमाकरणं प्रमाणम्)

२. प्रमेय, अर्थात् जो चीज जानी जा रही है। जैसे शब्द, स्पर्शादिक विषय।

३. प्रमाता, अर्थात् जाननेवाला।

प्रमाण सदैव हमारे शरीरमें होते हैं। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब शरीरमें हैं। असलमें वृत्ति प्रमाण होती है। इन्द्रियाँ भी विषयाकार वृत्ति उत्पन्न करनेमें माध्यम होनेसे ही प्रमाण हैं। वेद भी जब प्रमाण बताया जाता है तो वह हमारे अन्तःकरणमें तद्-विषयक वृत्ति उत्पन्न करके ही प्रमाण होते हैं। इसमें भी यदि वृत्ति-ज्ञान-प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है तो शास्त्र भी प्रमाण नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि शास्त्रमें मान लो लिखा हो कि 'तुम दो हो' अथवा 'तुम नहीं हो' तो क्या वह प्रमाण होगा ? नहीं। क्योंकि अपने दो होने या न होनेका अनुभव शक्य नहीं है।

तो प्रमाण ही वृत्ति और उस प्रमाणसे जो काम लेनेवाला है अर्थात् प्रमाणका आश्रय, वह है प्रमाता। जो चीज प्रमाणसे मालूम पड़ती है—वह है प्रमेय। प्रमेय सदैव प्रमातासे अन्य होता है। हम प्रमाणके द्वारा दूसरेको जानते हैं।

संसारमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे जो कुछ भी जाना जाता है वह सब प्रमातासे भिन्न वस्तुओंका ज्ञान होता है। कुछ वस्तुएँ सीधे इन्द्रियोंसे जानी जाती हैं, कुछ यन्त्रोंकी सहायतासे इन्द्रियोंसे ही जानी जाती हैं। कुछ मनसे, कुछ बुद्धिसे जानी जाती हैं। कुछ साक्षी-भास्य पदार्थ सीधे साक्षीसे ही जाने जाते हैं। परन्तु कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिनको आप किसी प्रमाणसे नहीं जान सकते सिवाय शब्द-प्रमाणके। आप धर्मका प्रत्यक्ष किस प्रमाणसे करेंगे? आप ऋषियोंके इस क्रान्तिकारी विचारपर ध्यान दें कि किसी वस्तुमें, किसी क्रियामें, धर्माधर्म नहीं होता और इसलिए धर्मका प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है। धर्म शाश्वत संविधानमें-से अर्थात् शास्त्रके अनादि-कालीन विधिनिषेध-में-से निकलता है।

ब्रह्मको आप कैसे जानना चाहते हैं? आँख, नाक, कान आदि प्रत्यक्ष-प्रमाणसे? जो आँख सम्पूर्णरूपको भी नहीं देख सकती, अतिसूक्ष्म खूनमें उपस्थित कीटाणुओंको नहीं देख सकती वह अनन्त ब्रह्मको क्या देखेगी? क्या आप ब्रह्मको चख लेंगे? ब्रह्म बोला जायेगा और आपके कान ब्रह्मको सुन लेंगे? ब्रह्म आपके मनकी छोटी-सी थैलीमें, वृत्तियोंके वर्तनमें आ जायेगा? यदि नहीं तो फिर कैसे?

वेदान्त पहले यही बताता है कि जो चीज प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे मालूम पड़ती है वह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म माने अनन्त। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध वस्तुएँ ब्रह्मसे अलग हैं, यह बतानेमें वेदान्तका

तात्पर्य नहीं है। ये ब्रह्मसे अलग नहीं हैं और ब्रह्म इतना ही नहीं है, यह बात बतानेमें तात्पर्य है। इसलिए कर दो निषेध इनका! 'नेति-नेति।'

एक शरीरमें ही जितने दृश्य पदार्थ हैं उनमें अलग कर दिया मैंको, आत्माको अलग करके अब यह बताता है कि यह विविक्त आत्मा ब्रह्म है। बिना मनोजागरणके देशका फैलाव, कालका नित्यत्व, वस्तु और उसका अनेकत्व प्रतीत नहीं होता। अब जो मनका साक्षी है वह कितना बड़ा? माने वही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

ऋषिकेशमें एक बालक था। उसने वेदान्त सुना और उसका खूब अभ्यास कर लिया। सब ब्रह्म है, यही उसका अभ्यास था। अब ठंडो पड़े तो भी गङ्गा नहाय। माँ-बाप मना करें तो कहे सब ब्रह्म है मैं भी ब्रह्म, गङ्गा भी ब्रह्म, स्नान भी ब्रह्म। उसके चाचाने चपत मार दिया तो रोने लगा। उससे पूछा तो बोला 'रोना भी ब्रह्म है'। विपिन बाबूने उससे बहुत जिरह की और बहुत सुन्दर जिरह की। परन्तु वह काट देता था—'प्रश्न और उत्तर सब ब्रह्म है'। जब वह रोने लगा तो उससे पूछा—'एक ब्रह्म तेरेमें रो रहा है और एक ब्रह्म अभी दूसरेमें हँस रहा है तो दो ब्रह्म हुए न?' वह बोला—'हाँ दो बह्म हुए।' इसपर कहा गया कि 'तेरा ब्रह्मज्ञान अभी कच्चा है। ब्रह्म दो नहीं हो सकते।'

तो विषय यह था कि ब्रह्म किस प्रमाणसे जाना जायेगा? जाना भी जायेगा कि नहीं? इसपर पूर्वपक्ष यह है कि 'ब्रह्म तो घटवत् सिद्ध वस्तु है। जब वस्तु है तब जानी क्यों नहीं जायेगी? इसलिए किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे वह जाना जाना चाहिए। सिद्धान्ती कहता है कि ब्रह्म सिवाय वेदान्त-वाक्य प्रमाणके दूसरे किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे जाना नहीं जा सकता क्योंकि उसमें न

कोई रूप है और न लिंग—'रूपलिङ्गादिराहित्यात् नास्यमान्तर-योग्यता।'

फिर ब्रह्म कैसे जाना जायेगा ? पहले एक बार सबका निषेध कर दो। उस निषेधावधिके रूपमें जो 'तुम' शेष रहते हो उसको वेदान्तशास्त्रका महावाक्य कहता है कि 'वही तुम देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म हो—'तत्त्वमसि'।

वेदान्त शास्त्रमें दो प्रकारके वाक्य होते हैं—एक अवान्तर वाक्य और दूसरे महावाक्य। अवान्तर वाक्योंका तात्पर्य धर्म, उपासना, योगमें होता है जिनका पर्यवसान अन्त:करणकी शुद्धिमें होता है और उनका परम तात्पर्य महावाक्यार्थधीके धारणकी-योग्यतामें होता है। महावाक्य तो शोधित त्वं-पदार्थ और शोधित तद्-पदार्थकी एकता बताता है—'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म।'

जब तुम सबसे न्यारे होकर बैठे तो शास्त्रने बताया कि यही अखण्ड ज्ञानस्वरूप ब्रह्मतत्त्व तुम हो। वहाँ तुम परिच्छिन्नताके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान होनेसे परिच्छिन्नता तुममें मिथ्या है।

श्रुतिने कहा—'तत्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृहदा० ३.९.२६) अर्थात् हम उस औपनिषद पुरुषके बारेमें प्रश्न कर रहे हैं जो केवल उपनिषद्के द्वारा ही जाना जाता है। दूसरी जगह श्रुति फिर कहती है—'नावेदविन् मनुते तं बृहन्तम्' 'अवेदवित् पुरुष उस ब्रह्मको नहीं जानता।'

अतएव निर्णय यह हुआ कि वेदान्त शास्त्र और उसमें भी महावाक्यके द्वारा ही आत्माका ब्रह्मरूपमें ज्ञान होता है। अन्य किसी प्रमाणसे यह जाना नहीं जा सकता। इस प्रक्रियाके अति-रिक्त अन्य प्रक्रिया केवल भावनात्मक होगी।

●

(३. ११)

केवल शास्त्र ही ब्रह्ममें प्रमाण है

जब अनन्त वस्तुका साक्षात्कार करना होता है तब परिच्छिन्न वस्तुकी ओरसे वृत्तिको हटाना पड़ता है। यदि न हटाया जाय तो एक-एक वस्तुकी विशेषता देखनेमें ही सारी बुद्धि लग जायेगी। यदि कोई यही पता लगानेमें लग जाय कि फलोंके स्वादोंमें क्या फर्क है तो उसकी सारी जिन्दगी बीत जायेगी परन्तु यह कार्य पूरा नहीं होगा। जब फलोंका अनुसन्धान भी पूरा नहीं होगा तो अनन्तका ज्ञान वह बुद्धि कैसे प्राप्त कर सकेगी? इसलिए जो कण-कणकी विशेषताके अनुसन्धानमें लग जाता है उसकी बुद्धि अनन्तके अनुसन्धानमें प्रवेश नहीं करती। यहीं तो विवेक, वैराग्य-की आवश्यकता है। जो अनन्त वस्तु है उसमें-से विशेषको निकाल-कर पहिचानना पड़ेगा।

एक आम है और एक अंगूर है। दोनोंके स्वादोंमें अन्तर है। इस अन्तरको बट्टेखाते डालो तो दोनोंमें स्वाद हैं। स्वादमें भी कुछ मिट्टी है, कुछ पानी है, कुछ अग्नि है, कुछ वायु है, कुछ आकाश है। इस अन्तरको भी बट्टेखाते डालो तो दोनोंमें सत्ता है। सत्ता तो आममें भी है, अंगूरमें भी है, परन्तु जातिरूप सत्ता दोनोंमें एक है और अखण्ड है। इस अखण्ड सत्ताके साक्षात्कारके लिए विवेक-शक्ति और वैराग्य-शक्ति दोनों जाग्रत् होनी चाहिए। विवेक असली अपरिच्छिन्नका ग्रहण कराता है और वैराग्य परिच्छिन्नमें अपरिच्छिन्नताकी बुद्धि नहीं होने देता।

विवेकके साथ यह ज्ञान भी चाहिए कि किस साधनसे किस साध्यकी प्राप्ति होती है। धर्मसे धर्मजन्य सुखाकारिता होती है जो अनेकविषया होती है। उपासनासे, जिसमें भावना और अभ्यास दोनों शामिल हैं, इष्टाकारता तथा तज्जन्य सुखाकारता होती है। यह एकविषया होते हुए भी इसमें जन्य-जनकभाव रहता है। सगुणमें विशेष वृत्तिका आदर है और निर्गुणोपासनामें विशेषाकार वृत्तिका तिरस्कार है। योगसे वृत्तिका पेट खाली किया जाता है और वह खाली वृत्ति अपने आश्रयमें बैठ जाती है। इसमें वृत्ति शान्त रहती है और इसलिए इससे शान्त सुखकी अनुभूति होती है। इन सभी साध्य अवस्थाओंमें जो एक सर्वनिष्ठ बात है वह यह है कि सब अवस्थाएं साधनजन्य हैं, अतः विनाशी हैं। चाहे वासनाओंका मर्यादित भोग हो (जैसे धर्ममें) या वासनाओंका रूपान्तरण हो जैसे उपासनामें) और या वासनाओंकी शान्ति हो जैसे योगमें, कोई वासनामूलक साधन आत्माके अपने ब्रह्मत्वके अज्ञानको निवृत्त करनेमें सीधा सक्षम नहीं है।

वेदान्तका कहना यह है कि केवल अधर्मसे, या केवल वासना

स्मृतिसे या केवल विक्षेपसे परमात्माका लोप नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो धर्म, उपासना, योगसे उसका साक्षात् हो जाता। परन्तु नहीं होता। इसलिए असलियत यह है कि जो वस्तु अद्वितीय; अविनाशी, परिपूर्ण स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान होती है वह केवल अज्ञानके कारण ही, न पहचाननेके कारण ही साक्षाद् अपरोक्ष नहीं भासती। परमात्माके अनुभवमें यदि कोई प्रतिबन्ध है तो उसको न पहचानना है।

जैसे मिट्टी न पहचाननेवाला व्यक्ति घट शब्द बोलता है और घटाकार वृत्ति बनाता है परन्तु ये घट शब्द और घट प्रत्यय मिट्टीको न पहचाननेके कारण हुए। जब मिट्टीको पहचान लिया तो घट शब्द और घट प्रत्यय बिलकुल व्यावहारिक (मिथ्या) हो गये और मिट्टी परमार्थ हो गयी। इसी प्रकार रज्जुको न पहचाननेसे सर्प शब्द और सर्प प्रत्यय होते हैं। रज्जुका ही नाम सर्प शब्द हुआ और रज्जुको ही सर्प समझा यह शब्द और प्रत्यय जबतक वस्तुको न समझकर प्रयुक्त किये जाते हैं तबतक तो वे दूसरेके बोधक होते हैं। परन्तु जब वस्तु पहचान ली जाती है तब चाहे शब्द कोई हो और वृत्ति कोई हो, वस्तु तो ज्योंकी-त्यों रहती है।

यह वेदान्त धर्म, उपासना, योगसे न्यारा है; सांख्य-न्याय-वैशेषिक, मीमांसासे न्यारा है; बौद्ध-जैनसे भी न्यारा है। क्योंकि यह परमात्माके अनुभव न होनेका कारण केवल अज्ञानको मानता है। न तो अधर्मको कारण मानता है, न विक्षेपको, न विस्मृतिको। इसीसे जब लोग दावा करने लगते हैं कि हम परमात्मामें बैठकर उठ आये, तो तुम अभी परमात्मामें नहीं बैठे थे, अज्ञानमें बैठे थे, उसीमें-से उठ आये हो। बोले हमने अपनी बुद्धिसे परमात्माको

जान लिया; तो तुमने परमात्माको नहीं जाना, अपने किसी बच्चेको जाना है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। (केन उप० २.३)

श्रुति कहती है—जिसने कहा मैंने बुद्धिसे परमात्माको जान लिया; उसने नहीं जाना।

हम एक महात्माके दर्शन करने गये गंगा-किनारे। पूनाके थे वे महात्मा। नाम उनका शंकर भारती या शंकरानन्द भारती था। पूर्वाश्रममें वे महामहोपाध्याय पं० श्रीधर पाठक थे। उन्होंने कहा—स्वामीजी, आपका हम क्या सत्कार करें। हमारे पास कोई सामग्री नहीं है। हम आपको 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।' इस मन्त्रकी व्याख्या सुना देते हैं।

उन्होंने बताया कि 'यदि द्रष्टा यह समझता है कि मैंने ब्रह्मको देख लिया तो वह गलत समझता है। और यदि प्रमाता यह समझता है कि मैंने ब्रह्मको देख लिया तो वह भी गलत समझता है।' क्योंकि प्रमाता प्रमाणके द्वारा प्रमेयको देखता है, प्रमाणका पक्षपात सदैव प्रमेयको दिखानेमें होता है, प्रमाताको दिखानेमें नहीं। प्रमाण प्रमेयपक्षपाती होता है और दूसरेको दिखाता है, और प्रमातासे भिन्नको दिखाता है। यह पहले हमारा अस्तित्व मान करके फिर दूसरेको हमारे सामने लाता है क्योंकि यदि हम ही न हों तो प्रमाण ही काम नहीं कर सकता। प्रमाण जितने मिलें दूसरेको दिखानेके लिए हैं। आत्माको विषयसे मिलानेवाले बिचौले हैं—प्रमाण। कोई अनुमान-रूप बुद्धिको भी प्रमाण मानते हैं और कोई निवृत्तिरूप समाधिको भी प्रमाण मानते हैं (यद्यपि उनको प्रमाण मानना बिलकुल असंगत है)। कोई अपने अनुभवको भी प्रमाण मानते हैं, परन्तु यह भी कोई संविधान नहीं है।

दुनियामें लाखों लोग हो गये, उन्होंने लाखों अनुभव करके लाखों सम्प्रदाय चला दिये। अनुभव वह प्रमाण होता है जो प्रमाणसे उत्पन्न प्रमाके अनुकूल होता है और जो मनमाना होता है वह अपनी वासनासे मिश्रित और अपनी परिच्छिन्नताको संपुष्ट करनेवाला होता है; उसमें अहंका ही विकास होता है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा—'महाराजजी, अमुक तो बड़ा मस्त रहता है, हमेशा हँसता रहता है, उसको तो ब्रह्मानुभूति हो गयी होगी?'

बाबा—मस्ती जीवधर्म है या ब्रह्मधर्म ?

शरीरमें जो अहंका विकाश है वह दूसरी चीज है; वह परिच्छिन्नतामें विशेषको लाता है। वेदान्त ऐसे लोगोंके लिए नहीं है। वेदान्त तो परिच्छिन्नताकी विशेषताको बाधित करता है। वेदान्त जीवनमें विशेषता लानेके लिए नहीं है, बल्कि जीवनमें जो आरोपित विशेष है उसको काटकर निर्विशेषता लानेके लिए है।

मोकलपुरके बाबासे पूछा—'तुम कौन हो बाबा ?'

बाबा—जो सर्प सो मैं, जो चींटी सो मैं जो मक्खी सो मैं !

ब्रह्म अद्वितीय वस्तु है। सर्वाधिष्ठान होनेसे परिपूर्ण कहा जाता है, स्वरूपसे नहीं। पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओंमें व्यापक दिक् तत्त्वका आश्रय होनेसे वह परिपूर्ण कहलाता है। युग, कल्प, मन्वन्तर, वर्ष, मास, दिवस, घण्टा, मिनट, सेकेण्डमें व्याप्य जो काल है उस कालका आश्रय होनेसे वह अविनाशी कहलाता है। स्वयं कालकी भी मृत्यु नहीं होती, वह स्वयं अनादि-अनन्त है, परन्तु उसके अधिष्ठान-ज्ञानसे काल भी बाधित हो जाता है। कालकी उपाधिके अध्यारोपका ब्रह्ममें अपवाद करनेके कारण ब्रह्मको अविनाशी कहते हैं, स्वरूप नहीं। यह जो द्रव्यरूप इन्द्र-

जाल है—अलग-अलग वस्तुओंमें जो एक सत्ता-सामान्य व्याप्त है, उसका अधिष्ठान होनेसे ब्रह्मको सत् कहते हैं, स्वरूपसे नहीं। ब्रह्मको चित् कहते हैं क्योंकि विशेष ज्ञानोंमें जैसे घटज्ञान; पटज्ञान मठज्ञानमें जो एक सामान्य ज्ञान है, बुद्धिज्ञान, उसका अधिष्ठान ब्रह्म है। औपाधिक ज्ञानोंका अधिष्ठान होनेसे, माने ज्ञानकी उपाधिके अध्यारोपका अपवाद ब्रह्ममें होनेसे, ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप कहते हैं।

ऐसे अनन्त ब्रह्ममें कोई बैठकर उठ आया था उसको बुद्धिसे जान लिया, सम्भव नहीं। 'मतं यस्य न वेद सः'।

इसी बातको प्रस्तुत प्रसंगमें यों कहा कि किसी भी प्रमाण द्वारा स्वरूपभूत देशाधिष्ठान, कालाधिष्ठान, द्रव्याधिष्ठान और अध्यस्ताभावाधिष्ठान, प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्मको जाना नहीं जा सकता—'मास्यमान्तरयोग्यता'—वेदान्त वाक्योंके अतिरिक्त किसी भी अन्य साधन या प्रमाणसे अद्वय ब्रह्मका साक्षात्कार सम्भव नहीं है।

तब ? ब्रह्म चेतन और अद्वितीय होनेसे अपना स्वरूप है और इसलिए अज्ञानके कारण ही उसकी अप्राप्ति है। कल्पित सर्पसे ढका रज्जु ही सर्प भासता है और सर्पाकार-वृत्तिसे ढका हुआ आत्मतत्त्व सर्पाकार वृत्तिमात्र भासता है परन्तु वास्तवमें जो रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य है वही वृत्त्यवच्छिन्न चेतन है, इस बोधके लिए वेदान्तकी अपेक्षा होती है।

भक्त लोग अन्तर्यामी रूपसे परमेश्वरको नित्य प्राप्त मानते हैं परन्तु विस्मृति और विमुखतासे अप्राप्त मानते हैं। अतएव वे स्मृति और सन्मुखतासे परमेश्वरका साक्षात्कार मानते हैं। कर्मवादी चाहे वे वेदोंको माननेवाले परन्तु ईश्वरको न माननेवाले आस्तिक पूर्वमीमांसक हों या वेद और ईश्वर दोनोंको न मानने-

वाले नास्तिक जैन हों, तो कर्मजन्य सुखमें और कर्मजन्य आवरण-में भटकते ही रहेंगे। उनका परमार्थ-सत्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्ततोगत्वा उन्हें कर्म छोड़ना पड़ेगा और परमार्थ सत्यके साक्षात्कारके लिए वीतरागी होना पड़ेगा।

'शास्त्रयोनित्वात्'का अर्थ है कि बिना शास्त्र-उपदेशके स्वाभाविक संस्कारधारामें अज्ञाननिवारक ज्ञानका उदय नहीं होता।

ईश्वरकी अपेक्षा साधारण लोगोंमें गुरुके प्रति प्रेम अधिक होता है। क्योंकि ईश्वरसे जो प्रेम है वह शास्त्र-विधिसे प्राप्त है उसमें सहज प्रेम नहीं होता, और गुरु प्रत्यक्ष होनेके कारण उसमें सहज प्रीति हो जाती है। गुरुकी अपेक्षा माता-पितामें प्रेम अधिक होता है क्योंकि गुरुकी प्रीतिमें केवल शास्त्रका संविधान है और माता-पिताके प्रति प्रीतिमें शास्त्रविधि भी है और रक्त-सम्बन्ध भी है।

माता-पितासे अधिक प्रेम पत्नीमें होता है क्योंकि शास्त्रविधि भी है और पत्नीसे अधिक प्रेम प्रेयसी या वेश्यामें होता है क्योंकि वहाँ विधानकी गन्ध नहीं है। विधानके अधीन प्रेम करनेमें कठिनाई होती है। जहाँ इन्द्रियोंकी सहज वृत्ति होती है और विधानकी गन्ध भी नहीं होती वहाँ प्रेम सुगमतासे होता है। निष्कर्ष यह कि परमेश्वरमें मन लगाना अत्यन्त कठिन है। उसमें भी अद्वैत-बोधकी वृत्ति तो असम्भव ही है जबतक अद्वितीयता-बोधक, पूर्णता-बोधक वाक्योंसे उद्‌बोधन न हो।

सृष्टिका स्वाभाविक प्रवाह हमको कहाँ ले जा रहा है, इसका ध्यान करो तो पाओगे कि वह हमें स्वच्छन्द इन्द्रिय-भोगमें, वासनाओंके विस्तारमें, अधर्मकी सीमाओं तक भी ले जा रहा है और परिणाम-स्वरूप दुःखमें, रोगमें, जड़तामें, परिच्छिन्नतामें

भेदमें ले जा रहा है। धर्म मनुष्यको जो राग-द्वेषमूलक कर्त्तव्यताभास है उससे रोकनेके लिए है। धर्म-शास्त्रसे हो प्राप्त होता है। उपासना वृत्तियोंके परिष्कार और उन्नयनके लिए है। यह भी शास्त्रसे ही प्राप्त होता है!

समाधि-योग विक्षिप्त चित्तके समाधानपूर्वक जीवनमें वासना और कर्ममें समन्वय स्थापित करनेके लिए है। समाधिकी प्रेरणा भी शास्त्र और गुरुसे ही मिलती है। अपनी आत्माको ब्रह्मताका ज्ञान सम्पूर्ण अनर्थोंको समाप्ति और परमानन्दकी प्राप्ति तो कराती ही है वह और केवल वही एकमात्र परमार्थ सत्य भी है।

इस अद्वितीयताका बोध भी केवल शास्त्रैकगम्य है। जैसे धर्म बिना बताये किसीको मालूम नहीं पड़ सकता, जैसे ईश्वर और समाधि बिना बताये किसीको मालूम नहीं पड़ सकते, उसी प्रकार जो द्वैताभावसे उपलक्षित, विनाशाभावसे उपलक्षित, परिच्छेदाभावसे उपलक्षित, अन्याभावसे उपलक्षित, परिपूर्ण अविनाशी, सच्चिदानन्दघन अद्वैत वस्तु है उसका ज्ञान भी बिना शास्त्रके बताये मालूम नहीं पड़ सकते। इसलिए 'शास्त्रयोनित्वात्'।

शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्य तस्य भावः तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्।

जगत्का कारण ब्रह्म है यह भी शास्त्रसे ही ज्ञात होता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' यह श्रुति ब्रह्मको जगत्कारण बताती है। यह बात तो 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें आ ही गयी। अब अलग सूत्रसे ब्रह्मको शास्त्रयोनि क्यों बताया? तो कहा कि स्पष्टीकरणके लिए।

[जो कारण बोधक शास्त्र हैं, वे तो परमात्माके प्रतिपादक हैं केवल आगम ही इसमें प्रमाण है]

ही। परन्तु समग्र सृष्टिके सम्पूर्ण शास्त्र हैं जो वेद, वे उसी परमेश्वरके पदका वर्णन करते हैं—

सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति (कठ० १.२.१.५)

इस श्रुतिके आधारपर 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रकी प्रवृत्ति हुई। श्रुतिमें जिज्ञासा है कि—

तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृहदा० ३.९.२.६)

'हम उस औपनिषद पुरुषके बारेमें पूछते हैं!' दूसरी श्रुति उत्तर देती है—

नावेदवित् मनुते तं बृहन्तम्।

'जो वेदको नहीं जानता (अर्थात् जो वेदको अर्थराशिको नहीं जानता) वह उस महान् पुरुषको नहीं समझ सकता।'

हमारा मार्ग संहित (क्रमबद्ध) है या किसी तीसमार खाँने सातवें आसमानमें निशाना लगाकर पैदा किया है? इसकी कोई सम्प्रदाय-परम्परा है या नहीं? परमार्थके मार्गपर चलनेवालोंको इस बातपर ध्यान देना चाहिए।

अपने-अपने ज्ञानको अनन्त बतानेवालोंका भी एक अनुशासन है। वह क्या? यह कि 'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति'—सम्पूर्ण ज्ञानोंका पर्यवसान उस-एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वमें है।

जबतक समझनेवाली चीजको ब्रह्म मानोगे तबतक वह ब्रह्म नहीं हो सकती। क्योंकि वह मुझसे अलग है और मैं उससे अलग हूँ। तब वह अद्वय कैसे हुई? ब्रह्मको जबतक अलगरूपसे समझोगे तबतक ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ। जबतक कालमें ब्रह्म समझोगे तबतक ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ। जबतक देशमें ब्रह्म समझोगे तब-

तक ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ। जबतक ब्रह्मको कोई प्रत्यक्ष-परोक्ष या अपरोक्ष वस्तु समझोगे तबतक ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ। ब्रह्मज्ञानका भी एक क्रम है और वह क्रम है कि आत्मा ब्रह्म है। जब इस क्रमसे जानते हैं तो जानते हैं कि सम्पूर्ण प्रतीति, सम्पूर्ण दृश्य मुझ अनन्त-अद्वय अधिष्ठानमें भास रही हैं। सब मैं ही अन्यरूपसे प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्षरूपमें प्रतीत हो रहा हूँ। तब आत्मा अखण्ड ब्रह्म हो जाता है।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(महिम्नस्तोत्र ७)

'वेद, सांख्य, योग, पाशुपतमत (शैव), वैष्णव और जितने भी भिन्न-भिन्न प्रस्थान हैं—सब कहते हैं कि हम बड़े, हमारे मार्गमें चलनेका यह बड़ा सम्बल है। ये सब रुचि-भेदसे ठीक ही हैं, क्योंकि जैसे टेढ़े-सीधे रास्तोंसे बहनेवाली सब सरिताएँ समुद्रमें ही आकर पर्यवसित होती हैं वैसे ही सभी शास्त्र और सभी मतोंका पर्यवसान हे शम्भो! आपमें ही होता है।'

इस प्रकार 'शास्त्रयोनित्वात्'का अर्थ हुआ कि परमात्माको समझनेके लिए शास्त्रका सहारा लेकर पहले परमात्माके ठीक स्वरूपको समझे, तो अज्ञान-आवरण अपने-आप भङ्ग हो जाता है। और आप देखेंगे कि जो ब्रह्म यहाँ है और वहाँ भी है, अब भी है और तब भी है, मैं भी है और यह भी है, वह पहचाननेके सिवाय किसी और प्रक्रियासे प्राप्त नहीं है। और वह प्रक्रिया केवल शास्त्रसे ही प्राप्त होती है।

●

(३.१२)

ब्रह्मज्ञानकी प्रक्रिया

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

कहीं भी मनुष्य रहता है और जहाँ कहीं उसकी मति-गति-रति है, उसके और ब्रह्मज्ञानके बीचमें जो कड़ी है उसको बतानेके लिए 'अथ' शब्दका प्रयोग है। मनुष्य अविवेकपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है। रागमें, अशान्तिमें, इन्द्रियोंकी विकलतामें, काम-धन्धेमें, अश्रद्धामें, चपलतामें, व्यग्रतामें आदमी अपना जीवन नष्ट कर रहा है और तारीफकी बात यह है कि जहाँ फँसा है वहाँ ऐसा फँसा है कि करवट बदलनेको मन नहीं करता। जब मनुष्य वर्तमानसे असन्तुष्ट होता है तब उसे लगता है कि सत्य कहीं और इससे आगे है। वह प्रभुसे प्रार्थना करता है।

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय
(बृहदा० १.३.२८)

'हे प्रभु! हम असत्यमें फँसे हैं। हमें असत्से उठाकर सत्का दर्शन कराओ। हम अन्धकारमें भटक रहे हैं, हमें ज्योतिका दर्शन कराओ! हमें मृत्युसे छुड़ाओ और अमृतमें ले चलो!'

वेदान्त बताता है कि परम सत्य, परम ज्ञानस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप तुम्हारा आत्मा स्वयं है, तुम स्वयं हो वह सत्, चित् और आनन्द। बस; तुम उसे पहचान नहीं रहे हो, इसीलिए तुम अनर्थमें फँसे हो। साधक सोचता है: यह कैसी लीला है प्रभु! मैं महान् हूँ; परन्तु मैं ही नहीं पहचानता! आखिर क्यों? कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे कर्म या भावना या वासनामें कोई त्रुटि हो?

वेदान्त बताता है कि किसी भी कर्म, भावना या स्थितिके द्वारा परमार्थ-सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अपनी-अपनी जगह सब ठीक हैं; परन्तु उन सबके फल अनित्य हैं, उनसे किसीसे भी या सम्मिलित रूपसे भी नित्य-परमार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

धर्मका फल इस लोकमें सुख और मरनेके बाद स्वर्ग-सुख होता है। यह सब कबतक? जबतक पुण्य क्षीण नहीं होता—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' (गीता ९.२१) पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोक!

भावना विश्वासमूलक हो या आवृत्तिमूलक, फल है भगवदाकारता। जबतक करते रहोगे बनी रहेगी। जब कर्तृत्व ढीला पड़ जायेगा या सुषुप्तिमें लीन हो जायेगा, तो भगवदाकारता भी छूट जायेगी। हाँ, अनन्त सत्यकी प्राप्तिके लिए विश्वास और भावना आधे रास्तेतक तो पहुँचाते ही हैं।

स्थिति—कबतक रहेगी ? जहाँ बैठोगे वहाँ तुम्हारा सिंहासन या कमरा हो सकता है या तुम्हारे मालिकका कमरा हो सकता है; परन्तु वहाँ तुम हमेशा बैठे नहीं रह सकते। यह स्थिति तो कालकी बच्ची है, वह कालाधिष्ठानका साक्षात्कार कैसे करायेगी। बुद्धने विज्ञानको कालसे बड़ा माना और जैनने दिक्तत्त्वको विज्ञानात्मासे बड़ा माना।

वेदान्तका कहना है कि चाहे कुछ कर्मसे बनाओ, चाहे द्रव्यसे बनाओ, चाहे वृत्तिसे बनाओ और चाहे कहीं कभीतक बैठो; परन्तु कृतसे अकृत प्राप्त नहीं हो सकता। 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मुण्डक० १.२.१२)। जो तुम अपने कर्तापन, भोक्तापनसे बनाते हो वह वस्तु नित्य नहीं हो सकती।

क्योंकि किसी भी कृत्यके द्वारा नित्य वस्तु उत्पन्न नहीं की जा सकती; अतः परमात्मा साधन-साध्य नहीं है। ब्रह्म घटवत् सिद्धवस्तु है—'घटवत् सिद्धवस्तुत्वात्।' ब्रह्म तो एक ऐसी चीज है जैसे कि माटी है, धरती है, आग है, हवा है, आकाश है, दिक् है, काल है। इसलिए ब्रह्मको केवल मात्र जानना है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे—मकान बनाया जाता है, घड़ा बनाया जाता है; परन्तु उसमें क्या माटीको भी बनाते हैं ?

इसी प्रकार परमार्थ वस्तु बनायी नहीं जाती, उसको तो बस जाना जाता है। यही ब्रह्म-जिज्ञासाका अर्थ है।

ये जो अलग-अलग परिच्छेद-सामान्य हैं, उनके अभावसे उपलक्षित तत्त्व ब्रह्म है। घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञानमें जो एक ज्ञान-सामान्य है; घट सत्ता, पट सत्ता, मठ सत्तामें जो एक सामान्य-सत्ता है; घटकी प्रियता, पटकी प्रियता, मठकी प्रियतामें

जो एक सामान्य प्रियता है, उन सामान्य सत्ता, सामान्य ज्ञान और सामान्य प्रियताओंका जो स्वयं प्रकाश आश्रय है, वही आत्मतत्त्व है, अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। आत्मा होनेसे वह नित्य प्राप्त है और नित्य प्राप्त वस्तुकी प्राप्तिमें बस; पहचानने भरकी देर है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा करो।

जब पूर्णको पहचानना है तो एक जो दुनिया दिखायी पड़ रही है यह उस पूर्णमें क्या है इसका ज्ञान होना चाहिए। इसको बतानेके लिए तो कहा 'जन्माद्यस्य यतः'। और दूसरी बात यह ज्ञान होना चाहिए कि पूर्णको देखनेके लिए कौन-सा प्रकाश चाहिए। इसके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' कहा।

यदि तुम पूर्णको दुनियासे अलग आसमानमें कहीं ऊपर टँगो मान लोगे तो वह पूर्ण वस्तु अद्वय तो होगी ही नहीं, परोक्ष भी हो जायेगी। और यदि पूर्णको आँख, नाक, कान आदि प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय मान लोगे तो तुम उसकी पूर्णताको पहचान नहीं सकोगे, अज्ञान शेष रह जायेगा।

वेदान्तको प्रतिज्ञा है कि एक ब्रह्मको जाननेसे सर्वका ज्ञान हो जायेगा। इसलिए यह जगत् भी ब्रह्माभिन्न होना चाहिए। इसको बोधन करनेके लिए 'जन्माद्यस्य यतः' कहा और उस पूर्णको जाननेके लिए प्रमाणका सूचक है 'शास्त्रयोनित्वात्'।

जैसी चीज होती है उसको देखनेके लिए प्रमाण भी वैसा ही होना चाहिए। यदि पुस्तकके अक्षर पढ़ते हैं, तो किताब, रोशनी, पढ़नेवाला, आँख, मन ये सब चाहिए। परन्तु यदि दीपकको ही देखना है, तो उक्त चीजोंमें रोशनी अलगसे होना जरूरी नहीं है। यदि आँख देखनी हो, तो मनसे ही देख सकते हैं। अच्छा, यदि मन देखना हो तो ? उसके लिए किसी करणकी अपेक्षा नहीं है।

वह सीधा साक्षी-भास्य है। सुख-दुःखको जाननेके लिए मनकी जरूरत पड़ती है; परन्तु सुषुप्तिके विश्रामको जाननेके लिए मनकी जरूरत नहीं होती। सुषुप्तिमें सारे प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार लुप्त हो जाते हैं; परन्तु सुषुप्तिको हम साक्षात् देखते हैं। दूसरेको देखनेके लिए ओजार चाहिए; परन्तु अपनी सुषुप्तिको देखनेके लिए कुछ नहीं चाहिए। हमने सपना देखा या नहीं; इसको हम किस यन्त्रसे जानते हैं? किसीसे नहीं। राग, द्वेष, स्वप्न, सुषुप्ति, सुख-दुःख सब साक्षी-भास्य हैं, स्वसंवेद्य हैं, अपने आपसे सीधे ही जाने जाते हैं।

सुषुप्तिके द्रष्टाको साक्षी इसीलिए कहते हैं; क्योंकि वह साक्षात् बिना करणके सुषुप्तिको देखता है।

साक्षी = साक्षात् पश्यति अर्थात् करणानि = इन्द्रियाणि विनैव पश्यति।

यह जो साक्षी है वह रहता जाग्रतमें भी है; परन्तु जाग्रत् अवस्थामें जब हम घड़ेको देखते हैं तब यह मनोवृत्तिके साथ एक हो जानेके कारण आभासके साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है। अर्थात् हम दुनियामें दो तरहसे चीजोंको देखते हैं। एक अहम्से मिलकर और एक अहम्से छूटकर। घट, दीपक, आँख—ये अहम्से मिलकर देखे जाते हैं और सुषुप्ति अहम्से छूटकर देखी जाती है। जिस अहम्से मिलकर देखा जाता है, वह 'छोटा' अहम् है।

अच्छा लो, अब हमने छोटे अहम्से तादात्म्य हटा लिया। अब तो हम ब्रह्म हो गये न! बोले—ठीक है। जब छोटे अहम्से तादात्म्य नहीं है तो, है तो वह बड़ा; परन्तु एक अविद्या उसके साथ जुड़ी है। यह ऐसी कि समाधि, मूर्च्छा, सुषुप्तिमें भी नहीं छोड़ती, साक्षी होकर बैठनेपर भी नहीं छोड़ती। वह अविद्या

क्या है कि न तो आपने जाग्रत् अवस्थामें—साक्षी दशामें अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जाना और न तो सुषुप्ति दशामें। जैसे सोनेसे पहले अपनेको चोर समझते थे—वैसे ही सुषुप्तिसे उठनेपर भी अपनेको चोर समझते हैं। तो सुषुप्तिमें भी वह अपनेको चोर समझना कहीं गया थोड़े ही, बस दब गया वह। इसी प्रकार अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सम्बन्धी, संसारी, परिच्छिन्न जो कुछ भी समझते हैं वह जैसा सोनेसे या समाधिमें जानेसे पूर्व रहता है वैसे ही सुषुप्ति या समाधिके बाद रहता है और बीचमें दब भर जाता है। अतः अज्ञानको मिटानेका सामर्थ्य किसी स्थितिमें नहीं है चाहे वह सुषुप्ति हो या समाधि।

वेदान्त कहता है कि अज्ञानको मिटानेके लिए न वस्तु चाहिए, न भावना, न स्थिति। गलेमें मणि लटकानेसे या छाती-पर शालिग्राम या शिवलिंग लटकानेसे अज्ञान नहीं मिटेगा। सदाचार, दान, जप, होमसे अज्ञान नहीं मिटेगा। सत्य, अहिंसासे अज्ञान नहीं मिटेगा। किसी इष्टाकार-वृत्तिसे अज्ञान नहीं मिटेगा। उसमें तो बस; भावित-आकार वृत्तिमें बैठ जायेगा। अपने परि-च्छिन्न होनेका जो भ्रम तुम्हें जाग्रत्-अवस्थामें लगा हुआ है वह जब जाग्रत्-अवस्थामें टूटेगा तब वह टूटेगा। यह भ्रम सुषुप्तिमें नहीं लगा। उस समय तो यह अज्ञानरूप रहता है। स्वप्नमें भी नहीं लगा। यह भ्रम जाग्रतमें क्रियाशील रहता है। इसलिए इसे जाग्रत्में ही तोड़नेकी जरूरत है। यह आँख बन्दकर या खोलकर नहीं लगा, इसलिए यह आँख बन्द या खोलकर नहीं टूटेगा। यह भ्रम मनके विक्षिप्त होनेसे नहीं लगा, इसलिए यह शान्ति-समाधिसे नहीं टूटेगा। यह तो स्वरूपको न समझनेसे लगा है, इसलिए ज्ञानसे ही टूटेगा।

स्वरूपको न समझना एक व्यावहारिक भूल है। यह भ्रम

किसको लगा है ? जिसको यह मालूम पड़ता है कि हमारे अन्दर कुछ भूल है, कुछ अज्ञान है, कुछ कमी है। 'द्रष्टा एक है या अनेक हैं, द्रष्टा साक्षी है या कर्ता है, ईश्वर जगत्से अलग है या जगत्में ही है, ईश्वरमें 'मैं' ही है या दूसरा है, ईश्वरको जान लेनेसे मुक्ति होती है या कि नहीं होती है—ये सब अज्ञान आदमीको लगा है। जो समझदार है, वही उसको मिटाता है; आत्मा या ब्रह्म अज्ञानको नहीं मिटाता।

जाग्रत अवस्थामें ही अज्ञानको मिटानेका उपाय बताता है वेदान्त। समाधिमें और सुषुप्तिमें व्यवहार नहीं होता। स्वप्नमें गुरु और शास्त्र नहीं मिलते। तब ? 'जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें जो एक साक्षी है, चेतन, वह एक है और वह एक चेतन तुम हो और वह जो तुम एक चेतन हो वही अखण्ड अद्वय ब्रह्म है।' इस प्रकार अज्ञानके विषय ब्रह्म और अज्ञानका आश्रय तुम साक्षी आत्माको एकताके बीच अज्ञान पिस जाता है। अज्ञान मिटानेकी जाग्रत् अवस्थामें यह प्रक्रिया वेदान्त बताता है।

यह वेदान्त जाग्रत अवस्थामें समझदार आदमीके लिए उसका भ्रम तोड़नेके लिए है और भ्रमको तोड़कर उसे नित्य सुखी करनेके लिए है। यह आपको राज्य देकर सुखी करनेके लिए नहीं है, स्वर्गमें पहुँचाकर सुखी करनेके लिए नहीं है, बैकुण्ठमें या गुफामें या समाधिमें बन्द करके सुखी करनेके लिए नहीं है। इसी समय जो आपको दुःखी होनेका भ्रम हो गया है, मरने-जीनेका भ्रम हो गया है, पापी-पुण्यात्मा होनेका भ्रम हो गया है, लोक-परलोकमें आने-जानेका भ्रम हो गया है, जन्म-जन्मान्तरमें आने-जानेका भ्रम हो गया है, यह सब अपनेको परिच्छिन्न समझनेके कारण हुआ है। इस परिच्छिन्नताके भ्रमको

मिटानेके लिए जाग्रत् अवस्थामें ही जो ज्ञान या समझदारी अपेक्षित है, उसका नाम वेदान्त है।

आप यहीं श्रवण करते-करते यह समझें कि आपके साथ जो जीवत्व जुड़ा हुआ है—पापी-पुण्यात्मा समझना, बाबा-पोता-बाप समझना, सुखी-दुःखी समझना, नरक-स्वर्गमें आने-जानेवाला समझना, जन्म-जन्मान्तरमें आने-जानेवाला समझना, परिच्छिन्न समझना—यह भूल है। इसको इसी समय यहाँ बैठे-बैठे मिटा दीजिये। क्योंकि जब सुषुप्तिदशामें जहाँ ये सब जीवत्वके प्रत्यय प्रतीत नहीं होते, कालकी वृत्ति, देशकी वृत्तियोंसे रहित दशा, सुषुप्तिका साक्षी है, वही साक्षी स्वप्नमें भी वैसा ही और जाग्रत्‌में भी वैसा ही है और वह अखण्ड ब्रह्म है।

वेदान्त-ज्ञान बिलकुल उधार सौदा नहीं करता, कलके लिए कोई वायदा नहीं करता। आज लो, और यदि आज नहीं मिला, तो कल फिर लेने आना। न तो पहले तुमसे कोई कीमत लेते हैं और न उधार सौदा देनेका वायदा करते हैं। यह तो साक्षात् अपरोक्ष वस्तु है। जिनको मजदूरी करनेकी आदत पड़ी है उनकी समझमें यह नकद सौदा नहीं आता। एक तो हैं पलायनवादी जो मानते हैं कि समाधिमें जाकर ब्रह्म मिलेगा, दूसरे हैं अन्यकी शरणमें जानेवाले। इनकी समझमें भी यह नहीं आता।

कुछ लोगोंको भ्रम हो गया कि किसीने देशपर हमला कर दिया। एक भागा गुफाकी ओर, दूसरा राजाकी शरणमें भागा, तीसरा वहीं आँख बन्द करके बैठ गया, चौथा बचनेके लिए दान-दक्षिणा लुटाने लगा। किसी जानकारने बताया कि भले मानुषो! तुम लोगोंको आक्रमणका भ्रम हो गया है, कहीं कुछ आक्रमण नहीं है, मैं स्वयं देखकर आया हूँ।

साधनोंकी भी यही गति है। यह तो बस ऐसा है कि—

मान मान बन्धनमें आयो।

हमारे एक महात्मा थे। उन्होंने अद्वैत-कौस्तुभ नामका एक ग्रन्थ लिखा है संस्कृत भाषामें। उन्होंने लिखा कि ज्ञान तो बड़ा सुगम है। ईश्वरकी कृपाका विलास तो देखो, यह जाग्रत् तुमको सुख-दुःख देनेको नहीं आता। यह तो प्रतीतिका एक खेल है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तुम्हारे सामने आती हैं। यह तो जैसे अपने स्वरूपके पर्देपर अपने स्वरूपकी ही रोशनी नाना प्रकारके नाच नचाकर नाना दृश्य दिखा रही हो। और उसी दृश्यको अपना दुश्मन समझ करके नासमझीसे लगता है कि 'अरे मरे!' जैसे सिनेचित्रमें पर्देपर दागी हुई बन्दूकको गोली लगती है कि अपने ऊपर हो आयी। वह तो उस चित्रको देखनेवाले चश्मेका दोष है। इसी प्रकार न तो कहीं मल दुःख दे रहा है और न विक्षेप या आवरण।

सारे दुःखका कारण, सारी भ्रान्तिका कारण, जन्म-मृत्यु, लोक-परलोक, साधन-साध्यका कारण अपने स्वरूपकी नासमझी है और नासमझी कोई अभावरूप पदार्थ नहीं है कि यह समाधिमें हो, सुषुप्तिमें हो। यह तो बीज है। जबतक इसको तुम जाग्रत्में नहीं काट देते, तभीतक वह सुषुप्ति-समाधिमें है। इसलिए अज्ञानको जाग्रत् अवस्थामें ही काटो।

वह कौन-सी चीज है जो अज्ञानको जाग्रत् अवस्थामें काट देती है? तो कहा—'शास्त्रयोनित्वात्।' अर्थात् सत्यका वह शंसनात्मक ज्ञान (शासनात्मक नहीं) जो यथार्थ सत्यका निरूपण करता हो। यह कोई पुरोहितवाद या मौलवावाद या पादरीवाद या ग्रन्थिवादका शास्त्र नहीं है जो कहे कि यह करो और यह न

करो। तुम जिस सम्प्रदायमें हो उसको मानो और वैसा करो। वेदान्त कोई धर्मशास्त्र नहीं है। वेदान्त और धर्मशास्त्र (सम्प्रदाय)का क्षेत्र अलग-अलग है। वेदान्त यह नहीं बताता कि तुम कितनी बार नहाओ या कितनी बार हाथ धोओ या क्या खाओ और क्या न खाओ। न वह यह बताता है कि मिट्टीसे घड़ा कैसे बनता है या सोनेमें जेवरके डिजाइन कैसे गढ़े जाते हैं। वेदान्त तो सृष्टिमें मूलतत्त्व क्या है इसको बताता है। यदि इसके बतानेपर तुम समझ गये कि मैं कंगन, घड़ा, हार नहीं हूँ, मैं तो सोना हूँ। मैं घड़ा, सकोरा, भोलुआ नहीं हूँ, मैं तो माटी हूँ। मैं तरंग, फेन, बुदबुद नहीं हूँ, मैं तो जल हूँ। मैं ज्वाला, चिनगारी, कोयला नहीं हूँ, मैं तो अग्नि हूँ। मैं सुगन्ध, दुर्गन्धका झोंका नहीं हूँ, मैं तो वायु हूँ। घट, पट मठसे अवच्छिन्न आकाश मैं नहीं हूँ, मैं तो महाकाश हूँ। देह और अन्तःकरणकी अवस्थाओंसे अनवच्छिन्न अखण्ड ब्रह्मतत्त्व मैं हूँ—यदि जाग्रत्-अवस्थामें ही गुरुके सामने बैठे-बैठे, गुरुके बोलते-बोलते तुम यह समझ गये तो वेदान्तका कहना है कि श्रवण-दशामें ही तुम्हारे जीवभावकी निवृत्ति हो जायेगी। क्योंकि जीवभाव केवल न समझनेके कारण है और जब तुम ब्रह्मको समझ जाओगे तो जीवभाव निवृत्त हो जायेगा।

वेदान्त तत्त्व बताता है और तत्त्वको बतानेवाला वेदान्त-शास्त्रके अतिरिक्त अन्य कोई शास्त्र नहीं है। 'शास्त्रयोनित्वात्'।

•

(१. १३)

प्रमाण-प्रक्रिया–१

अब हम आपको थोड़ी प्रमाण-प्रक्रिया सुनायेंगे जो सिवाय वेदान्तके आत्माकी अपरोक्षतामें अन्यत्र स्वीकार नहीं की गयी है। कोई मतवादी यह स्वीकार नहीं करते कि आत्माकी-ब्रह्मताकी अपरोक्षता प्रमाणसे होती है। वे सब यह मानते हैं कि उसके लिए कुछ-न-कुछ करना पड़ता है; कुछ क्रिया, कुछ भावना, कुछ योग करना पड़ता है।

कर्ममें विधान होता है कि 'यह करो, यह मत करो!' उपासनामें परमात्माको परोक्षतया जानकर उसके भाव और अभ्यासमें लग जाना होता है। योगमें परमात्मा स्वयं प्राप्तव्य नहीं है, वह योगमें सहायक मात्र है। वेदान्तकी प्रणाली इन सबोंसे विलक्षण है।

वस्तुका अपरोक्ष तीन प्रकारसे होता है—

(१) विषय इतना तीक्ष्ण हो कि वह स्वयं हमको आकर जगादे। उदाहरणके लिए हम शान्त बैठे हैं और कोई मैलेकी गाड़ी सामनेसे निकल जाय तो दुर्गंन्ध इतनी तीक्ष्ण होती है कि वह स्वयं नाकमें आकर घुस जाती है। और दुर्गन्धका हमको अपरोक्ष हो जाता है। इसको कहते हैं 'विषयोत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान।'

मान लो कि हम सो रहे हैं और किसीने टार्चसे तेज रोशनी हमारी आँखोंपर डाली। तो वह प्रकाश हमारे नेत्रोंमें घुसकर हमको जगा देता है और हमें प्रकाशका अपरोक्ष हो जाता है।

(२) 'संविदैक्य प्रक्रियोत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान'—सामने कोई वस्तु पड़ी है, वह सोना भी हो सकती है और पीतल भी। अब गौरसे देखेंगे तो चित्त द्वारा वह वस्तु ग्रहण कर ली जायेगी और वह हमारी संवेदनासे एक हो जायेगी। यह ज्ञान अपरोक्ष हो जायेगा कि वस्तु स्वर्ण है (या पीतल है)।

तो प्रमाणवृत्तिपर आरूढ़ चेतन प्रमेयसे तादात्म्यको प्राप्त हो जायेगा। असलमें घट और घटाकार वृत्ति दोनों एक ही ज्ञानसे प्रकाशित हो रहे हैं। वहाँ संविद्का ऐक्य है। अन्तःकरण है हमारे शरीरके भीतर। जब उसमें घट वस्तु बिलकुल ठीक-ठीक आगयी तो जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है वही घटावच्छिन्न चैतन्य है। इसका अर्थ है कि वृत्ति द्वारा हमारी घटसे एकता हो गयी (यह हुई वृत्तिव्याप्ति) और 'अहं घटज्ञः' (मैं घटको जानता हूँ या जाननेवाला हूँ) यह फलव्याप्तिरूप वृत्तिज्ञान हो गया। इस प्रकार अपरोक्षज्ञानकी यह संविदैक्य प्रक्रिया है।

विषयोत्पन्न-अपरोक्ष ज्ञान-प्रक्रियामें विषय स्वयं संविद्में प्रतिष्ठित होकर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है और संविदैक्य

प्रक्रियामें संविद् विषयमें प्रतिष्ठित होकर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्य, जड़ वस्तुके अपरोक्षमें यही दो नियम हैं।

(३) तीसरी चेतनके अपरोक्षकी प्रक्रिया है। इसको 'अज्ञान-हान' प्रक्रिया कह सकते हैं।

चेतन नित्य अपरोक्ष है। वह परोक्ष तो कभी होता ही नहीं। मैं नहीं हूँ, यह भ्रान्ति कभी किसीको नहीं होती; मैं अज्ञानरूप हूँ या मैं जड़रूप हूँ, यह भ्रान्ति कभी किसीको नहीं होती। मैं अप्रिय हूँ, यह भ्रान्ति कभी किसीको नहीं होती। मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं प्रियरूप हूँ—ऐसा अपना आत्मा तो स्वतःसिद्ध है, नित्य अपरोक्ष है। तब चेतनकी अपरोक्षताका क्या अर्थ है ?

आत्मामें जो छोटी-छोटी चीजोंसे मिलकर अपनेको छोटा समझनेकी भ्रान्ति हो गयी है, अपने सत्-चित्-आनन्द-अद्वयरूपके विपरीत जो अपनेमें जन्म-मृत्यु, दुःख और परिच्छिन्नताका अध्यास हो गया है, उस अध्यासकी निवृत्ति चेतनकी अपरोक्षतामें अपेक्षित है।

आओ, एक आलम्बन लेते हैं—काशकुशावलम्बन। कोई कुएँमें गिरा हो तो जैसे काश, कुशका आलम्बन लेकर ऊपर चढ़ते हैं, वैसे ही।

भ्रान्ति भ्रान्ति है, यह बात हमको जाग्रत्-स्वप्नमें तो मालूम पड़ सकती है; परन्तु सुषुप्ति दशामें नहीं मालूम पड़ती। मैं आपको साफ-साफ बात बताता हूँ कि निरोध दशामें पुरुष-ख्याति नहीं होती। ख्याति तो एक वृत्ति है जो अविद्याको मिटाती है; वह न समाधिसे मिटती है, न निरोधसे। समाधि योगको साधना है और निरोध योगका फल है। निरोध-कालमें पुरुषका स्वस्वरूपावस्थान होता है और उत्थान-कालमें वृत्ति-सारूप्य। इसी प्रकार वह निरोधसे उत्थानमें, उत्थानसे निरोधमें लगा रहता है, परन्तु

'जैसे मैं निरोध-कालमें निरोधावस्थाका द्रष्टा हूँ वैसे ही जाग्रत-कालमें मैं जाग्रतका द्रष्टा हूँ' यह बोध उसे निरोध-कालमें नहीं हो सकता, निरोध-संस्कारसे संस्कृत चित्तमें होगा। योगदर्शनका यह निश्चित मत है कि पुरुष-ख्यातिके बिना कैवल्य नहीं होता।

चेतनके साक्षात्कारमें न तो विषयोत्पन्न संवेदन है और न संविदैक्यजन्य संवेदन है। तब? वहाँ अज्ञान-निवृत्ति ही इष्ट है और कुछ इष्ट नहीं है।

अनुमान आदि जितने प्रमाण हैं (प्रत्यक्षके अतिरिक्त) वे परोक्ष ज्ञानको ही उत्पन्न करते हैं। भले उनका प्रत्यक्ष पहले पहल दूसरे कालमें, दूसरे देशमें (रसोई घरमें), दूसरे कालमें और दूसरी उपाधिमें (लकड़ीमें या कोयलेमें) हुआ। इसलिए अब जंगलमें जो धूम-दर्शनसे अग्निका अनुभव हुआ उससे परोक्ष अग्निका ज्ञान ही सम्पन्न हुआ, अपरोक्ष ज्ञान सम्पन्न नहीं हुआ। प्रत्यक्षताके बिना अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो सकता। परन्तु चेतन तो प्रत्यक्ष प्रमाणका भी विषय नहीं हो सकता, क्योंकि न तो चेतन घड़ीके समान अन्य जड़रूप पदार्थ है और न तीव्रसंवेदन रूप है। संविद्का प्रमाण-वृत्तिपर आरूढ़ होकर अन्य देशमें जाकर चेतनका अनुभव कर लेना भी शक्य नहीं है; क्योंकि चेतन जब 'चला' तभी अज्ञानको स्वीकार करके चला। अतः अज्ञानका निवर्तक जो प्रमाण होगा उस प्रमाणसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होगी।

हमारे विवरणाचार्य कहते हैं—

> **विषयोत्पन्नतः संविदैक्याद् अज्ञानहानतः।**
> **स्वतः सिद्धे अतः शब्दात् अपरोक्षं प्रजायते॥**

तो भाई अज्ञान मिटना चाहिए। अब लोग प्रश्नोत्तर करते हैं, बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हैं इस विषयमें कि अज्ञान कब पैदा हुआ? कब

तक रहता है अज्ञान ? कहाँ रहता है अज्ञान ? किसको है अज्ञान ? किसके बारेमें है अज्ञान ? इन शास्त्रार्थोंका क्या सुनना ?

देखो 'कब' माने होता है 'काल।' 'कहाँ' माने होता है 'देश।' 'किसके बारेमें' माने होता है विषय। 'किसको' माने होता है आश्रय। इसलिए हमारा प्रश्न मानो यह है कि अज्ञान किस कालमें होता है, किस देशमें होता है, किस विषयके बारेमें होता है, किस अभिमानीको होता है और स्वयं अज्ञान क्या है ?

जरा विचार करके देखो कि देश, काल, विषय और अभिमानी—ये सब अज्ञानपूर्वक होते हैं। या अज्ञानसे पहले होते हैं ? ये तो सब अज्ञानके बाद ही होते हैं। अर्थात् जब एक अनन्त अपरिच्छिन्न स्वयंप्रकाश अधिष्ठानको नहीं जानते हैं तब उसमें पूर्वापररूप काल होता है, दैर्घ्यविस्ताररूप देश होता है, विषय-विषयीरूप आश्रय-विषयकी कल्पना होती है और उसमें अज्ञान है—यह कल्पना होती है। दूसरे शब्दोंमें अनन्तका अज्ञान ही देश, काल, आश्रय, विषयके रूपमें प्रतीत होता है। अज्ञानमें रहकर ही अज्ञान है।

इस अज्ञानकी निवृत्तिके लिए चेतन-प्रकृतिक जो शब्द हैं उनकी आवश्यकता है। जैसे कोई खूब नींदमें सो रहा हो और किसीने उसे पुकारकर कहा—देवदत्त उठो ! और वह सोता हुआ व्यक्ति उठ बैठा। तो प्रश्न यह हुआ कि सोते हुए व्यक्तिने शब्द सुना कैसे ? शब्द सुनकर वह जगा या पहले वह जगा, फिर उसने शब्द सुना ? यदि जागता न होता तो शब्द सुनता कैसे ? और सुनता न होता तो जागता कैसे ? निद्राभंग और शब्द-श्रवणके बीच कुछ और है क्या ? इसका समाधान करते हैं कि शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है। इसको शब्द-शक्ति कहते हैं—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विदमत् सम्मोहहानतः।
निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः॥
(सुरेश्वरवार्त्तिक)

अब देखो, अज्ञानको निवृत्ति कैसे हो? यदि पहले अज्ञान था और फिर निवृत्त हो गया, तो कालकी कल्पना कहां छूटी? यदि बाहर ज्ञान था (ईश्वर रूप) और भीतर अज्ञान था (जीव-रूप), तो देशकी कल्पना कहाँ छूटी? यदि 'मैं अज्ञानी हूँ और मुझे ब्रह्मके विषयमें अज्ञान है' तो आश्रय-विषयकी कल्पना कहाँ छूटी? और यदि अज्ञानकी कोई वस्तु है—यह कल्पना है तो अज्ञानकी कल्पना तो कर ली। इसलिए पहले जाँच कर लो।

इसके बारेमें दो प्रकारसे हमारे वेदान्ती लोग प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि पहले सुनो, सुनकर मनन करो और फिर निदिध्यासन करो। तब निदिध्यासनके संस्कारसे सस्कृत जो वृत्ति है वह आत्मा और ब्रह्मकी एकताका प्रत्यक्ष करायेगी। यह एक प्रकार है।

दूसरे जो विवरणाचार्य हैं उनका कहना है कि पहले यज्ञादिके द्वारा अशुभ प्रवृत्तिका (पापका) विधूनन करो और फिर शम-दमादि साधनसम्पत्तिको धारण करके जो कर्मका प्रवृत्ति-प्रतिबन्ध है उसको रोक दो और वेदान्त-वाक्योंका श्रवण करो। यदि तुम्हारे मनमें कोई संशय, विपर्यय नहीं है तो श्रवणमात्रसे ही आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान हो जायेगा। यदि कुछ संशय, वियर्यप हैं तो संशयके नाशके लिए मनन और विपर्ययके नाशके लिए निदिध्यासन भी आवश्यक है, यह दूसरा प्रकार है।

आत्माका अपरोक्ष नहीं होता। वह तो पशु, पक्षी, मूर्ख मनुष्य और विद्वान् सभीको अपरोक्ष है ही। 'मैं हूँ' यह सभीको अनुभव है और 'मैं नहीं हूँ' यह किसीको कभी अनुभव नहीं हो

सकता। 'मैं नहीं हूँ' यह भ्रान्तिका स्वरूप भी नहीं है। मैं कर्मसे सम्बन्धित होनेके कारण पापी-पुण्यात्मा हूँ', भोगसे सम्बन्धित होनेके कारण सुखी-दुःखी हूँ, देहादिसे सम्बन्धित होनेके कारण मैं पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ हूँ, लोक-लोकान्तरसे सम्बन्धित होनेके कारण मैं आता-जाता संसारी जीव हूँ और अन्नमयादि कोषोंसे तादात्म्य-सम्बन्धी होनेके कारण मैं परिच्छिन्न हूँ,—इन सबका कारण अज्ञान है और ये सब स्वयं भ्रान्तियाँ हैं।

भ्रान्ति और अज्ञान, इन शब्दोंका भेद समझना भी आवश्यक है। अज्ञान कारण है और भ्रान्ति कार्य है। भ्रान्ति बुद्धिका एक विपर्यास है, माने वस्तुके अन्यथा ग्रहणका नाम भ्रान्ति है। बुद्धिका उल्टा होना भ्रान्ति है और जिस सीधेको न जाननेके कारण बुद्धि उल्टी हुई, उसको अज्ञान कहते हैं। आकाशके स्वरूपको न जानना अज्ञान है और उसे नीला समझना भ्रान्ति है। खुले बालोंवाली भगवाँ रंगकी साड़ी पहननेवाली आकृतिको स्त्री न जानना अज्ञान है और उसको महात्मा समझना भ्रान्ति है। पीतलको न जानना अज्ञान है और उसे सोना समझना भ्रान्ति है।

सुषुप्तिकालमें उल्टी बुद्धि नहीं रहती; बुद्धि ही सो जाती है; परन्तु अज्ञान रहता है। यदि कहो कि भ्रान्तिका पृथक्-पृथक् बीज रहता है, तो भ्रान्तिका बीज अविद्या रहती है सो तो ठीक है, परन्तु उसमें व्यक्ति और व्यष्टयनुभवकी पृथक्ता आवृत्त है, जैसे पृथिवीके नीचे अनेक बीज ढँके पड़े रहते हैं। समग्र सृष्टिमें जो बीज-सामान्य है, जहाँ भ्रान्तिवृत्ति उद्बुद्ध नहीं है, उस अनुद्बुद्ध भ्रान्तिमें जो ऐक्य है वह अविद्या है।

जाग्रत्में अपनेको जीव समझते हैं और सुषुप्तिमें नहीं समझते हैं; इसका अर्थ है कि भ्रान्ति सुषुप्तिमें नहीं रहती; परन्तु भ्रान्तिका कारण सुषुप्तिमें रहता है; क्योंकि (जाग्रत्में) अपरिच्छिन्नताका

साक्षात्कार न होनेसे परिच्छिन्नताकी जो भ्रान्ति है, वह मिटती नहीं है। जबतक मैंका अपरिच्छिन्नता-विषयक अज्ञान दूर नहीं होता तबतक अपनी परिच्छिन्नता-विषयक भ्रान्ति भी दूर नहीं होगी। इसलिए वेदान्त-प्रक्रिया आत्माको अपरिच्छिन्न ब्रह्म समझनेकी है।

अब ब्रह्मरूप जो विषय है वह जब तुम्हारी बुद्धिमें घुस आवेगा तब उसका साक्षात्कार होगा? या कि जब तुम्हारी बुद्धि ब्रह्म-रूप विषयमें घुस जायेगी तब उसका साक्षात्कार होगा? बचपनमें हमलोग ब्रह्मकी हँसी उड़ाते थे। हमलोग तीन-चार जने बैठ जाते थे और गप्प हाँकते थे। इतने लोगोंको वेदान्त समझानेका काम ही नहीं; उस समय तो हम समझते थे कि जिसके हृदयमें विवेक, वैराग्य होता है, शमादि-सम्पत्ति होती है, वह स्वयं महापुरुषके पास जाता है और अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करता है। उस समय वेदान्तके वोट बढ़ानेका तो ख्याल नहीं था। ब्रह्माकार-वृत्तिके विषयमें हमलोग कहते थे कि क्या वृत्तिकी थैली इतनी बड़ी है कि उसमें ब्रह्मको ठूँसा जा सके? वह तो बड़ी छोटी-सी चीज है। अथवा क्या वृत्ति कोई ऐसी कठोर नुकीली चीज है कि ठसाठस भरे ब्रह्मतत्त्वमें शूलकी तरह चुभ जायेगी? ऐसा भी नहीं है।

असल में जो वृत्तिका साक्षी है, वृत्तियोंके अभावका साक्षी है, वृत्तियोंकी शान्तिका साक्षी है, वृत्तिकी घटाकारता-पटाकारता (तदाकारता)का साक्षी है, जो दो वृत्तियोंकी सन्धिका साक्षी है, वह साक्षी जो आत्मा है, जो ज्ञानमात्र अखण्ड संविद् है, उसको देश, काल, वस्तु स्पर्श नहीं कर सकते।

कहो कि अखण्डके स्वभावसे अखण्डका ज्ञान हो जायेगा, तो ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि अखण्ड किसीका विरोधी नहीं

होता। वह तो अज्ञानका भी प्रकाशक है, अतः अखण्ड विषयक अज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्मके स्वभावसे नहीं हो सकती। तब ? जिस दृष्टिसे अज्ञान है उसी दृष्टिसे अज्ञान-निवर्तक चूरा उसमें पड़ना चाहिए।

अज्ञानहानसे ब्रह्म स्वतः सिद्ध है। इसलिए हम यह नहीं कहते कि वेदान्त ब्रह्मको शब्दके समान ही विषय बनाता है, परन्तु हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्म-विषयक अज्ञानके साथ वेदान्तजन्य ज्ञान-का निवर्त्य-निवर्तक सम्बन्ध है। आत्मा ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध है ही परन्तु वह ज्ञान कौन-सा है जो अज्ञानको निवृत्त करता है ? शब्दने ज्यों ही वृत्तिमें ब्रह्मकी अपरोक्षताका ज्ञान डाला कि 'अरे भाई, तू जो यह अपरोक्ष-साक्षी है वह केवल एक अन्तःकरण सामान्यका साक्षी है, वृत्तियोंकी सन्धिका भी साक्षी है, उनके प्राबल्य, अभाव और शान्तिका तू भी साक्षी है; तू ब्रह्म है और ये सब तेरे एक कल्पित अंशमें कल्पित-सरीखे ही हैं। तू तो साक्षात् ब्रह्म है' आत्माकी ब्रह्म-विषयक भ्रान्ति दूर हो जाती है। ऐसा कैसे ? तो कहा कि यह शब्दकी शक्ति है।

अपरिच्छिन्न वस्तुमें कोई रूप नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण-का विषय नहीं है; कोई लिङ्ग नहीं है, इसलिए उसमें अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंकी गम नहीं है—

रूपलिंगादिराहित्यात् नास्यमान्तरयोग्यता।

(ब्रह्मसूत्र १.१.३ की वे. व्या. मा. १८)

रूप लिंगादि न होनेसे ब्रह्ममें प्रमाणकी योग्यता नहीं है। भला, जो प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटीको प्रकाशित कर रहा है, वह किसी प्रमाणका विषय होगा ? बस, जैसे उसमें कल्पित अज्ञान है वैसे ही उसमें शब्दजन्य कल्पित अपरोक्षतासे कल्पित अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्म तो ज्यों-का-त्यों ब्रह्म ही रहता है।

वेदान्तवाक्य-प्रमाणसे जन्य प्रमा (यथार्थ ज्ञान) उत्पन्न होती है और वह अयथार्थ ज्ञानको निवृत्त कर देती हैं। उसमें मनन-निदिध्यासन अंग हैं तथा श्रवण अगो है—यह विवरणकारका मत है; और श्रवण-मनन अंग है तथा निदिध्यासन अंगो है—यह भामतीकारका मत है।

धर्मका फल या धर्म जनित फल ब्रह्मज्ञान नहीं है। वृत्तिको गाढ़ करनेका नाम भी ब्रह्मज्ञान नहीं है और वृत्तिसे असंग साक्षी हो जानेका नाम भी ब्रह्मज्ञान नहीं है। क्योंकि साक्षीकी ब्रह्म-रूपता (अपरिच्छिन्नता)के अज्ञानको मिटा करके परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिको दूर कर देना—माने अज्ञान और भ्रान्ति दोनोंको चोपट कर देना, यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

विवेकख्यातिसे अपनी असंगता-विषयक, साक्षिता-विषयक, जो अज्ञान है वह दूर होता है। परन्तु तत्त्वज्ञान दो सत्य पदार्थोंको सहन नहीं करता। दो सत्य पदार्थोंका भेदक क्या होगा ? देश या काल ? दोनोंका एक अधिष्ठान होना चाहिए और वह स्वयं-प्रकाश सत्ता होनी चाहिए। दो वस्तुएँ एकमें एकको मालूम पड़ती हैं। वह एक क्या है ? द्रष्टा-दृश्यका द्वैत किसमें किसको ज्ञात हो रहा है ? उसको जो स्वयं प्रकाश चेतन है, जिसमें सम्पूर्ण द्वैत प्रपच मिथ्या भासमान है। सांख्यदृष्टिसे जो विवेक-ख्याति है वह वेदान्त नहीं है। योगदृष्टिसे जो सत्त्वन्यताख्याति (पुरुषा-न्यताख्याति) है, वह भी वेदान्त नहीं है। न जैन सिद्धान्तोक्त आत्म-विचार वेदान्त है।

पहले सब सिद्धान्तोंको अलग-अलग जानो, फिर सबमें जो ऐक्य है उसको जानो और तब समन्वयको जानो कि कहाँ बैठकर उस ऐक्यका वर्णन कर रहे हैं।

यदि अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी तो फिर भ्रान्ति हो

जायेगी। यदि रज्जुका ज्ञान नहीं हुआ, तो सर्पभ्रान्तिके मिटने-पर मालाकी भ्रान्ति हो सकती है और मालाकी भ्रान्ति हटनेपर दण्ड या भूछिद्रकी भ्रान्ति हो सकती है। एक विकल्पके निषेध कर देनेसे दूसरे विकल्पकी पुनः संभावना है, परन्तु समस्त विकल्पों-के आधार रज्जुका अज्ञान नष्ट होनेपर फिर किसी मिथ्या विकल्पके लिए अवकाश नहीं है। वेदान्त मूल अज्ञानको नष्ट करता है।

वस्तुका प्रत्यक्ष होनेपर भी जो बौद्ध भ्रम होता है (वस्तुका अन्यथा प्रतीति रूप) उसका उदाहरण है रज्जु-सर्पका दृष्टान्त। और स्वप्न बौद्ध भ्रमका उदाहरण नहीं है; वह मानसिक विलास-का दृष्टान्त है—प्रपञ्चको मानसिक विलास समझानेके लिए।

आप अपनेको कभी संगी और कभी असंगी क्यों समझते हैं? कभी कर्ता और कभी अकर्त्ता क्यों समझते हैं? कभी सुखी और कभी दुःखी क्यों समझते हैं? कभी संसारी और कभी मुक्त क्यों समझते हैं? कभी परिच्छिन्न और कभी अपरिच्छिन्न क्यों समझते हैं? माने कभी आपके ऊपर एक भ्रम चढ़ बैठता है और कभी दूसरा, ऐसा क्यों? क्योंकि सभी प्रकारकी परिच्छिन्नताओंको काटनेवाला जो आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान है वह अभी उदय नहीं हुआ। किसी एक भ्रमका निषेध करनेसे भ्रममात्र निवृत्त नहीं होता।

प्रतीयमान सभी परिच्छेदोंके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वय चेतन वस्तु है उसे ब्रह्म बोलते हैं। इसको जाननेका फल यह है कि जो-जहाँ-जैसे है, वह-वहाँ-वैसे ही ठीक है। किसीसे न राग करनेकी जरूरत है और न द्वेष करने-की जरूरत है। परिवर्तनकी वासना ही मिट गयी। जैसा ब्रह्म दीख रहा है वैसा दीखता हुआ ही वह ब्रह्म है। नेतागिरीकी

वासना तत्त्वज्ञानीको स्पर्श नहीं करती। हमारे जो आदर्श महात्मागण हुए हैं—श्रीब्रह्मप्रकाशजी महाराज, श्रीतपोवनजी महाराज, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज, मोकलपुरके बाबा—ये सब मस्ताने लोग थे; न उनमें नेतागिरीका शोक था और न चेला बढ़ानेकी वासना।

वासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति कहाँ होती है? जहाँ अपनी परिच्छिन्नताका भ्रम टूटता है और अपनी परिच्छिन्नताके भ्रमके टूटनेके साथ ही सबकी परिच्छिन्नताका भ्रम भी टूट जाता है। श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराजने कहा—

> **अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।**
> **योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः॥** (३.३९)

दुनियादारीमें फँसे लोगोंके लिए यह अस्पर्श-योग है। तुम्हारा मन इसे नहीं छूता, तुम्हारी इन्द्रियाँ इसे नहीं छूतीं। यह कैसे अस्पर्श-योग है कि हम कपड़ा पहनते हैं, परन्तु धागेको नहीं छूते; भोजन करते हैं, परन्तु कणको नहीं छूते, बोलते हैं, परन्तु शब्दको नहीं छूते। यह अस्पर्शयोग योगियोंके लिए दुःस्पर्श्य है, क्योंकि वे तो देशमें मनकी धारणा करते हैं, कालमें ध्यान लगाते हैं और विषयमें समाधि लगाते हैं। वे तो डरते हैं कि इस वेदान्तको सुनकर वे उच्छृङ्खल हो जायेंगे।

परन्तु बादल तो बरसता है, चाहे मालीकी बगिया फूले या कुम्हारका घड़ा फूटे। आप लोग सब वेदान्ती बन जायें, ऐसी वासना तो है नहीं। आप लोगोंको यदि वेदान्त सुननेसे डर लगता हो कि हमारा कुछ छूट जायेगा अथवा हम उच्छृङ्खल हो जायेंगे तो अपनेको सँभालो; और यदि डर नहीं लगता तो जो हम सुनाते हैं उसका मजा लो।

●

(३.१४)

प्रमाण-प्रक्रिया-२

यदि विषय हमारी इन्द्रियोंमें आकर घुस जाय तो उसे जानना पड़ता है। और यदि इन्द्रियोंको किसी विषयके ज्ञानमें प्रवृत्त करें तो भी विषयका ज्ञान संविदैक्य-प्रक्रियासे होता है। परन्तु चेतनको अथवा आत्मा या ब्रह्मको जाननेका तरीका इनमें-से कोई नहीं होता। क्योंकि प्रमाण-प्रमेयका जो व्यवहार है वह दूसरा वस्तुके ज्ञानके लिए होता है, स्वके ज्ञानके लिए नहीं। इसीसे जब शास्त्रोंमें ब्रह्मका वर्णन आता है तो उसे 'अप्रमेयम्' कहते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यात्॥

(केन १.३)

वहाँ वाणी-मन-बुद्धिकी पहुँच नहीं है अर्थात् वहाँ प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणोंकी पहुँच नहीं है। यही नहीं; श्रुतिने यह भी कह दिया कि—

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन १.५)

यत् इति उपासते लोकः तद् इदम् ब्रह्म न भवति'—अर्थात् दुनियादार लोग 'यह' करके जिसकी उपासना करते हैं उसका नाम ब्रह्म नहीं है। उपास्यत्वेन जिसकी तुम उपासना करते हो भले वह उपास्य निर्गुण हो या सगुण वह ब्रह्म नहीं है। जो उपासना वृत्तिका विषय है वह ब्रह्म नहीं है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन १.६)

'जो मनका विषय नहीं होता, मन जिसका विषय है, उसीको तुम ब्रह्म जानो।' श्रीशङ्कराचार्यने यहाँ भाष्यमें कहा कि 'तदेव ब्रह्म त्वं आत्मानम् विद्धि।' अर्थात् वही ब्रह्म है, उस ब्रह्मको तुम अपनी आत्मा जानो। जिसकी तुम इदं-रूपसे उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।

अब हमसे तो तुम नाराज भी हो जाओ, वेदसे क्या लड़ाई करोगे?

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। (केन २.३)

'जिसके लिए ब्रह्म अमत है अर्थात् मतिका विषय नहीं है, मतिका कर्म नहीं है, उसने ब्रह्मको जान लिया और जिसने ब्रह्मको अपनी मतिके पेटमें घुसेड़कर बैठा लिया, उसने ब्रह्मको नहीं जाना।'

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। (केन २.३)

जब यहाँ तक बात कही गयी कि 'जिसने दावा किया कि मैंने ब्रह्मको जान लिया। उसने ब्रह्मको नहीं जाना और जा इसका दावा नहीं करते वे खुद ही ब्रह्म हैं' तो ब्रह्मको जाननेकी जो रीति है उसको जानना चाहिए।

कैसे जानें उसको? तो कहा—शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रसे ही उसको समझेंगे।

वेदने कहा—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। (कठ० १.२.१५)

सब वेद उसी ब्रह्म पदका निरूपण करते हैं! तो कोई तरीका होगा निरूपणका। इन्द्रियोंकी पकड़में न आवे, मनमें न आवे, बुद्धिमें न आवे, 'मैं ब्रह्मको जान गया' यह अनुभव भी किसीको न हो और फिर भी वेद उसका निरूपण करें, तो वर्णन करनेका कोई तरीका तो होना ही चाहिए। बिना प्रक्रियाके उसका कोई वर्णन कैसे करेगा?

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वेताश्व० ३.८)

'तं विदित्वा' = उसको जानकर। अर्थात् ब्रह्म जाना अवश्य जाता है। तो कोई-न-कोई प्रक्रिया अवश्य है उसको जाननेकी। 'तमेव विदित्वा एव मृत्युम् अत्येति' = उसको ही जानकर और केवल जाननेसे ही मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है। इससे ज्ञानके अतिरिक्त सब मार्गोंका स्पष्ट निषेध कर दिया। 'नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय'। (श्वेताश्व० ३.८) यह दूसरो श्रुति है कि दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है।

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डक० ३.२.९)

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः। यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते (गीता १३.१२)

इत्यादि श्रुतियाँ-स्मृतियाँ यही कहती हैं कि ब्रह्म जाना जाता है।

एक ओर तो कहते हैं कि ब्रह्म वाणी, मन, बुद्धिसे जाना नहीं जाता अर्थात् एक ओर ता ब्रह्मज्ञानमें प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणोंका निषेध करते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि ब्रह्म जाना जाता है। इसका अर्थ है कि ब्रह्मके विषयमें केवल शास्त्र ही प्रमाण हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्'।

गीतामें इस शास्त्रयोनित्वात् सूत्रको यों कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(गीता १५.१५)

ईश्वर कहाँ रहता है ? तो कहा—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'। सबके हृदयमें मैं सन्निविष्ट हूँ। पहले हृदय बना और फिर उसमें ईश्वरने प्रवेश किया—ऐसा नहीं। पहले घड़ा बना और फिर उसमें मिट्टीने प्रवेश किया—ऐसा सुना है आपने ? हृदयके निर्माणके पूर्व, हृदयके निर्माण हो जानेपर और हृदयके भंग हो जानेपर मैं सन्निविष्ट ही हूँ; क्योंकि उपादान तत्त्व हूँ। अतः 'हृदि सन्निविष्ट'से अपनेको चेतन बताया।

चेतन परिणामी नहीं होता, विवर्ती होता है। अन्यथा परिणामको जानेगा कौन ? परिणामका साक्षी परिणामी नहीं होता। यह कूटस्थ चिदात्मा ज्यों-का-त्यों रहकर साक्षी होता है। दूसरे, तुम्हारे हृदयमें एक चेतन है या दो ?

एक एव प्रत्यगात्मा भवति न द्वौ प्रत्यगात्मानौ भवतः।

अन्तरात्मा एक ही होता है, दो नहीं होता। दो होंगे तो उनमें भी एक बाहर और एक भीतर हो जायेगा। उनमें जो आन्तर होगा वही द्रष्टा होगा और जो बाहर होगा वह दृश्य होगा। द्रष्टा ही असली चेतन होगा, दृश्य नहीं। जो अन्तरात्मा द्रष्टा होगा वही प्रत्यगात्मा होगा। इसलिए प्रत्यगात्मा केवल एक होता है। हृदयमें दो चेतन नहीं होते।

हृदयमें सन्निविष्ट परमेश्वर (चेतन) क्या करता है ? तो कहा—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'। स्मृति-विकासरूप स्वप्न, ज्ञान-विकासरूप जाग्रत् और दोनोंके अपोहन अर्थात् निषेधरूप सुषुप्ति—ये तीनों जिससे होते हैं, वह है परमात्माका अहम्। जितने शरीर-धारी हैं उनके अहंके रूपमें मैं ही फुर रहा हूँ। हृदय नहीं था तब भी मैं था, जब हृदय नहीं रहेगा तब मैं रहूँगा और अब जब हृदय है तब ? तब तो मैं हूँ ही, मुझसे ही यह स्मृति, ज्ञान और अपोहन हो रहा है। 'मत्तः प्रत्यगभिन्नात् चैतन्यात्'। प्रत्यक् चैतन्या-

भिन्न जो मैं हूँ और मुझसे अभिन्न जो प्रत्यगात्मा है उसीसे प्रत्येक शरीरमें ये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति होती हैं। जो अहम्-अहम् बोल रहा है वही 'मत्तः' है। 'मत् इति मत्तः'—जो 'मत्'का अर्थ है वही 'मत्तः'का अर्थ है। पंचमी विभक्तिमें 'मत्'रूप बनता है।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५.१५)। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ।' इसमें जो 'एव' है उसका अन्वय सबके साथ होगा। पहले 'एव'को 'सर्वै'के साथ लगाओ—

सर्वैरेव वेदैः न तु खण्डितैः मन्त्राणात्मकैव वा ब्राह्मणात्मकैव वा आरण्यात्मकैव वा न वेद्यः किन्तु सर्वैरेव खण्डैर्वेद्यः।

वेदके एक भागसे नहीं, सारे वेदोंसे—मन्त्र-भागसे, ब्राह्मण-भागसे, आरण्यकोंसे या उपनिषदोंसे, मैं ही जाना जाता हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य परमात्मा है, सभी वेद परमात्मामें प्रमाण हे (वेदका कोई हिस्सा छोड़ना नहीं) 'शास्त्रयोनित्वात्'।

वेदैरेव अहं वेद्यः नान्यैः प्रमाणैः इत्यर्थः।

वेदके द्वारा ही मैं जाना जाता हूँ, वेदातिरिक्त अन्य प्रमाण परमात्मामें नहीं है।

'अहमेव वेद्यः'। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ, कोई अन्य नहीं। अर्थात् मेरे सिवाय अन्य कोई तात्पर्य नहीं है।

'वेद्य एव'। मुझे जानना ही जानना है बाबू! अगर बिना जाने मर गये तो दुर्गति होगी।

पदका अर्थ तो लोक-व्यवहारसे चल सकता है, परन्तु वाक्यके अर्थके लिए सत्सम्प्रदाय चाहिए। खास करके जहाँ अप्रमेय वस्तुका निरूपण करना हो। उपर्युक्त अर्थ जो मैंने किया वह सत्सम्प्रदायकी रीतिसे है। व्याकरणकी रीतिसे भी यह ठीक है—'सर्वं वाक्यं सावधारणम्'। वाक्यमें सर्वत्र अवधारण जोड़ा जाता

है; एक जगह यदि अवधारण हो तो वह एक ही जगह नहीं रहता।

तो यह हुआ कि सब वेदोंसे मैं ही जाना जाता हूँ और जानने योग्य हूँ। प्रश्न हुआ कि वेद कहाँसे आये? उन्हें ईश्वरकर्तृक मानते हो या स्वतःसिद्ध मानते हो? तो जैसे सारे सृष्टिको ईश्वर बनाता है पूर्वकल्पकी सृष्टिके समान, उसी प्रकार ईश्वर वेद भी बनाता है पूर्वकल्पकी आनुपूर्वीके समान। इसी अर्थमें भगवान्ने कहा—'वेदान्तकृत्' अर्थात् मैं ही वेदोंका बनानेवाला हूँ। यदि कहो कि वेद तो अपौरुषेय हैं, वे सदा रहते हैं, तो मैं ही उन वेदोंका सच्चा ज्ञाता हूँ—'वेदविद् एव चाहम्।' और मैं ही वह चीज हूँ जहाँ वेदके अन्तिम सिद्धान्तका साक्षात्कार होता है। 'शास्त्र-योनित्वात्।'

परमात्माका साक्षात्कार कैसे होता है?

वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्‌भिर्निराकृतम्।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्‌भिर्निवारितम्॥
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयं स्फुरणारूपत्वात् नाभास उपयुज्यते॥

ब्रह्मज्ञानकी रीति जाननी चाहिए। 'बोलिये तो तब जब बोलिबे-की रीति जानो। देखिये तो तब जब देखिबेकी रीति जानो।'

मैं एक सेठके घर गया। वहाँ एक हीरोंका जोहरी हीरा दिखाने आया था। साथमें मशीन भी लाया था जिससे हीरे देखे जाते हैं। मैंने भी उन हीरोंको मशीनसे देखा। मगर हमें उसमें कोई विशेषता दिखायी ही नहीं पड़ी। असलमें हमें हीरोंको देखने-की रीति ही नहीं आती थी। ऊपरसे हमारे मनमें बचपनसे ही यह ख्याल रहा है कि हीरा बिलकुल बेकार चीज है—न खानेके काम आवे न पहननेके। केवल अपना बड़प्पन दिखानेके काम

आता है। फिर इसमें असली-नकलीकी पहचान बड़ी मुश्किल। अमीर आदमी नकली हीरा पहन ले तो असली समझा जाय और गरीब आदमी यदि असली भी पहन ले तो नकली समझा जाय।

तो यदि मैं विशेषताकी ट्रेनिंग लेकर देखता तब तो मुझे कुछ विशेषता उन हीरोंमें दीखती! किसीके पास गया नहीं, सिर झुकाया नहीं, फिर कहाँसे हीरेकी पहचान लेंगे? ब्रह्मको पहचाननेकी भी रीति जाननी पड़ती है, अपनी अक्लसे नहीं आती।

घड़ेको देखना हो तो नेत्र भी चाहिए और प्रकाश भी। प्रकाशकी सहायतासे घटका अँधेरा मिटा और चक्षुर्वृत्ति घड़ेमें व्याप्त हुई। यह 'वृत्ति व्याप्ति' हुई: तदनन्तर ज्ञानका एक अभिमान उत्पन्न होना चाहिए कि 'मैंने घटको जान लिया।' इसको फलव्याप्ति' कहते हैं। विषयज्ञानमें वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्तिपूर्वक ही ज्ञान होता है। अब यदि दीपकको ही जानना हो तो वृत्तिव्याप्तिके लिए अलगसे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होगी।

जब हम घड़ेको जानते हैं तो उस समय क्या होता है कि जो ज्ञेयावच्छिन्न (घटावच्छिन्न) चैतन्य है वह ज्ञातासे अवच्छिन्न चैतन्यके साथ एक हो जाता है (संविदैक्य)। यह बात आप लोगोंने वेदान्तियोंसे सुनी तो होगी। परन्तु चिन्तन-मनन नहीं किया होगा, क्योंकि आप लोगोंको फुर्सत ही कहाँ है? मनन-चिन्तन भी तभी होता है जब दूसरे कामोंसे वैराग्य होता है। हम यह जान जाते हैं कि अमुक आदमी ईश्वरका भजन, चिन्तन, मनन करता है या नहीं। जो राग-द्वेषमें डूबा हुआ है और जो दूसरोंके हृदयमें राग-द्वेष डाल रहा है, वह ईश्वरका चिन्तन क्या करेगा? जो व्यक्ति राग-द्वेषसे रहित है और एकान्तमें बैठकर चिन्तन करता है उसको यह मालूम पड़ता है कि ज्ञानकी रीति क्या होती है।

आपका हृदय जबतक घटाकार नहीं होगा तबतक आप घड़ेको नहीं जान सकते हैं। असलमें, अन्तःकरणका घटाकार होना ही घटको जानना है। एक बार हमने स्वामी योगानन्दजी महाराजसे पूछा—'महाराज, ब्रह्मज्ञान क्या होता है?' बोले—'ब्रह्माकार-वृत्तिका नाम ब्रह्मज्ञान है।' फिर मैंने पूंछा कि ब्रह्माकार-वृत्ति क्या होती है, तो बोले—ब्रह्मज्ञान (ब्रह्माकार-वृत्ति है)। इसी प्रकार घटाकार-वृत्ति है।

अन्तःकरणमें घटाकर-वृत्ति हुए बिना क्या आप घटको जान सकते हैं? तो फिर जब आपका अन्तःकरण धनाकार है, स्त्री-आकार है, क्रोधाकार है, मोहाकार है, तो आपमें ब्रह्माकार तो आया ही नहीं। फिर आप ब्रह्मको कैसे जानेंगे?

बाहर घड़ा देख लिया, भीतर घड़ेका आकार आगया। अब भीतर घड़ा दीख रहा है। अन्तःकरण घटाकार हो रहा है। अब देखो, घड़ेकी शक्लमें जो चैतन्य है और देखनेवालेका जो चैतन्य है, वे दोनों एक हैं या दो? असलमें चेतन आप हैं एक।

अच्छा; मान लो कि आपके हृदयमें एक देवता दीख रहा है। बाहर नहीं, भीतर। बाहर तो उसका फोटो दीखता है। आपने देवताका वर्णन सुना है उससे देवताकार-वृत्ति हुई। अब उस देवताका चैतन्य और आपका चैतन्य दोनों दो हैं या एक? वे तो बिलकुल एक हैं।

और देखो! रस्सीमें तो साँपका नाम नहीं है। सर्पाकार-वृत्ति आपके अन्तःकरणमें है। अब आपके अन्तःकरणमें जो सर्पाकार-वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य है वह और आपका चैतन्य दो हैं या एक? वे बिलकुल एक हैं। सर्पमें जो चैतन्य है वह कल्पित है और वृत्तिमें जो चैतन्य है, वह द्रष्टा है। असलमें दोनों चैतन्य एक हैं।

जाग्रत् और स्वप्नमें कुछ चीजें बाहर मालूम पड़ती हैं और कुछ भीतर। परन्तु जो बाहर मालूम पड़ती है वह दिलमें ही बाहर मालूम पड़ती है, वह बाहर हो या न हो। इस सम्बन्धमें 'बौद्धोंमे दो मत हैं—एक कहता है कि बाहर है, तब बाहर मालूम पड़ता है। दूसरा कहता है कि बाहर नहीं है, फिर भी भीतर ही बाहर मालूम पड़ता है। 'वेदान्तियों'में भी 'त्रिसत्तावादी' मानते हैं कि बाहर भी है और भीतर भी है। 'दृष्टि-सृष्टिवादी' बाहर नहीं मानते हैं, भीतर ही मानते हैं।

यह जो बाहर-भीतर मालूम पड़ता है, जो आज-कल-परसों मालूम पड़ता है, जो घट-पट-मठ मालूम पड़ता है, वह तुम्हारी वृत्तिमें ही मालूम पड़ता है, वह तुम्हारी वृत्तिमें ही मालूम पड़ता है न! तो वृत्तिमें प्रतीयमान बाहर-भीतर (अर्थात् दिक् तत्त्व), पहले-पीछे माने काल तत्त्व और घट-पट अर्थात् द्रव्य तत्त्व—ये सब कहाँ मालूम पड़ते हैं? वृत्तिमें। इसलिए तदवच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर) जो बाहर मालूम पड़ता है वह बाहर नहीं है, प्रत्यक् चैतन्य अनन्त आत्मासे अभिन्न है।

अब इस बातको यहीं छोड़कर दर्शनकी प्रक्रिया समझाते हैं।

एक वस्तु होती है आभासभास्य और एक वस्तु है साक्षी-भास्य। जहाँ हम इन्द्रियोंसे किसी वस्तुको देख करके 'मैं इस वस्तुको जानता हूँ' ऐसा अभिमान बनाते हैं, उस वस्तुको आभास-भास्य बोलते हैं। दूसरे शब्दोंमें, छोटे अहंसे जो चीज दिखती है (जहाँ छोटा अहं भी होता है और इदं भी होता) वहाँ उस चीजको (इदंको) भास्य बोलते हैं और अहंको आभास बोलते हैं 'अयं घटः' (यह घट है) इसका नाम है वृत्तिव्याप्ति और 'अ[illegible] घटं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ) इसका नाम है फलव्याप्ति आँखने घड़ेको देख लिया (अयं घटः) यह हुई वृत्तिव्याप्ति औ[illegible]

उस ज्ञानको अपने साथ जोड़ लिया कि मैं घटको जानता हूँ (अहं घटं जानामि) इसका नाम हुआ फलव्याप्ति। वृत्तिव्याप्ति होनेके बाद फलव्याप्ति हो जाती है; दुनियामें यह नियम है कि देखकर उसके अभिमानी हो जाते हैं। जानना और जाननेका अभिमान, ये दो बातें हैं। मैं अणुशक्तिको जानता हूँ, मैं इतनी पोथियोंको जानता हूँ, इत्यादि।

अब ब्रह्मज्ञानमें क्या होता है? पहिले यह बताओ कि ब्रह्ममें अज्ञान है या नहीं? यदि तुम ब्रह्ममें अज्ञान स्वीकार नहीं करते तो असलमें गुरुके पास जानेकी कोई जरूरत नहीं है और उपदेश-की भी कोई जरूरत नहीं है। यदि तुम्हें स्वानुभव-सिद्ध अज्ञान है कि अनन्त ब्रह्म क्या है, अद्वय ब्रह्म क्या है, अपना आत्मा ब्रह्म है या कुछ और है, आत्मामें सचमुच बन्धन लग गया है कि यह भ्रम है; यदि तुम्हें यह अज्ञान सताता हो तो जाओ किसी जान-कारके पास! क्या बतायें आपको, ईश्वरने कुछ ऐसी औषधि खिला दी है सबको कि रोग होनेपर भी रोगका पता नहीं चलता।

अज्ञानकी प्रतीति हो रही है तो उसको मिटानेका उपाय भी होगा। क्योंकि अज्ञानकी प्रतीति हो रही है इसलिए तुम अज्ञानी नहीं हो, अज्ञानीपनेकी कल्पना हो रही है। इस कल्पनाको मिटानेके लिए एक दूसरी कल्पना चाहिए। वह कल्पना कहाँसे आवेगी? वह कोई मिट्टी, पानी, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दसे नहीं आवेगी, वह वाक्य-प्रमाणसे आवेगी। ब्रह्ममें शब्द प्रमाण नहीं होता, वाक्य प्रमाण होता है।

एक दिन हमारे गुरुजीने हमसे कहा—'अरे सन्तनु गिलसवा!'

मैंने कहा—'हाँ गुरुजी, क्या करूँ? गिलासको माँजूं कि धोऊँ, कि गिलासमें पानी लाऊँ, क्या करूँ? तो कोई वाक्य होना

चाहिए, तब अर्थका बोध होगा। हम लोग केवल शब्द प्रमाण-वादी नहीं हैं, वाक्य प्रमाणवादी हैं। तत्, त्वम्, असि शब्द हैं। इनका अलग-अलग अर्थ है। परन्तु आत्माकी ब्रह्मता किसी एक शब्दसे सूचित नहीं होती। परन्तु 'तत्त्वमसि' इन शब्दोंसे बना वाक्य है और वह यह सूचित करता है कि जो तुम हो वही अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

यदि ब्रह्मको नहीं जानते तो ब्रह्मकी वृत्ति-व्याप्ति होनी चाहिए जैसे तुम्हारे अन्तःकरणने घटको देख लिया ऐसे ही एक झलक ब्रह्मकी वृत्तिमें आ जाय! कैसे? प्रत्यक्षसे या अनुमानसे या शब्दसे नहीं। इसके लिए वाक्य चाहिए। कौन-सा वाक्य? तो कहा—'शास्त्रयोनित्वात्।'

शास्त्रवाक्य भी दो प्रकारके हैं। एक निषेधवाक्य और एक विधिवाक्य। नेति-नेति = यह नहीं, यह नहीं। यह निषेध वचन है। 'इति' पदका क्या अर्थ है? सुनोगे तो भड़क जाओगे! जो कभी भी इदं-पदके रूपमें अनुभव किया जा सकता है उसका नाम है— इति। धर्म, अधर्म, कार्य, कारण, उपासना, अपासना, जीव, ईश्वर, जगत्, भेदमात्र सब 'इति' हैं। सम्पूर्ण शास्त्रों और शास्त्रवाक्योंकी संगति इसी कारण वेध है क्योंकि वे या तो इति-पदकी व्याख्या करते हैं या इतिके निषेधकी। जो 'इदम्' है सो ब्रह्म नहीं है।

अच्छा लो, 'इदम्' छोड़ दिया। अब 'अहम्'को छोड़ें या नहीं? 'अहम्'में भी जितना छोड़ा जा सके, उतना छोड़ दो। जो बच जाय उसमें भी जितना छोटापन है उसे छोड़ दो—जैसे कि यह धारणा कि वह अन्तरदेशमें रहता है (देश-परिच्छिन्नता); अथवा यह धारणा कि वह विश्व, तैजस प्राज्ञके रूपमें रहता है (काल-

परिच्छिन्नता)। जडांशके सहित जो 'अहम्' है उसमें-से अन्त-र्बहिर्देश, जाग्रत् आदिकाल, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूप-काल, इन सबको निकाल दो। केवल चेतन रहने दो—यही 'अहम्' पदका मुख्यार्थ है, कूटस्थ-साक्षी। परन्तु अभी ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।

अब गुरुजीने कहा, शास्त्रने कहा—'तत्त्वमसि' (यही कूटस्थ साक्षी जो 'अहम्' पदका मुख्यार्थ है, अपरिच्छिन्न ब्रह्म है जो सम्पूर्ण देश-काल-द्रव्यका अधिष्ठान है) और तुम्हारी वृत्ति इसके अर्थके आकारमें ढल जाय—'अहं ब्रह्मास्मि।' सम्पूर्ण इदमंशको छोड़कर जो 'अहम्' है, वह ब्रह्म है—यह है ब्रह्मज्ञान।

ब्रह्मज्ञानमें केवल वृत्ति-व्याप्ति होती है, फल-व्याप्ति नहीं होती। माने ब्रह्मज्ञानका यह अभिमान उदय नहीं होता कि 'मैंने ब्रह्मको जान लिया' क्योंकि यहाँ प्रमाताका मुख्यार्थ ही ब्रह्म है; उसमें प्रमेयत्वकी कल्पना ही अनर्थ है। प्रमाता स्वयंसे अज्ञात कब था? प्रमाताकी ब्रह्मरूपता अज्ञात है, यह भ्रम था; सो वाक्य प्रमाणजन्य अखण्डार्थ-धीके द्वारा वह भ्रम निवृत्त हो गया। अज्ञान निवृत्त होनेपर 'स्वयंप्रकाश ब्रह्म मैं अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों प्रतिष्ठित हूँ' इस ज्ञानकी स्वतः स्फूर्ति हो जाती है।

'तत्त्वमसि' अर्थवाला महावाक्य आपने किस शास्त्रसे सुना, किस भाषामें सुना, किस आचार्यसे सुना, हमें इससे कोई मतलब नहीं है। क्योंकि वह तो वेदकी ही बात हुई।

अब ब्रह्मज्ञानकी दूसरी प्रक्रिया विधिमुखसे सुनाते हैं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् ।'

सम्पूर्ण प्रपञ्चका जो अधिष्ठान चेतन है इस अन्तःकरणका जो अधिष्ठान है वह एक है जो अन्तःकरणका साक्षी चेतन वही सम्पूर्ण प्रपञ्चका साक्षी चेतन है और जो अन्तःकरणका अधिष्ठान चेतन है वही सम्पूर्ण प्रपञ्चका अधिष्ठान चेतन है। अल्प-उपाधि अन्तःकरण और विस्तृत उपाधि (कारण-उपाधि) मायासे उपहितके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता। एक ही महाकाश अल्प-उपाधि घटके कारण घटाकाश कहलाता है और सापेक्षतया महान् मठ-उपाधिके कारण मठाकाश कहलाता है और स्वयं भी अल्प-उपाधियोंकी अपेक्षा ही महाकाश कहलाता है अन्यथा आकाश स्वरूपतः सर्वत्र भेदरहित और एक है।

तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थका विवेक करके महावाक्य द्वारा वाच्यार्थमें अलगाव (पृथक्ता) और लक्ष्यार्थमें एकता ज्ञापित होती है। यदि दुनियामें कहीं कोई जानता है तो इसीको अद्वैत-ब्रह्मकी अनुभूति बोलते हैं। ब्रह्मातिरिक्त कुछ और नहीं है—न जीव, न जगत्, न ईश्वर। प्रतीयमान भेद ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। इसको किसी भी भाषामें, किसी भी आचार्यके द्वारा, किसी भी देशका वासी, किसी भी कालमें यदि प्राप्त कर लेता है तो वह वैदिक संविधानसे ही है।

प्रश्न था, ब्रह्मज्ञान कैसे ? उत्तर हुआ शास्त्रसे। 'शास्त्र-योनित्वात्'।

•

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

पुस्तक नाम	मूल्य
वेदान्त	
मुण्डक सुधा	200.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	45.00
केनोपनिषद्	70.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	120.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	120.00

दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	80.00
वेदान्त बोध	110.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	40.00
आनन्दानुभव	35.00
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	80.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल

मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055, मो. : 09619858361

● शाखा कार्यालय ●

श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर

मोतीझील, वृन्दावन-281121

फोन : (0565) 2913043, 2540487, मो. : 09837219460

ब्रह्मसूत्र

(शारीरक भाष्य)

प्रवचन • 2

ब्रह्मसूत्र (शारीरक भाष्य) प्रवचन भाग-2 में केवल जिज्ञासाधिकरण सूत्र-1 - 'अथतो ब्रह्म जिज्ञासा' जन्माद्यधिकरण सूत्र-2 'जन्माद्यस्य यतः' शास्त्रयोनित्वाधिकरण सूत्र-3 'शास्त्र यो नित्वात्' मात्र के प्रवचन प्रस्तुत किये जा रहे हैं। आशा है विज्ञ पाठकजन इससे लाभ उठायेंगे।